

BAPS (N) 120

राजनीति विज्ञान की बुनियादी
अवधारणाएं

Fundamental Concepts of Political Science

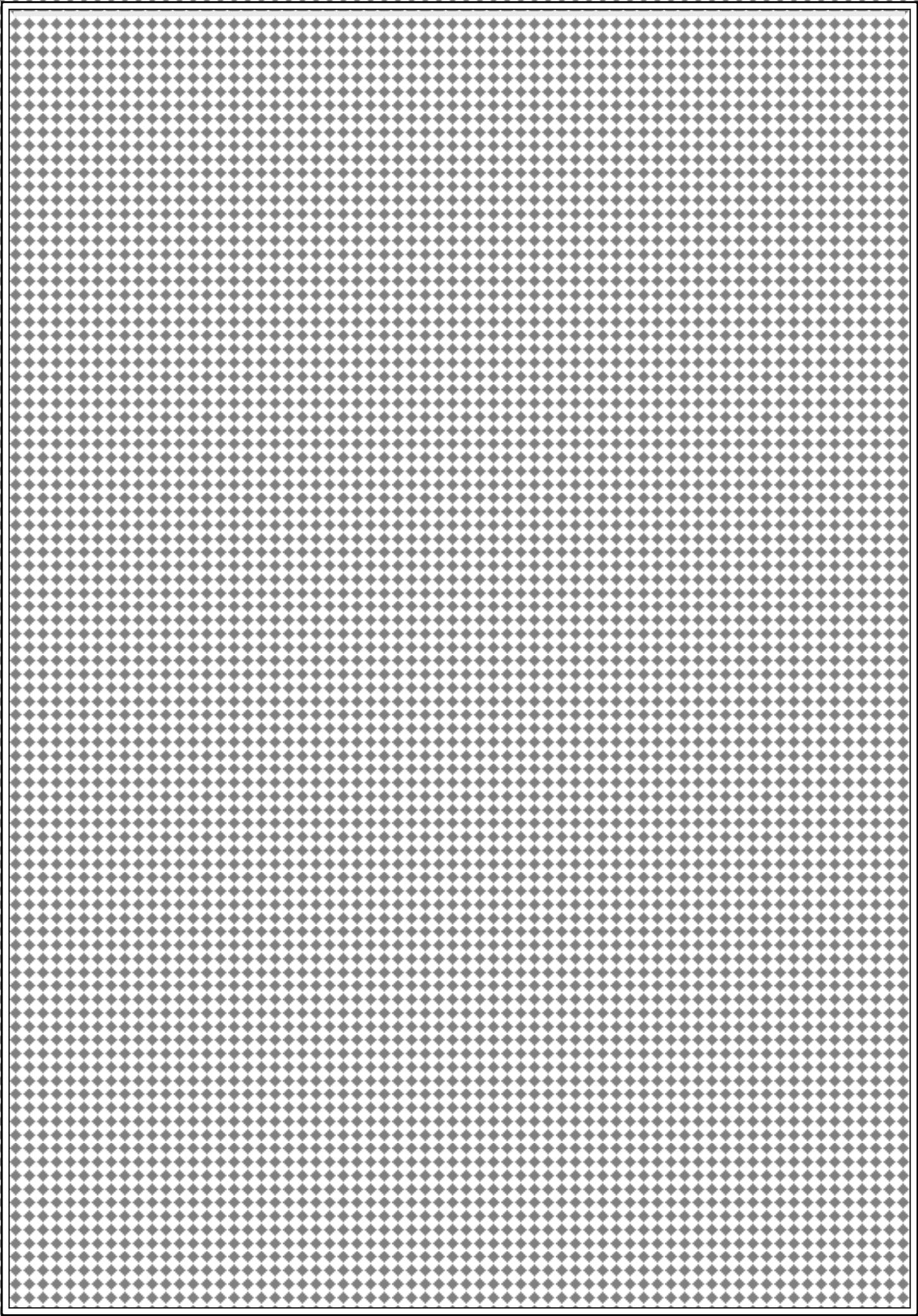


राजनीति विज्ञान विभाग
समाज विज्ञान विद्याशाखा
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी



उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
तीनपानी बाईपास मार्ग
ट्रांसपोर्ट नगर के पीछे, हल्द्वानी 263139
नैनीताल, उत्तराखण्ड

Email: info@uou.ac.in; Website: <http://uou.ac.in>



पाठ्यक्रम समिति

प्रो. गिरिजा प्रसाद पाण्डे निदेशक – समाज विज्ञान विद्या शाखा, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी नैनीताल	प्रो० एम०एम० सेमवाल राजनीति विज्ञान विभाग केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गढ़वाल
प्रो० दुर्गाकान्त चौधरी राजनीति विज्ञान विभाग श्रीदेव सुमन विश्वविद्यालय, ऋषिकेश परिसर, ऋषिकेश	प्रो० सतीश कुमार राजनीति विज्ञान विभाग इन्दिरा गाँधी मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
डॉ० सूर्य भान सिंह (विशेष आमंत्रित सदस्य) एसोसिएट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय	डॉ० घनश्याम जोशी असिस्टेंट प्रोफेसर, लोक प्रशासन, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल
डॉ० लता जोशी असिस्टेंट प्रोफेसर (एसी) राजनीति विज्ञान उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल	आरूशी असिस्टेंट प्रोफेसर (एसी) राजनीति विज्ञान उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल

पाठ्यक्रम संयोजन एवं सम्पादन

डॉ० सूर्य भान सिंह एसोसिएट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान इलाहाबाद विश्वविद्यालय	डॉ० लता जोशी असिस्टेंट प्रोफेसर (एसी) राजनीति विज्ञान उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल
--	--

इकाई लेखक इकाई संख्या इकाई लेखक इकाई संख्या

डॉ० पुष्पेश पाण्डे, असिस्टेंट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान, राजकीय महाविद्यालय रानीखेत	1-3
डॉ० मनीष मिश्रा, रीडर, राजनीति विज्ञान, राजकीय महाविद्यालय गोपेश्वर	
अनुराग रत्न, रीडर राजनीति विज्ञान विभाग, जी. पी. जी. कॉलेज, सुल्तानपुर	4-5
डॉ० संतोष कुमार सिंह, राजनीति विज्ञान, चोरी बेलहा महाविद्यालय, तरवा आजमगढ़	6
आरूशी, असिस्टेंट प्रोफेसर (एसी) राजनीति विज्ञान, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल.	7,8,12
डॉ० लता जोशी, असिस्टेंट प्रोफेसर (एसी) राजनीति विज्ञान, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल.	9-11
डॉ० सूर्य भान सिंह एवं डॉ० लता जोशी, एसोसिएट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय	14

आई.एस.बी.एन. ----- ISBN :

कापीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

प्रकाशन वर्ष -2012

Published by : उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल 263139

Printed at :-----

संस्करण : 2023, सीमित वितरण हेतु पूर्व प्रकाशन की प्रति।

सर्वाधिकार सुरक्षित | इस प्रकाशन का कोई भी अंश उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्रफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है

मुद्रित प्रतियां

अनुक्रम

राजनीति विज्ञान की बुनियादी अवधारणाएँ

बी.ए.पी.एस. (एन) 01

इकाई संख्या	इकाई का नाम	पृष्ठसंख्या
इकाई 1	राजनीति विज्ञान का परिचय	1-37
इकाई 2	राजनीति विज्ञान, राजनीतिक सिद्धांत , राजनीतिक दर्शन	38-51
इकाई 3	राजनीति विज्ञान के अन्य समाज विज्ञानों से सम्बन्ध – दर्शनशास्त्र ,समाजशास्त्र, इतिहास , मनोविज्ञान	52-70
इकाई 4	राज्य का अर्थ प्रकृति एवं तत्व	71-81
इकाई 5	राज्य की उत्पत्ति का सिद्धांत – दैवीय, सामाजिक समझौता, विकासवादी	82-100
इकाई 6	संप्रभुता	101-118
इकाई 7	स्वतंत्रता	119-130
इकाई 8	समानता	131-143
इकाई 9	अधिकार	144-155
इकाई 10	शक्ति, सत्ता और वैधता	156-170
इकाई 11	कानून	171-182
इकाई 12	न्याय	183-199
इकाई 13	लोकतंत्र का अर्थ, परिभाषा एवं औचित्य	200-211
इकाई 14	लोकतंत्र की अवधारणा और अभिजन का सिद्धांत	212-227

इकाई 1- राजनीति का परिचय

इकाई की संरचना

- 1.0 प्रस्तावना
- 1.1 उद्देश्य
- 1.2 राजनीति क्या है?
- 1.3 राजनीति विज्ञान की परिभाषा, क्षेत्र और प्रकृति
- 1.4 राजनीति विज्ञान की प्रकृति- विज्ञान अथवा कला
- 1.5 राजनीति विज्ञान के अध्ययन की उपयोगिता
- 1.6 परम्परावादी राजनीति विज्ञान की विशेषताएँ
- 1.7 आधुनिक राजनीति विज्ञान की विशेषताएँ
- 1.8 परम्परागत और आधुनिक राजनीति विज्ञान में अन्तर
- 1.9 सारांश
- 1.10 शब्दावली
- 1.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 1.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची
- 1.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 1.14 निबन्धात्मक प्रश्न

1.0 प्रस्तावना

इकसवीं सदी, वैश्वीकरण, उदारीकरण, निजीकरण, तकनीकीकरण, संचार क्रान्ति जैसे तमगों से सुशोभित की जा रही है। राजनीति विज्ञान जो ईसा पूर्व चौथी सदी में पैदा हुआ निरन्तर गतिशील रहकर आज की इकसवीं शदी में भी बना है। इस लम्बे सफर में राजनीति विज्ञान का स्वरूप, अध्ययन क्षेत्र, अध्ययन के उपकरण, उपागम, सिद्धान्त समयानुसार अनुकूलन करते हुए परिवर्तित व परिवर्धित होते रहे, जो अनुकूलन नहीं कर पाये मृत हो गये। राजनीति विज्ञान चूँकि मानवीय-सामाजिक विज्ञान है, अतः गतिशीलता व परिवर्तन उसकी प्रकृति के अंग हैं।

इस पुस्तक की पहली इकाई में हमें राजनीति क्या है? राजनीति विज्ञान के उद्भव, अर्थ, प्रकृति और क्षेत्र का अध्ययन करेंगे .

1.1 उद्देश्यः

इस इकाई का उद्देश्य राजनीति क्या है? राजनीति विज्ञान की परम्परागत और आधुनिक परिदृश्य में व्याख्या करना है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- 1 राजनीति मूलतः क्या है ? समझ सकेंगे।
- 2 राजनीति विज्ञान की परम्परागत और आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अर्थ, प्रकृति एवं क्षेत्र को समझ सकेंगे।
- 3 परम्परागत और आधुनिक राजनीति विज्ञान की विशेषताओं का विवरण दे सकेंगे।
- 4 परम्परागत और आधुनिक राजनीति विज्ञान के खास पहलुओं को पहचान कर, दोनों के मध्य अन्तर कर सकेंगे और
- 5 राजनीति विज्ञान के महत्व का जायजा ले सकेंगे

1.2 राजनीति: एक परिचय

राजनीति संघर्षों या विवादों का शांतिपूर्ण समाधान है। राजनीति हमेशा बहस, चर्चा-परिचर्चा, मतदान, सहमति-असहमति से संबद्ध रही है। राजनीति में स्पष्ट रूप से हिंसा का अभाव होता है। यदि हिंसा के साथ राजनीति हो रही हो तो उसे सभ्यतापूर्ण आचरण नहीं माना जाता। राजनीति ऐसे विषयों से निकट है जो विवादास्पद होते हैं या जिस पर व्यक्ति अथवा समूहों के विभिन्न मत या हित जुड़े होते हैं। इन हितों अथवा मतों का अन्तर विवाद को जन्म देता है। विवादों को शांतिपूर्ण एवं हिंसारहित तरीकों से

सुलझाना राजनीति का मूलभूत लक्षण है। कुल मिलाकर, राजनीति दुष्ट 'मानवीय प्रवृत्तियों' पर रोक लगाने की एक सभ्य प्रक्रिया है जो अनिवार्य एवं वांछनीय है। राजनीति सार्वजनिक विषयों से संबंधित गतिविधि है। निजी मामलों को तभी राजनीतिक माना जाता है जब वे नियम या कानून के परिक्षेत्र में लाये जाएं। राजनीति सभी समाजों एवं सभी कालों में सम्पन्न होने वाली गतिविधि है। संभव है कि भिन्न-भिन्न समाजों एवं कालखण्डों में राजनीति के प्रति आम लोगों की रूचि में पर्याप्त अंतर हो सकता है तथापि कुछ मात्रा में यह सभी समाज एवं काल में सम्पन्न होती रहती है। इस प्रकार राजनीति एक अनिवार्य गतिविधि है जिसके बिना कोई समाज अस्तित्व में नहीं बना रह सकता। राजनीति किसी समाज द्वारा किए जाने वाले सामूहिक निर्णय की ओर भी संकेत करती है। कोई भी समाज हर समय कुछ विषयों पर निर्णय करने की प्रक्रिया से गुजर रहा होता है। राजनीति वृहद एवं व्यापक रूप में, सामूहिक कल्याण एवं प्रगति का सामूहिक प्रयास है। यद्यपि यह संभव है कि सर्वाधिकारवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं में कुछ व्यक्ति या व्यक्ति समूह पूरे समाज की ओर से सही निर्णय करने का दावा करें। वर्तमान में राजनीति को एक गतिविधि, कार्यकलाप अथवा प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा रहा है, जो राज्य, शासन, इसे चलाने वाले तथा राज्य, शासन के निर्णय निर्माण से प्रभावित होने वाली जनता से जुड़ी हुई है। राज्य एक मानवीय संस्था है, जो मानव के अतिरिक्त अन्य प्राणी जगत में नहीं पायी जाती। अतः राजनीति जो प्रायः राज्य की गतिविधियों से संबंधित है, एक शुद्ध रूप से मानवीय गतिविधि है।

राजनीति में हम ऐसी गतिविधियों, प्रक्रियाओं को सम्मिलित करते हैं जो निर्णय-निर्माण तथा नियम क्रियान्वयन से संबंधित है। हम कह सकते हैं कि हर मानवीय गतिविधि राजनीतिक नहीं होती। वह तभी राजनीति के परिक्षेत्र में आती है जब किसी विषय पर कानून बनाने तथा कानून लागू करने का प्रश्न उठ खड़ा हो। कानून निर्माण सार्वजनिक मानवीय गतिविधि है जो समाज के विभिन्न समूहों के हितों में सामंजस्य का प्रयास करती है। यह प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। इस कारण राजनीति, समाज में विभिन्न समूहों के हितों में सामंजस्य की प्रक्रिया भी है। अमेरिकी सिद्धांत शास्त्री डेविड ईस्टन ने राजनीति को मूल्यों का अधिकारिक आवंटन कहा है। अर्थात् राजनीति समाज में यह तय करती है कि व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह को उनका अधिकार कानूनी रूप में मिलना चाहिए। राजनीति गतिविधि के रूप में देखने पर यह राजनीतिक व्यक्तित्व की गतिविधि से भी संबद्ध हो जाती है। हमारे जनप्रतिनिधि नीति निर्माता जो कुछ करते हैं या कहते हैं, राजनीतिक माना जाता है। राजनीतिज्ञ का

व्यवसाय राजनीति होता है जिस कारण राजनेताओं की अधिकांश गतिविधि राजनीति के क्षेत्र में आ जाती है।

राजनीति को सत्ता से जोड़ने की प्रवृत्ति प्रबल रही है। सत्ता शक्ति का वैध एवं सर्वस्वीकार्य रूप होती है। प्रायः शासन एवं सत्ता को पर्याय के रूप में प्रयोग कर लिया जाता है। मानव में शक्ति की लालसा सदैव बनी रहती है। ब्रिटिश राजनीति दार्शनिक थॉमस हॉब्स (1588-1079) ने शक्ति प्राप्ति को मानव स्वभाव का मुख्य गुण माना है। मानव शक्ति प्राप्त कर सुरक्षित रह सकता है और अपने सुख में वृद्धि करता है। हॉब्स के अनुसार मानव की शक्ति की लालसा का समापन उसके जीवन के साथ ही होता है। शक्ति को प्रायः कुछ विद्वानों ने राजनीति का केन्द्रीय तत्व माना है। केटलिन ने राजनीति को शक्ति का विज्ञान कह कर संबोधित किया है। शक्ति राज्य की एक आधारभूत आवश्यकता है। राज्य अन्य समुदायों से इस बात पर भिन्नता रखता है कि उसके पास वैध दाण्डिक शक्ति है। यह शक्ति कानून के क्रियान्वयन के लिए आवश्यक होती है। शक्ति के अभाव में कानून, नैतिक नियम या उपदेश मात्र बने रह सकते हैं। राज्य की दण्ड शक्ति अथवा सत्ता का प्रयोग सदैव जनता के हित में ही होता हो, यह आवश्यक नहीं। सत्ता संचालित करने वाले प्रायः इसे अपनी निजी आवश्यकताओं एवं हितों के लिए प्रयोग करने लगते हैं। इस प्रकार के शासनतंत्र को जनता क्रांति के माध्यम से उखाड़ फेंकती है। वर्तमान लोकतांत्रिक शासनों में सत्ता पर किसी व्यक्ति या समूह का पुश्तैनी अधिकार नहीं हो सकता है। सभी लोग सामूहिक रूप से सत्ता में भागीदारी करते हैं। इस प्रकार की भागीदारी मतदान के माध्यम से निश्चित समय के लिए जनप्रतिनिधि चुन कर होती है। इस प्रकार राजनीति, सत्ता या राज्य संचालन को प्राप्त करने की प्रक्रिया से भी जुड़ी हुई है। कुल मिलाकर, वर्तमान राजनीति 'सत्ता में भागीदारी' करने से संबंधित है।

राजनीति को प्रायः शासन की कला से संबंधित भी मान लिया जाता है। भारतीय विचारक कौटिल्य की पुस्तक 'अर्थशास्त्र' तथा इटली के निकोलो मैकियावेली (1469-1527) की पुस्तक 'द प्रिंस' का प्रतिपाद्य विषय शासक एवं शासन की कला है। शासन की आवश्यकता समाज में विभिन्न व्यक्ति एवं समूहों के हितों को शांतिपूर्ण ढंग से सुरक्षित रखने के लिए होती है। किन्तु समाज में कुछ लोगों की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा एवं कुछ समूहों के प्रभुत्व के साथ शासन संचालन करना सरल कार्य नहीं होता। अतः शासन करना एक 'कला' बन जाता है और जो इस कला में पारंगत हो जाते हैं, श्रेष्ठ शासक कहलाते हैं। बुरे शासक षडयंत्रों अथवा क्रांति द्वारा हटा दिये जाते हैं। अच्छे शासन एवं शासकों

की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि समाज में कानून एवं व्यवस्था के साथ सामूहिक कल्याण निश्चित हो सके। इस कारण शासक एवं शासन सार्वजनिक विकाय होने के कारण स्वतः राजनीति के केन्द्रीय बिन्दु हैं।

राजनीति एक मूल्यबद्ध धारणा है। राजनीति को हम चाहे सर्वोच्च कार्यकलाप माने जैसा कि प्राचीन एथेंसवासी मानते थे या हम जनसाधारण में प्रचलित इस मान्यता पर विश्वास करें कि राजनीति 'दुष्टों का अंतिम आश्रय स्थल' है। जिस प्रकार का विरोधाभास हमारे मन में पैदा होता है उसी प्रकार राजनीति को 'कैसा होना चाहिए' और 'यह कैसी है' को लेकर भी मतान्तर पाये जाते हैं। राजनीति ऐसी सार्वजनिक कल्याण की चर्चा-परिचर्चा से भी संबद्ध है जो एक ऐसे समाज के निर्माण की कल्पना करती है जो शांतिपूर्ण हो और जनता हर प्रकार से सुखी हो, उनमें किसी प्रकार का विवाद ना हो। क्या ऐसा समाज बना पाना संभव है? ऐसा समाज कैसे प्राप्त किया जा सकेगा? इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास भी राजनीति करती है। प्लेटो की पुस्तक 'रिपब्लिक' ऐसे राजनीतिक समाज का कल्पना चित्र खींचती है जो स्वयं में एक सर्वगुणसम्पन्न समाज होगा। महात्मा गाँधी की कल्पना 'रामराज्य' की है जहां परस्पर विरोधी हितों में भी प्रेमपूर्ण सामंजस्य होगा। प्लेटो या गांधी द्वारा कल्पित समाज एक मूल्य है, जिसमें ऐसे समाज की इच्छा की जाती है जो वर्तमान में नहीं है। किन्तु यथार्थवादी मानते हैं कि ऐसा समाज एक कल्पना मात्र है क्योंकि मानवीय स्वभाव अस्थिर, स्वार्थी एवं दुष्टता से भरा है। अतः ऐसा मानने वाले विचारक एक मजबूत शासन एवं योग्य निरंकुश शासक की आवश्यकता पर बल देते हैं। हम अपने व्यवहारिक अनुभवों से पाते हैं कि इन दोनों नजरियों के बीच 'राजनीति क्या है' की बहस स्थित है। इतिहास और वर्तमान में इस प्रकार की छोटी-बड़ी चर्चाएं राजनीति का एक मुख्य भाग हैं। अतः राजनीति सैद्धांतिक एवं व्यवहारिक तौर पर तब तक जारी रहेगी, जब तक एक सर्वगुण सम्पन्न समाज की स्थापना नहीं हो जाती है। इस प्रकार राजनीति एक शाश्वत् गतिविधि है जिसका लक्ष्य निरंतर आगे की ओर बढ़ते हुए उच्चतर समाज की रचना करना है।

राजनीति एक विषय या अनुशासन के रूप में ज्ञान की एक शाखा है। राजनीति अध्ययन का एक विषय है जो राज्य, संविधान, शासन और सरकार से केन्द्रीय रूप से संबंधित है। राज्य की उत्पत्ति, राज्य के कार्य तथा राज्य के व्यक्ति के साथ संबंध आदि विषय के रूप में राजनीति से प्राचीन समय से ही जुड़े हुए हैं। परम्परागत राजनीति अध्ययन की सीमाएं राज्य, संविधान, सरकार तक है। वर्तमान में यह राजनीतिक व्यक्तित्व की गतिविधि एवं कार्यकलाप के अध्ययन 'मतदान व्यवहार' तक विस्तृत हो

चुकी है। राजनीति, विषय के रूप में व्यवहारिक राजनीति तथा सैद्धांतिक राजनीति का अध्ययन है। प्राचीन यूनानी राजनीति विज्ञानी अरस्तू ने अध्ययन के रूप में राजनीति को 'सर्वोच्च विज्ञान' कह कर संबोधित किया था। अरस्तू की रचना 'पॉलिटिक्स' तत्कालीन नगर राज्यों में सार्वजनिक मानवीय क्रियाकलापों का अध्ययन करती है।

राजनीति का एक पक्ष और भी है जिसे सबसे आसानी से समझा जा सकता है। राजनीति एक व्यवसाय भी है। वर्तमान समय में जिस प्रकार शिक्षक, अभियंता, डॉक्टर या वकील किसी पेशे की ओर संकेत करते हैं उसी तरह स्वयं को राजनीतिज्ञ, या जनप्रतिनिधि कहने वाले व्यक्ति पर्याप्त संख्या में मौजूद हैं। ये राजनीतिक प्रतिस्पर्धा में भाग लेते हैं और राजनीतिक पद एवं सत्ता प्राप्त करते हैं। इसे प्राप्त करने के क्रम में राजनीतिक प्रतियोगी ऐसे वायदे करते हैं, जो कभी पूरे नहीं किए जा सकते और ऐसी तिकड़मबाजी करते हैं कि राजनीति वास्तव में 'दुष्टों का अंतिम आश्रय स्थल' प्रतीत होती है। सामान्य जनता, ईमानदार लोग इसी कारण 'राजनीति' शब्द को नकारात्मक अर्थों में प्रकट करते हैं और घोषणा करते हैं कि वे राजनीति से घृणा करते हैं। सामान्यतः अच्छे जिम्मेदार व्यक्तियों से आशा की जाती है कि वे स्वयं को राजनीति से ऊपर रखेंगे और राजनीति नहीं करेंगे। फिर भी, राजनीति के प्रति किसी भी प्रकार की नकारात्मक राय कुछ तथ्यों एवं व्यक्तियों के आधार पर बना लेना भयंकर भूल होगी। साथ ही, जो लोग घोषणा करते हैं कि वे राजनीति में रूचि नहीं लेते, उन्हें ध्यान में रखना होगा कि इसका अर्थ यह नहीं कि राजनीति भी ऐसे व्यक्तियों में रूचि नहीं लेगी।

राजनीति एक व्यवसाय के रूप में निश्चित ही जटिल एवं कठिन कार्य है। राजनीति सार्वजनिक गतिविधि होने के कारण राजनीतिक पदाधिकारियों पर जनता की पैनी नजर होती है। जनता इन पदाधिकारियों के प्रति आलोचनात्मक रूख रखती है और साथ में इनसे जनता के कल्याण की आशा भी रखती है। ऐसी स्थिति में एक अच्छे डॉक्टर, वकील या शिक्षक की तरह अच्छा राजनीतिज्ञ होना आवश्यक हो जाता है। इसी कारण जर्मन नेता बिस्मार्क ने कहा- "राजनीति संभाव्य की कला (Art of Possibilities) है।" मैकियावेली ने अपने आदर्श राजनीतिज्ञ में विरोधी गुणों का समावेश माना है। अर्थात् राजनीतिज्ञ में शेर और लोमड़ी के गुण होने चाहिए। उसे साधु सा दिखना चाहिए लेकिन होना चाहिए प्रथम श्रेणी का धूर्त। प्लेटो ने राजनीति को विशेषज्ञता का कार्य माना है जो हर किसी के वश की बात नहीं है। वह एक ऐसे दार्शनिक राजा की कल्पना करता है जो राजनीति का किसी कलाकार या विशेषज्ञ की तरह निपुणता से निर्वहन करे। अतः राजनीति एक व्यवसाय भी है जो वर्तमान में

प्रतिनिधि शासन व्यवस्था के कारण आवश्यक एवं अनिवार्य है। सामान्य जनता अपने आर्थिक व अन्य कार्यकलापों में व्यस्तता तथा वर्तमान शासन की जटिलता के कारण सत्ता में सीधी भागीदारी न करते हुए अपने लिए जनप्रतिनिधियों का चुनाव करती है और यही प्रतिनिधि जनता की ओर से नीति निर्माण एवं नीति कार्यान्वयन में भाग लेते हैं। नीति निर्माण प्रक्रिया में भाग लेने वाले यही जनप्रतिनिधि राजनीति को एक व्यवसाय के रूप में अपनाते हैं।

राजनीति करने के समान ही राजनीति को 'पढ़ाना' भी एक व्यवसाय है जो शिक्षण गतिविधि के अंतर्गत आता है। राजनीति करने तथा राजनीति पढ़ाने में सहज अंतर किया जा सकता है। व्यवहारिक राजनीति करना एवं राजनीति के सैद्धांतिक पक्ष को पढ़ाना दो भिन्न बातें हैं। राजनीतिज्ञ का लक्षित वर्ग वे मतदाता होते हैं जिनके मत से वह राजनीतिक पद प्राप्त कर सकता है जबकि 'राजनीति' के शिक्षक का उद्देश्य राजनीति के छात्रों को अधिकतम सम्भव सैद्धांतिक ज्ञान देना है।

1.3 राजनीति विज्ञान परिभाषा, क्षेत्र और प्रकृति:

राजनीति विज्ञान की प्राचीनता एक सर्वमान्य तथ्य है, जिसने प्राचीन काल में प्लेटो व अरस्तू से लेकर वर्तमान युग तक उल्लेखनीय प्रगति की है। यूनानियों को इसके जनक होने का श्रेय जाता है क्योंकि यूनानियों ने ही सबसे पहले राजनीतिक प्रश्नों को आलोचनात्मक और तर्क सम्मत चिन्तन की दृष्टि से देखा। शब्द राजनीति विज्ञान अंग्रेजी भाषा के शब्द Political Science का हिन्दी रूपान्तरण है, जिसकी उत्पत्ति यूनानी भाषा के शब्द पोलिस से हुई है। यूनानी भाषा में पोलिस का अभिप्राय है नगर-राज्य। 500 ई0पू0 पहले यूनानी लोग इन्हीं छोटे-छोटे नगर राज्यों में ही रहते थे और इन नगर-राज्यों की स्थिति एवं राजनीतिक गतिविधियों से सम्बन्धित ज्ञान को 'राजनीति' (पोलिटिक्स) कहा जाता था। स्पष्ट है कि 'राजनीति' उतनी ही पुरानी है जितना कि मानव संगठन। राजनीति ने सदा ही सामाजिक जीवन में निर्णायक भूमिका निभाई है। वर्तमान समय में यह भूमिका लगातार बढ़ती ही जा रही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन यूनानी चिन्तन में व्यक्ति, राज्य (नगर-राज्य) और समाज एक दूसरे के पर्याय थे। राजनीति, समाज और व्यक्ति को निर्देशित करने वाले आदर्श थे- सदगुण, अच्छाई, भलाई और ज्ञान। यानि की राजनीति की यूनानी अवधारणा मुख्य रूप से नैतिक, दार्शनिक, आदर्शवादी, प्रत्ययवादी और आदर्शमूलक रही।

कालान्तर में राजनीति विज्ञान के जीवन काल में कुछ महत्वपूर्ण पड़ाव आये जहाँ पर महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए जैसे यूनानी काल की समाप्ति के बाद रोमन काल, इन दो कालों के राजनीतिक चिन्तन में तात्त्विक अन्तर देखने को मिलते हैं। प्राचीन यूनानियों की दार्शनिक अवधारणा से अलग प्राचीन

रोमवासियों ने राजनीति की न्यायवादी या कानूनी व्याख्या दी। उनके लिए राजनीति एक ऐसी गतिविधि थी, जिसका सम्बन्ध 'साम्राज्य' से था। ज्ञातव्य है कि रोमन काल में शनेः-शनेः नगर राज्य लुप्त होने लगे थे और उनके स्थान पर 'साम्राज्यों' की स्थापना प्रारम्भ हो रही थी, जिसका नियमन, कतिपय सामान्य और तय नियमों द्वारा होता था। रोम में राजनीतिक सिद्धान्त में बराबर यह प्रयास रहता था कि नागरिक कानून को प्राकृतिक कानून के आदर्श के पास लाया जाए। इस प्रकार पाश्चात्य जगत के राजनीतिक चिंतन/सिद्धान्तों में दार्शनिक और कानूनी दोनों ही प्रकार की अवधारणा के दर्शन होते हैं।

इसी प्रकार मध्य काल (500 ई० से 1400 ई० तक) का राजनीति विज्ञान अथवा राजनीति, धर्म के चारों ओर बुनी गई। फलतः राजनीति की मध्ययुगीन संकल्पना (अवधारणा) सामन्तवादी युग में मूलतः धर्मशास्त्रीय आदेशात्मक और संकीर्ण थी क्योंकि राजनीतिक सत्ता स्वतंत्र नहीं थी, वह चर्च के अधीन थी और चर्च सर्वोच्च धार्मिक संगठन था।

किन्तु पुनर्जागरण व धर्मसुधार आन्दोलनों से आधुनिक युग की शुरुआत ने राजनीति विज्ञान को एक नयी आबो-हवा दी। राजनीति में धर्म निरपेक्षता का वातावरण, मानव चिन्तन, लौकिक चिन्तन, वैज्ञानिक सोच, तार्किक चिन्तन का जन्म हुआ। औद्योगिक क्रान्ति ने राजनीतिक चिन्तन में नयी धाराएँ जोड़ दी- व्यक्तिवाद, उदारवाद; किन्तु मार्क्सवादी चिन्तन ने पूँजीवाद का विरोध किया, नया चिन्तन सामने आया- समाजवाद, साम्यवाद। मार्क्सवादी चिन्तन ने दुनियाँ दो धड़ों में बाँट दी। कई चिन्तकों को लगा कि राजनीति विज्ञान ने ऐसा चिन्तन, दर्शन व सिद्धान्त मार्क्सवाद के रूप में ढूँढ लिया है जो तत्कालीन समस्याओं का एकमात्र समाधान है। किन्तु ऐसा नहीं हुआ, लगभग 1903 ई० में शिकागों विश्वविद्यालय (अमेरिका) के युवा राजनीतिक अध्येताओं ने एक प्रतिक्रियावादी आन्दोलन शुरू कर दिया। प्लेटो से लेकर वर्तमान 19वीं शदी के आखिरी वर्षों तक के राजनीतिक चिन्तन को नकार दिया। घोषणा की कि अभी तक राजनीति विज्ञान में जितना अध्ययन हुआ, उन्होंने जो तकनीकें अपनायीं; सब व्यर्थ और अनुपयोगी हैं। दरअसल ये समय समाज विज्ञानों के जीवन का वह दौर था, जहाँ सारे सामाजिक विषय 'विज्ञान बनने की दौड़' में शामिल थे। ऐसे में शिकागों के राजनीतिक अध्येताओं को लगा कि उनका विषय भी 'विज्ञान' बनाया जाये। परिणाम स्वरूप राजनीति विज्ञान में व्यवहारिकतावादी आन्दोलन का प्रवेश हुआ। यही वह परिवर्तन सीमा है जिससे पूर्व का राजनीति विज्ञान 'परम्परागत राजनीति विज्ञान' और जिसके बाद का राजनीति विज्ञान आधुनिक राजनीति विज्ञान कहलाता है। उल्लेखनीय है लम्बे समय तक राजनीति विज्ञान, राजनीतिक सिद्धान्त, राजनीतिक दर्शन समानार्थी शब्दों के रूप में प्रयुक्त किये जाते रहे। यद्यपि बाद में कई विद्वानों ने इनमें भेदक रेखा खींचने का सार्थक प्रयास किया।

एक विषय बरबस ध्यान खींचता है कि आज जब दुनियाँ 'ग्लोबल विलेज' का रूप ले चुकी है, इंटरनेट जैसी संचार तकनीक फैल चुकी है, ऐसे में राजनीति विज्ञान और विशेष रूप से आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तों की क्या प्रासंगिकता है?

‘आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त’ विषय के अन्तर्गत प्रायः उन सिद्धान्तों का समावेश किया जाता है जिनकी रचना सन् 1903 ई० के बाद हुई है। यह अत्यन्त व्यापक क्षेत्र है जिसे निश्चित सीमाओं में बाँध पाना कठिन है। व्यवहारिकतावादी आन्दोलन से लेकर वर्तमान में नारीवादी आन्दोलन तक सभी इसकी सीमा में समाये हुए हैं। जहाँ तक विषय की प्रासंगिकता का प्रश्न है इसमें कोई संदेह नहीं होना चाहिए कि आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त पूर्णतया प्रासंगिक हैं। यद्यपि यह सत्य है कि समाज विज्ञान होने के नाते इन सिद्धान्तों में उतनी निश्चितता व स्पष्टता नहीं है जितनी प्राकृतिक विज्ञानों के विषय में होती है।

यद्यपि व्यवहारिकतावाद की अपनी कुछ कमियाँ रही हैं किन्तु इसने राजनीति विज्ञान को निश्चित रूप से एक नयी दृष्टि प्रदान की। अब राजनीति में अध्ययन इकाई मनुष्य का राजनीतिक व्यवहार बनाया गया। वस्तुतः मनुष्य के राजनीतिक व्यवहार को जाने बगैर राजनीति के सम्बन्ध में लिए गये निर्णय सदैव असफल होंगे। अतः इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है व्यवहारिकतावादी सिद्धान्त न केवल आज प्रासंगिक है बल्कि सदैव प्रासंगिक रहेगा।

इसी प्रकार यदि डेविड ईस्टन के व्यवस्था सिद्धान्त को लें तो यह 1950 के दशक, जब इसे ईस्टन ने प्रतिपादित किया, से अधिक आज प्रासंगिक नजर आता है। मूल्यों का सम्पूर्ण समाज के लिए आधिकारिक आबंटन होना आवश्यक है चूँकि आज अधिकांश राज्य लोकतांत्रिक रास्ते पर चल रहे हैं। आज यदि मूल्यों का आबंटन सम्पूर्ण समाज के लिए न होकर किसी वर्ग विशेष के लिए होता है, तो वहीं पर दंगे, हड़ताल, तालाबंदी, जलूस आदि देखने को मिलते हैं। समाज में व्यवस्था बनाये रखने के लिए ऐसे राजनीतिक सिद्धान्तों की नितान्त आवश्यकता नजर आती है।

संचार क्रान्ति ने आज दुनियाँ को वैश्विक गाँव में बदल दिया है। ऐसे में संचार की भूमिका राजनीति विज्ञान में और अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। किसी भी राजनीतिक व्यवस्था को कब, क्या और कैसे निर्णय लेने हैं, इसका निर्धारण पूरी व्यवस्था से प्राप्त सूचनाओं के अनुरूप होता है। सूचना तंत्र व्यवस्था में प्राण तत्व रक्त की भाँति है। सही सूचना, सही समय पर सही निर्णय लेने में सहायक होती है। आज आतंकवाद के बढ़ते नेटवर्क को तोड़ने के लिए सरकार को उससे अधिक बेहतर सूचना तंत्र बनाना होगा। चाहे मुद्दा आफेन्सिव हो या डिफेन्सिव, दोनों मामलों में सूचना तंत्र की महत्वपूर्ण भूमिका है। कार्ल डायच ने संचार सिद्धान्त की रचना करके न केवल राजनीति विज्ञान को बल्कि सम्पूर्ण मानव समाज को एक महत्वपूर्ण देन प्रदान की है।

राजनीतिक विकास, राजनीतिक आधुनिकीकरण, राजनीतिक समाजीकरण, राजनीतिक संस्कृति, राजनीतिक भर्ती, राजनीतिक सहभागिता आदि अनेक ऐसे आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त हैं, जिनकी वर्तमान समाज को पग-पग पर आवश्यकता पड़ती है। चुनावी मामला हो या विदेश नीति का मामला या कोई अन्य ये सिद्धान्त मार्ग दर्शक की भूमिका निभाते हैं। आधुनिकीकरण व विकास के मापदण्डों पर कोई देश कैसे पहुँचता है, यह जानकारी हमें यही सिद्धान्त देते हैं।

विचारधारा, आज एक महत्वपूर्ण विषय है जो आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तों में शामिल किया जाता है। यह एक ऐसा विषय है जो प्राचीन काल से आज तक हर समय प्रासंगिक बना रहा है। विचारधारा, मानवीय समाज को जोड़ने, एक आदर्श स्थिति तक पहुँचने का मार्ग, मानव की पूर्णता की दृष्टि की ओर इशारा करती है। व्यवहारिक दृष्टि से अपने उद्देश्यों को छिपाने का यह एक लबादा है। विश्व के सभी देश किसी न किसी विचारधारा से प्रेरित व अनुप्राणित हैं। चाहे वह मार्क्सवादी हो, फेबियनवादी, पूँजीवादी, साम्यवादी, व्यक्तिवादी, आदर्शवादी, उदारवादी, माओवादी, या गाँधीवादी या कोई अन्य जैसे फासीवादी, नाजीवादी। इससे नितांत स्पष्ट है 'विचारधारा' का अध्ययन किये बगैर राजनीतिक विज्ञान व स्वयं राजनीतिक व्यवस्थाएँ अपूर्ण ही रहेंगी। इधर 1960 के दशक से कुछ विद्वानों ने विचारधारा के अंत का बिगुल बजाया। डेनियल बेल यह स्पष्ट किया कि उत्तर आधुनिकीकरण काल में सभी राज्य आर्थिक विकास व भौतिकवाद की ओर भाग रहे हैं, चाहे वे किसी भी विचारधारा के क्यों न हों, ऐसे में विचारधारा का कोई महत्व नहीं रह जाता और ऐसा लगता है विचारधारा का अंत हो गया है। किन्तु डेनियल का यह विचार विद्वानों को स्वीकार्य नहीं है क्योंकि विश्व आज भी विचारधाराओं में बांटा है।

उपरोक्त कुछ उदाहरणों को प्रस्तुत करने का मन्तव्य केवल इतना है कि 'आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त' विषय आज की परिस्थितियों में अधिक प्रासंगिक हो गया है। राजनीति विज्ञान 'शासन के संचालन' का दिशायंत्र होता है। समय-समय पर जिन सिद्धान्तों की आवश्यकता महसूस हुई, उन्हें गढ़ा गया। 'आवश्यकता अविष्कार की जननी होती है', इस शाश्वत नियम से राजनीति विज्ञान भी बँधा है और इसके परिणाम भी समय-समय पर सामने आये हैं चाहे वह राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र हो या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र हो।

आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त, ऐसे विषयों से जुड़ा है, जो न केवल राजनीतिक अध्येताओं, शोधकर्ताओं व विद्यार्थियों के लिए लाभदायक हैं बल्कि आम जनता की रूचि के भी हैं, जैसे राजनीतिक भागीदारी, भर्ती, मतदान आदि आम जनता से जुड़े प्रश्न हैं।

फिर आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त इस दृष्टिकोण से भी प्रासंगिक हैं कि इनके उद्भव के बाद राजनीतिक विज्ञान को 'स्वायत्त विषय' के रूप में आवश्यक सामग्री प्रचुर मात्रा में प्राप्त हो गयी। प्रत्येक

विषय की स्वायत्ता की यह माँग होती है कि उसके अपने उपकरण, तकनीके, पद्यतियों व सिद्धान्त हों, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तों ने इन माँगों को पूरा किया है।

आज कोई भी विषय एकांगी रूप से मनुष्य का सांगोपांग अध्ययन नहीं कर सकता है। अतः राजनीति विज्ञान के नये परिप्रेक्ष्य में अंतः अनुशासनीय पद्धति पर जोर दिया गया। अंतः अनुशासनात्मकता आधुनिकता का लक्षण है, अतः यह स्वतः सिद्ध है कि आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त प्रासंगिकता की कसौटी पर खरे उतरते हैं।

इधर दुनियाँ भर में विश्वविद्यालयों में जिस प्रकार राजनीतिक सिद्धान्तों की रचना हेतु बैच/विभाग स्थापित किये गये हैं, उनसे भी आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तों की उपयोगिता स्पष्ट होती है।

आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त, 'समस्या-समाधान' के फार्मूले पर आधारित है। यहाँ केवल 'आदर्श' की कल्पना नहीं की जाती बल्कि समाज में व्याप्त समस्याओं का समाधान ढूँढा जाता है। कोई भी अनुशासन जब 'समस्या-समाधान' के साथ जुड़ जाता है तो उसकी प्रासंगिकता स्वतः सिद्ध हो जाती है। आज आधुनिक राजनीति विज्ञान में न्याय, समानता, स्वतंत्रता, क्रान्ति जैसे विषयों पर चर्चा होती है। समस्या के कारण ढूँढे जाते हैं, उनके परिणामों पर चर्चा होती है, फिर समाधान की तलाश शुरू होती है, तब कहीं राजनीतिक सिद्धान्त अस्तित्व में आता है, मुद्दा चाहे आरक्षण का हो, लिंगभेद का, नारी-पराश्रितता का या कोई अन्य, हमारे पास आज राजनीतिक सिद्धान्त है जो इन समस्याओं से निपटने के लिए दिशा निर्देशन करते हैं।

आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त व्यापक विषय है, जो अपने कलेवर में स्थानीय से अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश तक को समेटे हुए है। इस स्थिति में इसकी प्रासंगिकता पर प्रश्न उठाना, उचित प्रतीत नहीं होता है।

जैसा कि ऊपर के अध्ययन से आपको पता चला होगा कि प्राचीन यूनान में नगर-राज्यों का अध्ययन करने वाला विषय 'राजनीति' कहलाता था। कालान्तर में नगर-राज्य लुप्त हो गये और इनके स्थान पर रोमन काल में साम्राज्यों की स्थापना हुई। पुनः आधुनिक काल में राष्ट्रीय राज्यों की उत्पत्ति हुई। स्वाभाविक रूप से राज्य के इस विकसित और विस्तृत स्वरूप से सम्बन्धित विषय को राजनीति विज्ञान कहा जाने लगा। राज्य, कानून, प्रभुसत्ता और सम्बन्धित संस्थाएं राजनीति विज्ञान के प्रमुख विषय हो गए। बीसवीं शती के तीसरे दशक में अमेरिका में व्यवहारावाद के जन्म ने राजनीति विज्ञान के अनुभववादी और वैज्ञानिक शास्त्र की वकालत की और राजनीति में मूल्यों के बजाय तथ्यों की माँग की। हालांकि, दो दशकों बाद राजनीतिक विश्लेषण में मूल्यों की वापसी 'उत्तर-व्यवहारावाद' के रूप में हुई। इस प्रकार राजनीति विज्ञान उन सब बातों का सार है, जो विगत शताब्दियों में घटित हुई हैं। इसी कारण राजनीति विज्ञान की परिभाषा, क्षेत्र और प्रकृति के सम्बन्ध में विद्वानों की राय एक नहीं

है। हमें राजनीति विज्ञान की विभिन्न परिभाषाएं मिलती हैं जिन्हें दो खास भागों में बाँट सकते हैं। हालाँकि कोई भी हिस्सा एक-दूसरे से अलग नहीं है।

1.3.1 राजनीति विज्ञान की परम्परागत परिभाषा:

परम्परागत दृष्टिकोण से दी गयी परिभाषाओं में विभिन्न पाश्चात्य विचारकों ने राजनीति विज्ञान के अध्ययन का मुख्य क्षेत्र राज्य व सरकार को माना गया है। इन विद्वानों की परिभाषाओं का अध्ययन निम्नांकित तीन रूपों में किया जा सकता है:-

1. राज्य के अध्ययन के रूप में

गार्नर के अनुसार- 'राजनीति विज्ञान का प्रारम्भ व अन्त राज्य से ही होता है।'

ब्लंटश्ली ने लिखा है, "राजनीति विज्ञान वह विज्ञान है जिसका संबंध राज्य से है और जो यह समझाने का प्रयत्न करता है कि राज्य के आधारभूत तत्व क्या हैं, उसका आवश्यक स्वरूप क्या है, उसकी किन विविध रूपों में अभिव्यक्ति होती है तथा उसका विकास कैसा हुआ है।"

गैरीज ने राजनीति विज्ञान को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "राजनीति विज्ञान राज्य के उदभव, विकास उद्देश्य तथा राज्य की समस्त समस्याओं का उल्लेख करता है।"

जैम्स के अनुसार- "राजनीति विज्ञान राज्य का विज्ञान है।"

डॉ० जकारिया के शब्दों में- "राजनीति विज्ञान व्यवस्थित रूप से उन आधारभूत सिद्धान्तों का निरूपण करता है, जिनके अनुसार समष्टि रूप में राज्य को संगठित किया जाता है और प्रभुसत्ता का प्रयोग किया जाता है।"

2. सरकार के अध्ययन के रूप में

राजनीति विज्ञान के कुछ विचारकों ने राजनीति विज्ञान को सरकार का अध्ययन माना है। उनके मतानुसार राज्य तो अर्भूत संस्था है, यदि उसे समझना है तो उसके मूर्तरूप सरकार को ही समझना होगा। सीले, जेम्स, लीकॉक इसी श्रेणी के विद्वान हैं। उल्लेखनीय है कि सरकार के अध्ययन के रूप में राजनीति-विज्ञान का आरम्भ अमेरिका में हुआ।

सीले के अनुसार-राजनीति विज्ञान उसी प्रकार सरकार के तत्वों का अनुसंधान करता है जैसे सम्पत्ति शास्त्र सम्पत्ति का, जीव विज्ञान जीवन का, बीजगणित अंको का तथा ज्यामितिशास्त्र स्थान एवं लम्बाई - चौड़ाई का करता है।"

लीकॉक ने लिखा है कि “राजनीति - विज्ञान सरकार से संबंधित विधा है।

3.राज्य और सरकार दोनों के अध्ययन के रूप में:

राजनीति विज्ञान के कुछ विद्वानों का मत है कि राजनीति विज्ञान, राज्य और सरकार दोनों का अध्ययन है। इनके मतानुसार एक के बगैर दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि राज्य को अभिव्यक्ति के लिए सरकार की और सरकार के अस्तित्व की संकल्पना के लिए राज्य की उपस्थिति अनिवार्य है। पॉल जैनेट, गिलक्राइस्ट, गैटिल, डिमॉक, प्रो0आशीवादम, लॉस्की आदि विद्वानों ने इसी मत का समर्थन किया है।

गिलक्राइस्ट के अनुसार- “राजनीति विज्ञान वस्तुतः राज्य और सरकार की सामान्य समस्याओं का अध्ययन करता है।“

डिमॉक ने भी राजनीति विज्ञान को इसी प्रकार परिभाषित करते हुए लिखा है कि राजनीति विज्ञान का संबंध राज्य तथा उसके साधन सरकार से है।

आशीवादम् के अनुसार, “राजनीति विज्ञान राज्य और शासन दोनों का ही विज्ञान है।“

पॉल जैनेट के अनुसार, “राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र का वह भाग है, जिसमें राज्य के आधार और सरकार के सिद्धान्त का विचार किया जाता है।“

राजनीति विज्ञान की उपर्युक्त सभी परम्परागत परिभाषाओं का विश्लेषण करने पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राजनीति विज्ञान की उपर्युक्त सभी परिभाषाएँ अपूर्ण हैं क्योंकि इनमें मानवीय तत्व की उपेक्षा की गयी है। राज्य और सरकार के अध्ययन में मानवीय तत्व सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। व्यक्ति के जीवन को अत्यधिक प्रभावित करने के कारण ही राजनीति विज्ञान में राज्य और सरकार का अध्ययन किया जाता है। मानवीय तत्व के अध्ययन के बिना राजनीति विज्ञान का अध्ययन नितान्त औपचारिक, निर्जीव तथा संस्थागत ही माना जायेगा।

हरमन हैलन के अनुसार, “राजनीति विज्ञान के सम्पूर्ण स्वरूप का निर्धारण उसकी मानव विषयक मौलिक मान्यताओं द्वारा ही होता है।“

1.3.2 राजनीति विज्ञान की आधुनिक परिभाषा

परम्परागत राजनीति विज्ञान या तो स्वतंत्रता, समता, न्याय जैसे राजनीतिक विचारों पर बल देता है, या राज्य, सरकार, कानून इत्यादि जैसी राजनीतिक संस्थाओं पर। लेकिन 20वीं शताब्दी में राजनीति विज्ञान की सबसे प्रमुख प्रवृत्ति रही, व्यवहारवाद, जिसने परम्परागत राजनीति विज्ञान को आधुनिक

राजनीति विज्ञान के मार्ग में आगे बढ़ाया। ग्राहम वालास, ए0एफ0 डहल, बैटले, मैक्सवेयर, चार्ल्स मेरियम, जार्ज कैटलिन, हैरोल्ड लास्वेल, डेविड ईस्टन आदि व्यवहारवादियों ने 'राज्य' एवं अन्य संस्थाओं मात्र के अध्ययन के बजाय राजनीतिक व्यवस्था, मानव व्यवहार एवं राजनीतिक प्रक्रियाओं के अध्ययन पर बल दिया। राजनीतिक संस्थाओं के पीछे कार्य कर रही प्रभावशाली शक्तियों पर प्रकाश डालने का इन्होंने प्रयास किया। फलतः राजनीतिक अध्ययन का रूख संस्थात्मक और संगठनात्मक दृष्टिकोण से हटकर लोगों की राजनीतिक गतिविधियों, दिशा, प्रेरणा और आचरण पर केन्द्रित हो गया। विचारों के अध्ययन का स्थान तथ्यों और प्रमाणों के अध्ययन ने ले लिया तथा राजनीति विज्ञान को आधुनिक लेखकों ने शक्ति, सत्ता, प्रभाव का अध्ययन बताया। कुछ परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं।

केटलिन के अनुसार, "राजनीति विज्ञान शक्ति का विज्ञान है।"

डेविड ईस्टन के अनुसार, "राजनीति विज्ञान समाज में मूल्यों का सत्तात्मक वितरण है।"

लासवैल और केपलान के अनुसार, "एक आनुभाविक खोज के रूप में राजनीति विज्ञान शक्ति के निर्धारण और सहभागिता का अध्ययन है।"

डॉ0 हसजार और स्टीवेन्सन के अनुसार, "राजनीतिशास्त्र अध्ययन का वह क्षेत्र है जो प्रमुखतया शक्ति सम्बन्धों का अध्ययन करता है। इन शक्ति सम्बन्धों के कुछ प्रमुख रूप हैं, व्यक्तियों में परस्पर, व्यक्ति और राज्य के मध्य शक्ति सम्बन्ध और राज्यों में परस्पर शक्ति सम्बन्ध।"

रॉबर्ट ए0 डहल के अनुसार, "राजनीति विज्ञान का शक्ति, नियम व सत्ता से सम्बन्ध है।"

आलमण्ड तथा पावेल के अनुसार, "आधुनिक राजनीति विज्ञान में हम राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन और विश्लेषण करते हैं।"

उपरोक्त राजनीति विज्ञान सम्बन्धी परम्परावादी और आधुनिक परिभाषाओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि वर्तमान में यह केवल राज्य अथवा सरकार से सम्बन्धित विज्ञान नहीं, बल्कि मनुष्य के राजनीतिक व्यवहार, राजनीतिक क्रियाओं व प्रक्रियाओं, शक्ति, सत्ता तथा मानव समूहों की अन्तःक्रियाओं का विज्ञान है।

1.3.3 परम्परागत राजनीति विज्ञान का क्षेत्र:

किसी अनुशासन के अध्ययन क्षेत्र से तात्पर्य होता है कि उसमें किन-किन बातों/विषयों का अध्ययन किया जायेगा। राजनीति विज्ञान एक ऐसा अनुशासन है जिसके क्षेत्र का निश्चयात्मक अध्ययन करना जटिल कार्य है। समय के साथ-साथ इसके क्षेत्र में संकुचन व विस्तार होता चला आया है। अध्ययन

की सुविधा की दृष्टि से हम इसका विवेचन परम्परागत परिप्रेक्ष्य व आधुनिक परिप्रेक्ष्य में कर सकते हैं।

अ-राजनीति विज्ञान का परम्परागत परिप्रेक्ष्य में क्षेत्र:- प्राचीन काल में यूनान में राजनीति विज्ञान का क्षेत्र विस्तृत था, क्योंकि तत्कालीन समय में राज्य न केवल एक राजनीतिक संस्था थी अपितु नैतिक संस्था भी थी। राज्य व समाज में किसी प्रकार का भेद नहीं था। मानव जीवन के प्रत्येक पहलु का अध्ययन इस अनुशासन के अन्तर्गत किया जाता था। यही कारण था कि अरस्तू ने राजनीति विज्ञान को “प्रधान विज्ञान” मास्टर साईंस की संज्ञा प्रदान की। कैटलिन ने अपनी पुस्तक “पॉलिटिकल थियरी: व्हट इज इट?” में इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है। अरस्तू ने राजनीति की परिधि में राष्ट्रीय राज्य व्यवस्थाएँ नागरिक, दास प्रथा, अन्तर्राष्ट्रीय राज्य-व्यवस्थाएँ, पैतृक व्यवस्थाएँ, धार्मिक संगठन, व्यापारिक संस्थान और कर्मचारियों के संगठन को भी शामिल कर लिया। रोमन साम्राज्य में राजनीति विज्ञान की परिधि में वैधानिकता का समावेश हो गया। मध्ययुग में राजनीति विज्ञान का क्षेत्र ‘चर्च व राज्य की सर्वोच्चता का संघर्ष’ बन गया। बौद्ध ने राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में सम्प्रभुता के तत्व का समावेश कर दिया और राजनीति विज्ञान का अध्ययन सम्प्रभुता के संदर्भ में किया जाने लगा। ये राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के संकुचन का परिचायक था। 19वीं शताब्दी में अन्य विषयों के स्वतंत्र अनुशासन के रूप में अस्तित्व में आने के कारण राजनीति विज्ञान भी पृथक विषय बन गया है। **फ्रेडरिक पोलक** ने परम्परागत राजनीति विज्ञान के क्षेत्र को दो खण्डों में विभाजित किया है-

1. सैद्धान्तिक राजनीति विज्ञान

2. व्यवहारिक राजनीति विज्ञान

सैद्धान्तिक राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत राज्य की आधारभूत समस्याओं का अध्ययन किया जाता है जबकि व्यवहारिक राजनीति विज्ञान में राज्य के क्रियात्मक स्वरूप तथा निरन्तर परिवर्तनशील सरकारों के वास्तविक रूप की विवेचना की जाती है। पोलक की भाँति गुडनॉव व सिजविक ने भी परम्परागत राजनीति विज्ञान का विभाजन किया है। **परम्परागत राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत निम्नांकित पाँच विषयों का अध्ययन किया जाता है-**

(1) राज्य का अध्ययन -राजनीति विज्ञान के क्षेत्र का वर्णन करते हुए गैटिल ने लिखा है, “राजनीति विज्ञान राज्य के भूतकालीन स्वरूप की ऐतिहासिक गवेषणा, उसके वर्तमान स्वरूप की विश्लेषणात्मक व्याख्या तथा उसके आदर्श स्वरूप की राजनीतिक विवेचना है।” इस प्रकार राजनीति विज्ञान में राज्य की उत्पत्ति, उसका विकास, संगठन, आवश्यक तत्वों, प्रक्रियाओं, उद्देश्यों, कार्यों के साथ-साथ नागरिकों के साथ उसके संबंधों तथा अन्य राज्यों, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के साथ उसके संबंधों का

अध्ययन किया जाता है। गिलक्राइस्ट ने राजनीति विज्ञान के क्षेत्र को परिभाषित करते हुए लिखा है, “राजनीति विज्ञान में यह बतलाया जाता है कि राज्य क्या है, क्या रहा है और इसे क्या होना चाहिए? गार्नर ने भी राजनीति विज्ञान का विषय राज्य घोषित किया है। उसने राजनीति विज्ञान को परिभाषित करते हुए लिखा है “राजनीति विज्ञान का प्रारम्भ व अन्त राज्य पर ही होता है।” गैरीज, गुडनॉव, एक्टन, ब्लंटश्ली तथा जकारिया ने भी राजनीति विज्ञान का क्षेत्र राज्य घोषित किया है।

(2) सरकार का अध्ययन-परम्परागत राजनीति विज्ञान में सरकार का अध्ययन किया जाता है: सरकार राज्य का अभिन्न अंग है राज्य एक अमूर्त संस्था है जबकि सरकार उसका मूर्त रूप है। क्रॉसे के अनुसार, “सरकार ही राज्य है और सरकार में ही राज्य पूर्णता प्राप्त कर सकता है, वस्तुतः सरकार के बिना राज्य का अध्ययन अपूर्ण है।” सरकार राज्य की प्रभुसत्ता का प्रयोग करती है। सरकार ही राज्य की इच्छाओं और आकांक्षाओं को व्यावहारिक रूप प्रदान करती है। सरकार के विभिन्न रूपों का अध्ययन राजनीतिशास्त्र में किया जाता है। सरकार के विभिन्न अंगों (व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका) का अध्ययन भी इसमें किया जाता है। लीकॉक ने तो स्पष्टतया, “राजनीतिशास्त्र को सरकार का अध्ययन कहा जाता है।”

(3) स्थानीय, राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का अध्ययन- प्राचीन भारतीय राजनीति विज्ञान में कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में स्थानीय, राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं, इन तीनों का समावेश किया। उसने ग्राम पंचायत, राष्ट्रीय संस्थाओं व परराष्ट्र संबंध का अध्ययन किया। इसी प्रकार यूनानी राजनीतिक चिन्तक अरस्तू ने भी इन तीनों श्रेणियों से संबंधित समस्याओं का अध्ययन ‘पालिटिक्स’ में किया। स्थानीय संस्थाओं की कार्यप्रणाली का अध्ययन तथा इसमें नागरिकों का सहयोग आदि विषय राजनीति विज्ञान के महत्वपूर्ण अंग हैं। स्थानीय स्वायत्तता एवं शासन की समस्याओं का अध्ययन राष्ट्रीय समस्याओं की पृष्ठभूमि में किया जा सकता है।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय विधि, संबंधों व संगठनों का अध्ययन - राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का अध्ययन किया जाता है, जैसे सन्धि, प्रत्यर्पण, मानवाधिकार, संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर का अनुपालन आदि। इसके अतिरिक्त विभिन्न देशों के आपसी संबंधों व अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का, राज्यों की विदेश नीति, युद्ध व शांतिकाल में अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की भूमिका आदि भी राजनीति विज्ञान की विषय वस्तु है।

(5) राजनीतिक सिद्धान्तों व विचारधाराओं का अध्ययन- राजनीति विज्ञान का सबसे महत्वपूर्ण विषय है “राजनीतिक सिद्धान्त”। इसके अन्तर्गत राज्य की उत्पत्ति, संगठन, विकास, प्रक्रिया से लेकर उसके उद्देश्यों व कार्यों संबंधी सभी सिद्धान्तों और जीवन के सामान्य तथ्यों का अध्ययन किया जाता है। राजनीतिक सिद्धान्तों का जन्म ‘संकटकाल’ में होता है जितने भी महान दार्शनिक या चिन्तक हुए

हैं सब अपने युग के संकट काल की उपज हैं। उन पर इस संकट का इतना जबरदस्त प्रभाव रहा कि उन्होंने उसके समाधान के लिए ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जो आज भी प्रासंगिक नजर आते हैं। उदाहरणार्थ- अरस्तू ने क्रांति के कारणों व समाधान का इतना गहन अध्ययन किया कि आज भी उसे कोई काट नहीं सकता। विचारधारा के रूप में राजनीतिक सिद्धान्त की भूमिका और भी महत्वपूर्ण हो जाती है। मार्क्स की विचारधारा ने पूरे विश्व को दो धड़ों में विभाजित कर दिया। अतः राजनीति विज्ञान में विचारधाराओं का अध्ययन महत्वपूर्ण व अपृथक्करणीय अंग है।

(6) शासन प्रबन्ध का अध्ययन- लोक प्रशासन राजनीति विज्ञान का एक भाग होते हुए भी आज पृथक विषय बन गया है परन्तु उसकी मूल बातों का अध्ययन राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत आज भी किया जाता है। असैनिक कर्मचारियों की भर्ती, प्रशिक्षण, उन्नति, उनका जनता के प्रतिनिधियों से सम्बन्ध तथा प्रशासन को अति कुशल और लोकहितकारी तथा उत्तरदायी बनाने के बारे में अध्ययन राजनीति विज्ञान में किया जाता है।

(7) अन्य सामाजिक विज्ञानों का अध्ययन- मनुष्य की जो राजनीतिक क्रियाएँ होती हैं वे उसकी परिस्थितियों की उपज होती हैं। आज मनुष्य आर्थिक, सामाजिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक आदि अवधारणाओं से बँधा हुआ है। मनुष्य की राजनीतिक क्रियाओं के पूर्ण अध्ययन करते समय उक्त विषयों का अध्ययन भी होना चाहिए। कार्ल मार्क्स ने राजनीतिक क्रियाओं को समझने के लिए मनोविज्ञान के अध्ययन पर बल दिया। शिकागो संस्थान के विचारक मनुष्य के राजनीतिक क्रिया-कलापों को समझने के लिए उसके समस्त सामाजिक वातावरण के अध्ययन पर बल देते हैं।

(8) राजनीतिक दलों तथा दबाव गुटों का अध्ययन- राजनीतिक दल और दबाव गुट वे संस्थाएँ हैं जिनके द्वारा राजनीतिक जीवन को गति दी जाती है। आजकल तो राजनीतिक दलों और दबाव गुटों के अध्ययन का महत्व संविधान और शासन के औपचारिक संगठन के अध्ययन से अधिक है। इस प्रकार का अध्ययन राजनीतिक जीवन को वास्तविकता से सम्बन्धित करता है।

राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के सम्बन्ध में आधुनिक दृष्टिकोण:

द्वितीय विश्वयुद्ध (1939-45) से पूर्व यह मान्यता थी कि राजनीति विज्ञान का अध्ययन विषय केवल व्यक्तियों का राजनीतिक जीवन, राज्य और अन्य राजनीतिक संस्थाएँ ही हैं। यद्यपि ग्राहम वालास, ए0एफ0 बेंटले, केटलिन, लासवैल आदि विचारकों ने इस बात का प्रतिपादन किया था कि राजनीति विज्ञान का अध्ययन केन्द्र राजनीतिक संस्थाओं को न मानकर इस संस्थाओं की चालक शक्ति-मानवीय व्यवहार को बनाया जाना चाहिए। युद्ध के पश्चात् तो यह प्रवृत्ति उग्र रूप से सामने आई और इसने एक क्रान्तिकारी रूप धारण कर लिया। इसके प्रवर्तक डेविड ईस्टन ने इसे व्यवहारवादी आन्दोलन

का नाम दिया। व्यवहारवादी आन्दोलन में इस बात पर बल दिया जाता है कि मनुष्य अपना राजनीतिक जीवन एकान्त में व्यतीत नहीं करता वरन् समाज में रहकर व्यतीत करता है और समस्त सामाजिक जीवन के संदर्भ में ही मनुष्य के राजनीतिक जीवन को समझा जा सकता है।

1. आधुनिक राजनीति विज्ञान में राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन: आधुनिक राजनीति विज्ञान 'राजनीतिक व्यवस्था' के अध्ययन पर बल देता है। आधुनिक राजनीति वैज्ञानिकों डेविड ईस्टन एवं आमण्ड पावेल के अनुसार राजनीतिक व्यवस्था पारस्परिक सम्बन्धों का ऐसा जाल है, जिसके द्वारा समाज सम्बन्धी आधिकारिक निर्णय लिये जाते हैं और उन्हें लागू किया जाता है। समाज में विद्यमान अन्य उपव्यवस्था जैसे आर्थिक व्यवस्था, धार्मिक व्यवस्था, सांस्कृतिक व्यवस्था और राजनीतिक व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण अंतर है जो इसे अन्य उपव्यवस्थाओं में श्रेष्ठ स्थान प्रदान करती है। वह है इसके निर्णयों का आधिकारिक होना तथा सम्पूर्ण समाज पर लागू होना तथा समाज द्वारा इनका पालन न किये जाने की स्थिति में शक्ति के आधार पर इन्हें समाज पर बाध्यकारी रूप से आरोपित करना। राजनीतिक व्यवस्था की इसी विशेषता की ओर संकेत करते हुए डेविड ईस्टन ने लिखा है कि, "यह राजनीतिक मूल्यों का सम्पूर्ण समाज के लिए आधिकारिक आबंधन है।" राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत आन्तरिक व बाह्य परिवेश, इनसे राजनीतिक व्यवस्था पर पड़ने वाले तनावों व दबावों, परिवेश से आने वाली मॉर्गों व समर्थनों, शासन व्यवस्था के तीनों अंग, प्रतिसम्भरण प्रक्रिया आदि का अध्ययन किया जाता है।

2. अन्य सामाजिक विज्ञानों का अध्ययन है: राजनीति विज्ञान अन्य सामाजिक विज्ञानों से अलग हटकर अपनी समस्याओं का अध्ययन नहीं कर सकता। अन्य सामाजिक विज्ञान भी मानव से सम्बन्धित होने के कारण मानव के किसी विशेष पहलू का अध्ययन करते हैं। मानव जीवन के राजनीतिक विचारों को प्रभावित करने में सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक, मनोवैज्ञानिक आदि तत्व भी महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। राजनीति विज्ञान का अध्ययन अन्य सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन के बिना अधूरा माना जाता है। ग्राहम वालास आदि ने राजनीतिक व्यवहार को समझने के लिए मनोविज्ञान की ओर संकेत किया है। राजनीति विज्ञान जो एक समय अपने अध्ययन के लिए केवल राजनीतिक तत्वों का ही ध्यान रखता था, आज अपने अध्ययन में आर्थिक, सामाजिक, भौगोलिक आधारों की भी खोज करता है।

3. राजनीति विज्ञान शक्ति एवं प्रभाव का अध्ययन: आधुनिक राजनीति विज्ञान से सम्बद्ध विद्वान, राजनीति विज्ञान को शक्ति एवं प्रभाव का अध्ययन मानते हैं। कैटलिन इसे 'शक्ति का विज्ञान' मानता है। लासवैल भी राजनीति विज्ञान को 'शक्ति के निर्धारण और सहभागिता' का अध्ययन मानता है।

4. राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन: यह माना जाता है कि राजनीतिक संस्थाएँ जिसके द्वारा संचालित की जाती हैं, उसके अध्ययन को प्रमुखता दी जानी चाहिए। आज की लोकतान्त्रिक पद्धति में चुनाव, राजनीतिक घटनाओं को मानव व्यवहार प्रभावित करता है। इसलिए राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन आवश्यक है।

5. राजनीतिक क्रियाओं का अध्ययन: आधुनिक राजनीति विज्ञान के अध्ययन में राजनीतिक क्रियाओं को भी सम्मिलित किया जाता है क्योंकि इन सभी क्रियाओं के योग से ही राजनीतिक प्रक्रिया का जन्म होता है।

6. राजनीतिक विज्ञान सार्वजनिक सहमति और सामान्य मत का अध्ययन: आधुनिक राजनीति विज्ञान के अध्ययन में सहमति और सामान्य मत का भी अध्ययन सम्मिलित किया जाता है। बेनफील्ड के शब्दों में, “किसी विषय अथवा समस्या को संघर्षमय बनाने अथवा सुलझाने वाली गतिविधियों (समझौता, वार्ता, तर्क-वितर्क, विचार-विनिमय, शक्ति प्रयोग आदि) राजनीति विज्ञान के अंग हैं।”

7. राजनीति विज्ञान समस्याओं व संघर्ष का अध्ययन: डायक व ओडगार्ड के मत में आज राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत विभिन्न समस्याओं और संघर्षों का भी अध्ययन किया जाता है क्योंकि ये समस्याएँ एवं संघर्ष राजनीति विज्ञान को गम्भीर रूप से प्रभावित करती हैं।

8. विविध विषय क्षेत्र: राजनीति विज्ञान के अनेक आधुनिक विद्वानों ने राजनीति विज्ञान में अनेक विविध विषयों को उसके विषय-क्षेत्र में सम्मिलित किया है। वह राज्य की अपेक्षा राजनीतिक व्यवस्था को राजनीति विज्ञान का विषय मानते हैं; कुछ अन्य विद्वान राजनीतिक संस्कृति, समाजीकरण, राजनीतिक-आर्थिक विकास आदि को आधुनिक राजनीति विज्ञान का अंग मानते हैं। राजनीतिक संचार को कुछ अन्य विद्वानों ने राजनीति विज्ञान का अंग कहा है, जबकि दूसरों ने राजनीतिक संस्थात्मक संचार व राजनीति को आधुनिक राजनीति विज्ञान की विषय-वस्तु में सम्मिलित किया है। आधुनिक राजनीति विज्ञान का कार्य, वास्तव में, कठिन कार्य है। वह परम्परागत राजनीति विज्ञान की उपलब्धियों व उनकी समस्याओं को अपने विषय-क्षेत्र में समेट लेना चाहता है, साथ ही, वह भविष्य की राजनीतिक व्यवस्था तथा वर्तमान राजनीति की अनेक क्रियाओं, प्रक्रियाओं तथा उनकी वैज्ञानिक पद्धतियों को भी अपने विषय-क्षेत्र में सम्मिलित करना चाहता है। इस संदर्भ में रोलां, पिनाक तथा स्मिथ ने राजनीति विज्ञान की विषय-सामग्री को ध्यान में रखते हुए उसकी परिभाषा बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत की है। वे कहते हैं कि, “क्या है और क्या होना चाहिए तथा दोनों (यथार्थ एवं आदर्श) के बीच सामंजस्य कैसे बैठाया जाये, इस दृष्टि से सरकार और राजनीतिक प्रक्रिया के व्यवस्थित अध्ययन को राजनीतिक विज्ञान कहा जा सकता है।”

1.4 राजनीति विज्ञान की प्रकृति- विज्ञान अथवा कला

राजनीति विज्ञान को विज्ञान की श्रेणी में रखा जाए या कला की श्रेणी में, यह बात आज भी पूर्ण स्पष्ट नहीं है। इसका कारण यह है कि आज भी कुछ विद्वान इसे विज्ञान स्वीकार करने में हिचकते हैं, जबकि कुछ विद्वान इसे विज्ञान मान चुके हैं। इस पर विचार करने से पूर्व यह उचित है कि पहले 'विज्ञान' शब्द की परिभाषा पर विचार कर लिया जाए।

विज्ञान की परिभाषा- प्राकृतिक विज्ञानों के विचारक अपने विषयों को ही विज्ञान स्वीकार करते हैं; जैसे- रसायनशास्त्र, भौतिक विज्ञान, गणित, जीव विज्ञान, वनस्पति विज्ञान आदि विषय ही विज्ञान हैं, परन्तु विज्ञान की परिभाषा को सामान्यतया अब दूसरे रूप में स्वीकार किया जाने लगा है। विज्ञान की सामान्य परिभाषा है कि, "विज्ञान किसी विषय के क्रमबद्ध ज्ञान को कहते हैं।"

इस परिभाषा की अंग्रेजी के शब्दकोष चैम्बर्स डिक्शनरी से भी पुष्टि की जा सकती है, उसके अनुसार, "विज्ञान वह ज्ञान है जो पर्यवेक्षण और प्रयोग पर आधारित हो, भली-भाँति परीक्षित तथा क्रमबद्ध हो और सामान्य सिद्धांतों में समाहित हो।" विज्ञान की परिभाषा गार्नर ने इन शब्दों में दी है, "विज्ञान उस एकीकृत ज्ञान भण्डार को कहते हैं जिसकी प्राप्ति विधिवत पर्यवेक्षण, अनुभव और अध्ययन द्वारा हुई हो और जिसके तथ्यों का उनमें परस्पर उचित सम्बन्ध स्थापित करके क्रमबद्ध वर्गीकरण किया गया हो।"

उक्त परिभाषाओं से विज्ञान की निम्नलिखित विशेषताएँ प्रकट होती हैं-

1. विज्ञान में प्रयोगात्मक विधियों को काम में लाया जाता है।
2. निश्चित विधि तथा तर्क के आधार पर सामान्य सिद्धान्तों की स्थापना की जाती है।
3. विज्ञान के सिद्धान्त या नियम निश्चित तथा अटल होते हैं, वे सभी स्थानों और समयों में लागू होते हैं।
4. विज्ञान में भविष्यवाणी करने की अपूर्व क्षमता है।
5. प्रत्येक निष्कर्ष विवेचनात्मक है, अतः विश्लेषण के लिए उत्तरदायी है।
6. प्रत्येक निष्कर्ष कार्य-कारण के सम्बन्ध को स्पष्ट करता है।

विज्ञान की परिभाषा कर लेने के पश्चात् अब देखना होगा कि क्या राजनीति विज्ञान को विज्ञान की श्रेणी में रखा जाए या नहीं। इसको कुछ विद्वान विज्ञान स्वीकार करते हैं; जैसे- अरस्तू ने इसे सर्वोच्च

और पूर्ण विज्ञान माना है। बर्नाडशा इसे मानवीय सभ्यता को सुरक्षित रख सकने वाला विज्ञान कहते हैं। इनके अतिरिक्त बोदां, हॉब्स, मॉन्टेस्क्यू, ब्राइस, ब्लुट्श्ली, जैलीनेक, डॉ0 फाइनर, लास्की जैसे विद्वान भी इसे विज्ञान की श्रेणी में रखते हैं, जबकि इसके विपरीत बकल, कॉम्टे, मेटलैण्ड, लियर्ड, केटलिन, मोस्का, ब्रोमन, बर्क जैसे विद्वान राजनीति विज्ञान को विज्ञान स्वीकार नहीं करते हैं। अब इन दोनों पर विस्तार से विचार कर लेना उचित होगा।

राजनीति विज्ञान, विज्ञान नहीं है

बकल, कॉम्टे, मेटलैण्ड आदि विचारक इस विषय को विज्ञान स्वीकार नहीं करते। इसका कारण यह है कि उनके अनुसार विज्ञान ज्ञान की वह शाखा है जिसके अन्तर्गत कार्य और कारण में सदैव निश्चित सम्बन्ध पाया जाता हो और जिसके निष्कर्ष निश्चित एवं शाश्वत हों। इस आधार पर वे राजनीतिविज्ञान को विज्ञान स्वीकार नहीं करते हैं। कॉम्टे का विचार है कि, “राजनीति विज्ञान के विशेषज्ञ उसकी अध्ययन विधियों, सिद्धान्तों एवं निष्कर्षों के सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं। इसमें विकास की निरन्तरता का अभाव है जिनके आधार पर भविष्य के लिए ठीक निष्कर्ष निकाले जा सकें।” बकल के अनुसार, “ज्ञान की वर्तमान दशा में राजनीतिविज्ञान का विज्ञान होना तो दूर रहा, यह कलाओं में भी सबसे पिछड़ी हुई कला है।”

विज्ञान शब्द इस विषय के साथ जुड़ने पर मेटलैण्ड को बहुत दुःख है। उनके शब्दों में, “जब मैं राजनीतिशास्त्र शीर्षक के अन्तर्गत प्रश्न देखता हूँ तो मुझे प्रश्नों पर नहीं बल्कि शीर्षक पर आश्चर्य होता है।” मेटलैण्ड के अनुसार राजनीति विज्ञान, विज्ञान हो ही नहीं सकता।

इन विद्वानों ने अपने कथन के पक्ष एवं समर्थन में निम्न तर्क प्रस्तुत किये हैं-

1. सुनिश्चित परिभाषित शब्दावली का अभाव- राजनीति विज्ञान में हम एक निश्चित परिभाषिक शब्दावली का अभाव पाते हैं। इसे राजनीति, राजनीतिक दर्शन तथा राजनीति विज्ञान आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है। इसके अनेक ऐसे शब्द हैं जिनके वास्तविक अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद पाये जाते हैं। विज्ञान में H₂O का अर्थ प्रत्येक स्थान पर एक ही होगा, चाहे वह ब्रिटेन हो या भारत किन्तु राजनीति विज्ञान में स्वतंत्रता, समानता, न्याय, सम्प्रभुता, लोकतंत्र, लोकमत, संघवाद एवं अधिकार आदि के भिन्न-भिन्न देशों में विद्वानों द्वारा भिन्न-भिन्न अर्थ लगाए जाते हैं। इस तरह जिस विषय का अपना कोई स्पष्ट एवं निश्चित स्वरूप ही न हो, उसे विज्ञान की संज्ञा कैसे दी जा सकती है।

2. सर्वमान्य नियमों तथा तथ्यों का अभाव- भौतिक तथा प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति इसमें सर्वमान्य नियमों, तथ्यों तथा सिद्धान्तों का निर्धारण नहीं हो पाता है। विज्ञान में कुछ निश्चित नियम तथा सिद्धान्त

होते हैं जो सर्वमान्य एवं सार्वभौम होते हैं। उदाहरणार्थ, ज्यामिति का यह नियम अटल एवं सर्वमान्य है कि, “एक त्रिभुज के तीनों कोणों का योग दो समकोण के बराबर होता है।” किन्तु राजनीतिविज्ञान में ऐसा नहीं है। इसी तरह गति विज्ञान के नियमानुसार, “प्रत्येक क्रिया की उतनी ही विपरीत प्रतिक्रिया होती है” का नियम भी अटल एवं शाश्वत है। इसी तरह इसमें गणितके 2 और 2 चार अथवा भौतिक विज्ञान के ‘गुरुत्वाकर्षण नियम’ की भाँति किन्हीं सर्वमान्य एवं शाश्वत नियमों का सर्वथा अभाव पाया जाता है। यदि एक ओर आदर्शवादी राज्य की सर्वोच्च सत्ता को मान्यता देते हैं तो दूसरी ओर, साम्यवादी तथा अराजकतावादी इसको अमान्य करते हैं।

यदि बेंजामिन फ्रैंकलिन, लास्की और एबेसीज जैसे विद्वान एक सदनीय व्यवस्थापिका के पक्षधर हैं तो लैकी, सिजविक तथा ब्लटश्ली आदि इसके घोर विरोधी हैं। यदि एक पक्ष के लिए प्रजातंत्र सर्वश्रेष्ठ शासन पद्धति है तो दूसरे पक्ष के लिए वह बहुत बुरी तथा निकृष्ट शासन पद्धति है। अन्य तथ्यों तथा सिद्धान्तों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार के मतभेद एवं विरोधाभास दिखाई पड़ते हैं।

3. प्रयोग व पर्यवेक्षण सम्भव नहीं- इसमें भौतिक तथा प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति प्रयोग एवं पर्यवेक्षण की सुविधाएं प्राप्त नहीं हैं। इसमें हम भौतिक, रसायन, जीव एवं मौसम विज्ञानों आदि की भाँति प्रयोगशालाओं में जाकर तथ्यों तथा पदार्थों के सम्बन्ध में कोई निश्चित एवं सन्तोषजनक समाधान नहीं निकाल सकते हैं क्योंकि इसका सम्बन्ध मानव एवं उससे सम्बन्धित विचारधाराओं से होता है जिनका प्रयोग प्रयोगशालाओं या वेधशालाओं में सम्भव नहीं है। अर्थात् विज्ञान में हम ताप या गैस का दबाव सही-सही माप सकते हैं क्योंकि वे निर्जीव और भावनाहीन होती हैं, जबकि मानव के आवेग, उत्तेजना, भावना अभिलाषा, क्रोध, प्रेम और विचार का ठीक-ठीक और बार-बार नहीं माप सकते हैं, क्योंकि मानव का स्वभाव परिवर्तनशील, प्रतिक्रियावादी और भावना प्रधान होता है। ब्राइस के शब्दों में, “भौतिक विज्ञान में एक निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए बार-बार प्रयोग किया जा सकता है किन्तु राजनीति में एक प्रयोग बार-बार नहीं दोहराया जा सकता है।”

4. भविष्यवाणी सम्भव नहीं- विज्ञान में निश्चित नियम होने से शत-प्रतिशत सही भविष्यवाणी की जा सकती है; जैसे- ज्योतिष विद्या के आधार पर बहुत समय पूर्व चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण की भविष्यवाणी की जाती है और जो पूर्णतया सत्य सिद्ध होती है। परन्तु ऐसी भविष्यवाणी हमारे विषय के सम्बन्ध में नहीं की जा सकती है। राजनीतिविज्ञानी यह नहीं बता सकता कि किस निश्चित विचार का जनता पर क्या असर होगा या किस देश में कब जन-असन्तोष फैलकर क्रान्ति लाएगा और कब जन-समर्थन सरकार को मिलेगा। इसी आधार पर बर्क ने कहा था कि, “राजनीति विज्ञान में भविष्यवाणी करना मूर्खता है।” लॉस्की के भी कहा है कि, “हम अनुभव के आधार पर भविष्यवाणी कर सकते हैं। हमारी भविष्यवाणी तथ्यों के अभाव एवं अनिश्चितता के कारण सीमित है।”

5. कार्य-कारण में निश्चित सम्बन्ध का अभाव- विज्ञान की एक विशेषता यह है कि उसमें प्रत्येक कार्य का एक निश्चित और स्पष्ट कारण होता है। उदाहरण के लिए, यदि जल को एक निश्चित मात्रा तक गर्म किया जाए तो वह वाष्प बन जाता है और यदि निश्चित मात्रा तक ठंडा किया जाए तो बर्फ बन जाता है। इसका कोई अपवाद नहीं है। परन्तु राजनीतिविज्ञान में कार्य-कारण का सम्बन्ध इतना स्पष्ट और निश्चित नहीं हो सकता है। यह कहना कठिन होगा कि कौन-सी राजनीतिक घटना किस कारण से हुई? क्योंकि प्रत्येक राजनीतिक घटना के अनेक जटिल कारण हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, भारतीय स्वतंत्रता के पीछे किसी अकेले कारण को बताना सही नहीं होगा अथवा किसी देश में होने वाली क्रान्ति के पीछे किसी अकेले कारण को उत्तरदायी नहीं माना जा सकता है। अतः राजनीतिविज्ञान में कार्य का कारण उतना निश्चित और स्पष्ट नहीं होता है जितना कि प्राकृतिक विज्ञानों में होता है।

6. निश्चित अध्ययन पद्धति का अभाव- भौतिक विज्ञानों की अध्ययन पद्धति निश्चित होती है, इस कारण इनका अध्ययन निष्कर्ष सही निकालता है। राजनीति विज्ञान की अनेक अध्ययन पद्धति हैं जिससे इसके परिणाम अनिश्चित होते हैं। इसकी कार्यविधि, प्रक्रिया, आदर्श और निष्कर्ष एक समान नहीं हो पाते हैं। चार्ल्स ए(0) बीयर्ड के शब्दों में, “राजनीति और इतिहास के प्रत्येक वर्णन में अस्पष्टता रहती है और रहनी भी चाहिए क्योंकि इनके विद्यार्थी मानव कार्यों का अध्ययन करते समय उस मानसिक दशा में नहीं रहते जिस प्रकार कि भौतिकी की समस्याओं का अध्ययन करते समय मग्न रहते हैं।”

7. अध्ययन विषय आत्मपरक है, वस्तुपरक नहीं- प्राकृतिक विज्ञान वस्तुपरक होता है। इसकी अध्ययन वस्तु निर्जीव होने के कारण अनुसंधानकर्ता मानवीय भावनाओं से परे रहते हुए तटस्थता के साथ अध्ययनरत बना रहता है, लेकिन राजनीति विज्ञान का अध्ययन विषय मानव है, अतः यह आत्मपरक होता है। इसलिए अध्ययनकर्ता का तटस्थ रहना बहुत कठिन होता है।

उपर्युक्त तथ्यों के कारण हम राजनीति विज्ञान को अन्य प्राकृतिक तथा भौतिक विज्ञानों की भाँति विशुद्ध विज्ञान नहीं मान सकते हैं। इसी आधार पर विलोबी का कथन है कि, “राजनीति का विज्ञान बनना न तो सम्भव है और न ही वाछनीया।” इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि राजनीति विज्ञान में वैज्ञानिकता का सर्वथा अभाव है।

राजनीति विज्ञान, ‘विज्ञान’ है

राजनीति विज्ञान को विज्ञान न मानने के समर्थन में जो तर्क दिए गए हैं उनमें सत्यांश अवश्य हैं, लेकिन वे पूर्णतया सत्य सत्य नहीं हैं। वर्तमान समय के शोधों से राजनीतिक विज्ञान का जिस तीव्र गति से विकास हुआ है तथा इसके अध्ययन के लिए जो वैज्ञानिक अध्ययन पद्धतियाँ प्रयोग की गई हैं, उनसे राजनीतिविज्ञान, विज्ञान सिद्ध होता है। विज्ञान के तत्वों की विवेचना और सूक्ष्म अध्ययन करने से यह

ज्ञात होता है कि विज्ञान की बहुत-सी मान्यताएँ और तत्व राजनीति विज्ञान पर भी लागू किए जा सकते हैं। राजनीतिविज्ञान के विज्ञान होने के पक्ष में कुछ तथ्य निम्न प्रकार हैं-

1. सुस्पष्ट, सुनिश्चित एवं क्रमबद्ध अध्ययन- विज्ञान का महत्वपूर्ण लक्षण है कि वह क्रमबद्ध ज्ञान होता है। यह लक्षण राजनीतिविज्ञान में भी पूर्ण रूप से पाया जाता है। राजनीतिविज्ञान में राज्य का उद्भव, विकास के चरण, सरकार के प्रकार, अन्य राजनीतिक संस्थाओं, विचारधाराओं का क्रमबद्ध ज्ञान उपलब्ध है। राजनीतिविज्ञान का आज जो भी अध्ययन किया जाता है उसका आधार भूतकालीन ज्ञान ही है। विषय के अधिकांश नियम स्थापित हो गए हैं। इसकी सभी बातों का एक क्रमबद्ध ज्ञान के रूप में अध्ययन किया जा सकता है।

2. पर्यवेक्षण तथा प्रयोग सम्भव- विज्ञान की भॉति राजनीति विज्ञान में भी बहुत कुछ पर्यवेक्षण एवं प्रयोग सम्भव हैं। राजनीति विज्ञान अपने आप में एक अनूठी तथा विशाल प्रयोगशाला है जहाँ विभिन्न सिद्धान्तों तथा शासन पद्धतियों का सफल परीक्षण एवं प्रयोग किया जा सकता है। राजनीति विज्ञान में तो पर्यवेक्षक एवं प्रयोगों की व्यवस्था रहती है। जैसे लोकतंत्रात्मक तथा अन्य शासन पद्धतियों के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि लोकतंत्रात्मक शासन पद्धति अन्य पद्धतियों की अपेक्षा कहीं अधिक लोकप्रिय एवं लोकहित के प्रति सजग रहती है। संघवाद, बहुलवाद, समाजवाद, साम्यवाद, लोकप्रिय सम्प्रभुता तथा लोक कल्याणकारी राज्य की धारणा आदि का राजनीति में समावेश एक प्रयोग के तौर पर ही हुआ है तथा उन्हें अत्यधिक सफलता भी प्राप्त हुई है।

यद्यपि इसमें पदार्थ विज्ञानों की भॉति प्रयोगशालाओं में बैठकर पूर्ण निश्चितता एवं सरलता से प्रयोग तो नहीं किये जा सकते, फिर भी राजनीति विज्ञान में प्रयोग होते रहे हैं और होते जा रहे हैं। गार्नर के शब्दों में, “प्रत्येक नवीन कानून का बनना, प्रत्येक नई संस्था का गठन तथा प्रत्येक नई बात का प्रारम्भ एक प्रयोग ही होता है।” भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्तर्गत अपनाया गया अहिंसात्मकसत्याग्रह, भारतीय शासन तथा राजनीति में पंचायती राज, सामुदायिक विकास योजना तथा प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण की योजना आदि इसी प्रकार के राजनीतिक प्रयोगों के ही उदाहरण हैं।

3. सर्वमान्य नियमों तथा सिद्धान्तों की क्षमता- राजनीति विज्ञान में भी प्राकृतिक तथा भौतिक विज्ञानों की भॉति कुछ सामान्य नियम एवं शाश्वत सिद्धान्त हैं। राज्य, विधि, न्याय, शिक्षा तथा क्रान्तियों आदि के सम्बन्ध में कुछ ऐसे सार्वजनिक एवं शाश्वत नियम एवं निश्चित सिद्धान्त हैं जो प्रत्येक परिस्थिति तथा देश में लागू होते हैं। इनके आधार पर कुछ सामान्य निष्कर्ष भी निकाले जा सकते हैं। प्लेटो का न्याय एवं शिक्षा सिद्धान्त, अरस्तू का राज्य वर्गीकरण तथा क्रान्ति का सिद्धान्त, रोमन-विधि सिद्धान्त, बोदों का सम्प्रभुता सिद्धान्त, रूसो तथा लॉक की स्वतंत्रता सम्बन्धी धारणा तथा गाँधी जी के सत्याग्रह सम्बन्धी विचार प्रायः सर्वमान्य तथा शाश्वत सिद्धान्तों के रूप में हैं।

4. कार्य-करण सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है- पदार्थ विज्ञानों की भाँति राजनीति विज्ञान में भी कार्य-करण सम्बन्ध स्थापित किये जा सकते हैं। अनुभव यह दर्शाता है कि जब भी कोई शासक अत्याचारी, अनुत्तरदायी एवं क्रूर होता है एवं शासन व्यवस्था जनहितकारी नहीं होती तो वहाँ फ्रांस, रूस, भारत तथा अन्य एशियाई तथा अफ्रीकी देशों की भाँति क्रान्तियाँ तथा विद्रोह अवश्य होते हैं। बंगलादेश तथा अफगानिस्तान की क्रान्तियाँ इसका एक प्रमुख तथा ताजा उदाहरण हैं। क्रान्ति के सम्बन्ध में कार्य-कारण का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। इस तरह इसमें यद्यपि पदार्थ विज्ञानों की भाँति प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता, फिर भी विशेष घटनाओं के अध्ययन से कुछ सामान्य परिणाम एवं निष्कर्ष तो निकाले ही जा सकते हैं। ब्राइस द्वारा इस तथ्य को स्वीकार किया गया है।

5. भविष्यवाणी की क्षमता- जहाँ तक भविष्यवाणियों का सम्बन्ध है, इसमें प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति तो भविष्यवाणी नहीं की जा सकती किन्तु इसमें भी भविष्यवाणियाँ हो सकती हैं और बहुधा सत्य भी सिद्ध होती हैं। उदाहरणार्थ, वर्तमान में देश में होने वाले चुनावों के सम्बन्ध में विभिन्न सर्वेक्षणों द्वारा भविष्यवाणियों की जाती रही हैं और बहुत-सी भविष्यवाणियाँ सत्यता की कसौटी पर खरी भी उतरी हैं। डॉ० फाइनर के मतानुसार, “इसमें हम निश्चिततापूर्वक भविष्यवाणियाँ नहीं कर सकते किन्तु सम्भावनाएँ तो व्यक्त कर ही सकते हैं। लार्ड ब्राइस के शब्दों में, “भौतिक विज्ञान में भविष्यवाणी निश्चित होती है, राजनीति में सम्भावना से अधिक नहीं।” परन्तु इससे इस विषय के विज्ञान होने पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि मौसम विज्ञान की भविष्यवाणियाँ पूर्ण सत्य नहीं होती हैं, लेकिन फिर भी उसे सापेक्ष सत्य के आधार पर ही विज्ञान माना जाता है, यही स्थिति राजनीति विज्ञान की है। लॉर्ड ब्राइस के अनुसार, “राजनीति विज्ञान की तुलना ऋतु विज्ञान जैसे अपूर्ण विज्ञान से की जा सकती है।”

मतैक्यता का अभाव एवं परिभाषिक शब्दावली का अभाव होना भी कुछ अधिक सही नहीं माना जा सकता है।

वस्तुतः राजनीति विज्ञान की वैज्ञानिकता के सम्बन्ध में प्रथम पक्ष द्वारा उठायी गयी आपत्तियाँ तथा शंकाएँ बहुत कुछ निराधार एवं बेबुनियाद प्रतीत होती हैं। भौतिक तथा प्राकृतिक विज्ञानों से भिन्न होने के बाद भी राजनीति विज्ञान एक विज्ञान है। अधिकांश राजनीतिक विचारक इसे विज्ञान मानने के पक्ष में हैं।

निष्कर्ष के रूप में हम यही कह सकते हैं कि विज्ञान के दो रूप हैं-संकीर्ण और वृहद्। संकीर्ण विज्ञान प्राकृतिक विज्ञान ही होता है क्योंकि विज्ञान की सत्यता, निश्चितता, क्रमबद्धता एवं प्रयोग की सुविधा प्राकृतिक विज्ञानों में ही मिल सकती है। दूसरी तरफ वृहद् विज्ञान से अभिप्राय है- ज्ञान की वह शाखा जो क्रमबद्ध ज्ञान प्रस्तुत करती है; जैसे- अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, राजनीतिविज्ञान, समाजशास्त्र, भाषा

विज्ञान आदि। राजनीति विज्ञान में प्राकृतिक विज्ञान की निश्चितता, शुद्धता, क्रमबद्धता तथा प्रयोग की सुविधा न होते हुए भी इसमें वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग, सामान्य सिद्धान्तों का पाया जाना, भविष्यवाणी की सम्भावना पाई जाती है। इसलिए यह विषय वृहद अर्थ में विज्ञान है, लेकिन प्राकृतिक विज्ञान की तरह शुद्ध विज्ञान नहीं है। इसे एक सामाजिक विज्ञान कहा जा सकता है, क्योंकि-

1. राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध सामाजिक और राजनीतिक जीवन की जटिल समस्याओं से होता है।
2. मनुष्य का स्वभाव परिवर्तनशील एवं जटिल होता है, इसलिए सिद्धान्त के आधार पर इसका अध्ययन नहीं किया जा सकता।
3. राजनीतिविज्ञान पर अचेतन रूप में व्यक्ति के व्यक्तिगत विचारों एवं द्वेषों का प्रभाव होता है।
4. राजनीतिविज्ञानी को अपने विषय के मौलिक पहलू को भी ध्यान में रखना होता है।

उपरोक्त अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजनीतिविज्ञान, प्राकृतिक विज्ञान की श्रेणी में न आते हुए भी सामाजिक विज्ञान है। गिलक्राइस्ट के शब्दों में, “यद्यपि सामाजिक विज्ञानों में प्राकृतिक विज्ञानों जैसी यथार्थता प्राप्त करना कठिन है तथापि सामाजिक समस्याओं पर उसी वैज्ञानिक ढंग से विचार किया जा सकता है जैसा कि रसायनशास्त्र या भौतिकशास्त्र में।” लार्ड ब्राइस ने इसे ऋतु विज्ञान की भाँति अपूर्ण और अविकसित विज्ञान कहा है। सर फ्रेडरिक पोलक के अनुसार, “जिस प्रकार नैतिकता का विज्ञान है, उसी भाव में और उसी तरह अथवा लगभग उसी सीमा तक राजनीति भी विज्ञान है।”

राजनीति विज्ञान एक कला है

चूँकि राजनीति विज्ञान को कुछ कारणों से एक पूर्ण तथा विशुद्ध विज्ञान मानना तर्कसंगत एवं उचित प्रतीत नहीं होता। अतः अनेक विद्वानों द्वारा इसे कला के अन्तर्गत रखा गया है। ब्लंटश्ली के शब्दों में, “राजनीति से विज्ञान की अपेक्षा कला का ही कहीं अधिक बोध होता है तथा उसका सम्बन्ध राज्य के व्यावहारिक कार्यों एवं राज्य के संचालन से है।” गैटिल ने भी इसे कला ही माना है किन्तु बकल जैसे विद्वान भी हैं जो इसे कलाओं में भी सबसे पिछड़ी हुई कला मानते हैं।

कला का अर्थ एवं उद्देश्य

कला का आशय एवं उद्देश्य जीवन की सुन्दरतम अनुभूति से है। वह मानव की श्रेष्ठ कल्पनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति है। कला का उद्देश्य जीवन को मधुर एवं समुन्नत बनाना है। कला का उद्देश्य ठोस तथ्यों का प्रतिपादन करना है। निम्न आधारों पर हम इसकी विवेचना कर सकते हैं-

1. एक कलाकार की भाँति राजनीति विज्ञानी भी अपने विचारों की अभिव्यक्ति बहुत अच्छे ढंग से करने का प्रयास करते हैं। वे विचारों तथा तथ्यों का आकर्षक रंगों के माध्यम से उसे लोकप्रिय, भव्य तथा लोकोपयोगी बनाने का भी प्रयत्न करते हैं। संगीत एवं कला की भाँति ही राजनीति विज्ञान का उद्देश्य भी राज्य एवं नागरिकों के लिए आदर्श सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर मानव जीव को समुन्नत, सुखी, आदर्श एवं मधुर बनाना होता है।

2. राज्य अपने उद्देश्यों की पूर्ति एवं कार्य संचालन के लिए जिस प्रकार के नियम, साधन या उपाय अपनाता है, वह कला के अन्तर्गत ही आते हैं। व्यावहारिक राजनीति का सम्बन्ध कला से ही है।

3. स्वयं शासन करना भी एक श्रेष्ठ कला ही है। इसीलिए प्लेटो शासन का उत्तरदायित्व योग्य तथा प्रशिक्षित दार्शनिकों को ही सौंपने के पक्ष में था। प्रायः प्रत्येक शासन में एक अच्छे तथा आदर्श शासक की आवश्यकता एवं महत्व पर बल दिया जाता है। शासक के पास सूझ-बूझ एवं चतुराई होनी चाहिए, ताकि उसे अपने उद्देश्यों में सफलता प्राप्त हो सके।

इस प्रकार शासन करना स्वयं अपने आप में एक श्रेष्ठ कला है। अतः बकल का यह कथन निराधार प्रतीत होता है कि, “राजनीति कलाओं में भी सबसे पिछड़ी हुई कला है।” वस्तुतः राजनीति एक श्रेष्ठ कला है।

1.5 राजनीति विज्ञान के अध्ययन की उपयोगिता

अरस्तू मानव जीवन को नैतिक और सभ्य बनाने के लिए राजनीति विज्ञान के अध्ययन को आवश्यक समझता था। मनुष्य के जीवन में राजनीति विज्ञान के अध्ययन के महत्व को नकारा नहीं जा सकता है। संक्षेप में, राजनीति विज्ञान के अध्ययन की उपयोगिता निम्नवत् है-

1. मानव अधिकारों एवं कर्तव्यों का ज्ञान- राजनीति विज्ञान के अध्ययन से व्यक्ति मानवीय अधिकारों का ज्ञान प्राप्त कर अपने व्यक्तित्व का सर्वोच्च विकास कर सकते हैं तथा कर्तव्यों का ज्ञान प्राप्त कर समाज एवं राज्य की उन्नति में योगदान दे सकते हैं। राजनीति विज्ञान मानव को उसके अधिकार और कर्तव्यों का ज्ञान कराता है जिससे मनुष्य समाज की श्रेष्ठतम इकाई के रूप में जीवन व्यतीत कर सके। इसके साथ ही राजनीति विज्ञान व्यक्तियों में परस्पर उचित सम्बन्ध स्थापित करके संघर्ष के स्थान पर

सहयोग के सिद्धान्तों को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार राजनीति विज्ञान का अध्ययन व्यक्ति और समाज दोनों के लिए ही उपयोगी है।

2.राष्ट्रीय और संवैधानिक इतिहास का ज्ञान- राजनीति विज्ञान के अध्ययन के आधार पर अपने देश की प्राचीन गौरव और प्राचीन असफलताओं का ज्ञान होता है। भारतीय राजनीति का विद्यार्थी अपने देश के राष्ट्रीय इतिहास का अध्ययन करने के उपरान्त यह निश्चित कर सकता है कि हमारी आजादी कितने बलिदानों के परिणाम स्वरूप मिली है, इसलिए इसकी हमें सदैव रक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार विभिन्न देशों के राजनीति विज्ञान के विद्यार्थी अपने-अपने देश की प्राचीन परम्पराओं, इतिहास और संस्कृति का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

3.राज्य एवं सरकार का ज्ञान- राजनीति विज्ञान में राज्य और सरकारों के संगठन, गुण-दोषों का अध्ययन किया जाता है। सरकार के विभिन्न रूपों में हमारे देश के लिए कौन-सा रूप सर्वोत्तम होगा, सरकार के कार्यों का मूल्यांकन किस आधार पर किया जाए, सरकार की कमियों को दूर करने के उपाय आदि की जानकारी राजनीति विज्ञान से मिलती है। शासन व्यवस्था और सरकार के अधिकार और कर्तव्यों का विश्लेषण भी इसमें किया जाता है।

4.उत्तम प्रशासन कला का ज्ञान- राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत प्रशासन को कुशल और जनहितकारी बनाने के लिए सरकारी कर्मचारियों के चयन और प्रशिक्षण आदि विषयों का अध्ययन किया जाता है। वर्तमान में राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत उत्तम प्रशासन तथा प्रशासन को जनता के प्रति अधिक से अधिक उत्तरदायी बनाने के उपायों पर विचार किया जा रहा है।

5.उदार मानवीय दृष्टिकोण का निर्माता- आधुनिक युग में वैज्ञानिक प्रगति के कारण सम्पूर्ण विश्व ने एक इकाई का रूप धारण कर लिया है और समस्त विश्व के मनुष्य एक-दूसरे के बहुत निकट आ गये हैं। राजनीति विज्ञान हमें अपने और विश्व के दूसरे देशों का ज्ञान प्रदान कर हमारे दृष्टिकोण को व्यापक और उदार बनाता है। राजनीति विज्ञान हमें परिवार, जाति, गाँव और नगर के अतिरिक्त राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार करने की क्षमता प्रदान करता है। यह शिक्षा देता है कि व्यक्ति से परिवार बड़ा है, परिवार से गाँव, गाँव से जिला, जिला से प्रान्त और प्रान्त से देश और देश से बड़ा विश्व है। व्यक्ति को परिवार के हित में, परिवार को गाँव के हित में, गाँव को जिला के हित में, जिला को प्रान्त के हित में, प्रान्त को राष्ट्र के हित में अपने स्वार्थ त्यागने चाहिए। क्षेत्रीय संकीर्णता, भाषावाद, जातिवाद, रंगभेद, लिंगभेद, धर्मभेद सबसे ऊपर उठकर मानव मात्र की समानता को एक मात्र आधार मानें और विश्व कल्याण की भावना से कार्य करें। आज राजनीति विज्ञान मानव को विश्व राज्य निर्माण करने की ओर प्रेरणा दे रहा है। यदि ऐसा हो सका तो समस्त मानव-मानव के भेद सदैव के लिए समाप्त हो जाएँगे।

6. राजनीतिक चेतना का विकास- राजनीति विज्ञान नागरिकों में राजनीतिक चेतना जाग्रत करता है। राजनीतिक चेतना के अभाव में नागरिक अपने कर्तव्यों का पालन उचित रूप में नहीं कर पाते हैं और नेता तथा प्रशासक पथ-भ्रष्ट हो सकते हैं। राजनीति विज्ञान के ज्ञान से सम्पन्न राजनीतिक चेतना युक्त जनता शासकों को भ्रष्ट होने से रोकती है तथा सरकार की गलत नीतियों की आलोचना कर शासन को जनहितकारी बनाने का यथासम्भव प्रयास करती है। राजनीतिक दृष्टि से जागरूक जनता ही बाह्य आक्रमण तथा आन्तरिक संकटों का सामना कर सकती है।

7. अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का ज्ञान- संचार के द्रुतगति के साधनों ने सारे विश्व को समेट कर आज बहुत छोटा कर दिया है। आज विश्व के किसी भी कोने में कोई घटना घटती है, उसकी तुरन्त सूचना दुनियाभर को हो जाती है और उसका प्रभाव भी किसी न किसी रूप में दूसरों पर पड़ता ही है। आज कोई भी घटना स्थानीय या राष्ट्रीय नहीं रह पाती है। ऐसी स्थिति में राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन आवश्यक भी हो जाता है और महत्वपूर्ण भी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि राजनीति विज्ञान के भाग ही हैं। इसके माध्यम से ही निःशस्त्रीकरण, अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं, अन्तर्राष्ट्रीय विचारधाराओं आदि का अध्ययन किया जाता है, जो प्रत्येक देश के लिए अनिवाय है। विदेश सम्बन्ध और राष्ट्रीय राजनीति पर अन्तर्राष्ट्रीय दबाव, शीतयुद्ध, आर्थिक साम्राज्यवाद जैसे महत्वपूर्ण प्रश्नों की जानकारी इस विषय से मिलती है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि राजनीति विज्ञान का अध्ययन हमारे लिए महत्वपूर्ण है। आज यह सम्भव नहीं है कि व्यक्ति राजनीति विज्ञान के प्रति उपेक्षा बरतें। व्यक्ति भले ही राजनीति में रूचि न रखे या राजनीति से दूर रहना चाहे परन्तु राजनीति उससे दूर नहीं रह पाती है, उन तक पहुँच ही जाती है। रॉबर्ट ए० डहल के अनुसार, “राजनीति आज मानवीय अस्तित्व का अपरिहार्य तत्व बन गई है। प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी रूप में, किसी न किसी समय, किसी न किसी प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था से सम्बद्ध है।” आज राजनीति विज्ञान का अध्ययन द्रुतगति से अधिकाधिक उपयोगी होता जा रहा है। आइवर ब्राउन के अनुसार, “सामाजिक जीवन के वास्तविक मूल्य के प्रति यदि सहज बुद्धि से देखा जाय तो राजनीति विज्ञान का अध्ययन उपयोगी और सार्थक सिद्ध होगा।”

1.6 परम्परावादी राजनीति विज्ञान की विशेषताएँ

परम्परागत राजनीति विज्ञान कल्पना और दर्शन पर आधारित है। यह अपने प्रतिपादक राजनीतिक दार्शनिक एवं चिन्तकों के व्यक्तित्व एवं दृष्टिकोण से प्रभावित रहा है। अधिकांश दार्शनिक विचारक आचारशास्त्र या दर्शनशास्त्र से प्रभावित रहे हैं। उन्होंने मानवीय चिन्तन में सामाजिक लक्ष्यों तथा मूल्यों की ओर ध्यान दिया है। उदाहरणार्थ- हम यूनानी विचारकों द्वारा प्रतिपादित नैतिक जीवन की उपलब्धि का विचार, मध्ययुग के ईसाई सन्त दार्शनिकों का ईश्वरीय राज्य स्थापित करने का विचार तथा

आदर्शवादियों के विवेक से साक्षात्कार ले सकते हैं। इन विद्वानों के विचारों को परानुभववादी कहा गया है। उनके व्यक्तिपरक विचार और उनकी चिन्तन प्रणाली निगमनात्मक है। आधुनिक युग में परम्परागत राजनीति विज्ञान के प्रबल समर्थकों की काफी संख्या है। यहाँ हम रूसो, काण्ट, हीगल, टी0एच0 ग्रीन, बोसांके, लास्की, ओकशॉट, लियो स्ट्रॉस इत्यादि की रचनाओं में प्लेटो के विचारों की झलक देख सकते हैं।

परम्परागत राजनीति विज्ञान की प्रमुख विशेषतायें निम्नवत् स्पष्ट की जा सकती हैं-

1. 'राज्य' की प्रधानता एवं राज्य को एक नैतिक सामाजिक अनिवार्य संस्था माना है। फलतः उद्देश्य आदर्श राज्य की खोज ही नहीं रहा, अपितु इसके लिए अत्यधिक हटधर्मिता रही।
2. कल्पनात्मक, आदर्शों का अध्ययन एवं दर्शनशास्त्र से घनिष्ठता।
3. अध्ययन प्रतिपादक राजनीतिक दार्शनिकों एवं चिन्तकों के व्यक्तित्व से प्रभावित, फलतः व्यक्तिनिष्ठ अध्ययन।
4. अपरिष्कृत परम्परागत अध्ययन पद्धतियों (ऐतिहासिक) दार्शनिक का प्रयोग, फलतः वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग नहीं किया गया।
5. अध्ययन में नैतिकता और राजनीतिक मूल्यों पर विशेष बल दिया गया है।
6. यह प्रधानतः संकुचित अध्ययन है क्योंकि इसमें सिर्फ पाश्चात्य राज्यों की शासन व्यवस्था पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। एशिया, अफ्रीका एवं लैटिन अमेरिका आदि की राजनीतिक व्यवस्थाओं के अध्ययन को महत्व नहीं दिया गया है।

1.7 आधुनिक राजनीति विज्ञान की विशेषताएँ

आधुनिक राजनीति विज्ञान अभी विकासशील अवस्था में है। आधुनिक राजनीति विज्ञान की मुख्य विशेषताएँ निम्नांकित है-

१. आधुनिक राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में अध्ययन मुक्तता की प्रवृत्ति पायी जाती है। यह परम्परागत राजनीति विज्ञान की सीमाओं को तोड़कर अध्ययन करते हैं। राजनीतिक घटनाएँ तथा तथ्य जहाँ भी उपलब्ध हों, चाहे वे समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र या धर्मशास्त्र के विषय हों, अब राजनीति विज्ञान के विषय बन गये हैं। उनका मानना है कि राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित करने वाली वास्तविक परिस्थितियों

का अध्ययन किया जाये तथा उन्हीं के आधार पर राजनीतिक घटनाक्रम की व्याख्या व विश्लेषण किया जाये।

२. आधुनिक राजनीति विज्ञान व्यवहारिकतावादी अनुभवात्मक व यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाने पर जोर देता है। अधिकांश अध्ययन-ग्रंथ विश्लेषणात्मक व अनुभवात्मक हैं, जो पर्यवेक्षण माप, तार्किकता, युक्तियुक्तता आदि तकनीकों पर आधारित हैं।

३. आधुनिक राजनीति विज्ञान विभिन्न सामाजिक विज्ञानों तथा प्राकृतिक विज्ञानों से काफी प्रभावित रहा है। अतः नवीन पद्यतियों में वैज्ञानिक पद्यति को प्रमुख स्थान दिया गया है। इसी के साथ वैज्ञानिक मूल्य-सापेक्षतावाद को भी प्रमुख स्थान प्रदान किया गया, जिसका तात्पर्य है कि एक शोधकर्ता शोध करते समय स्वयं के मूल्यों, धारणाओं, पूर्वाग्रहों को शोध से पृथक रखता है। उसके आचरण में बौद्धिक निष्पक्षता तथा सत्यनिष्ठा पायी जाती है। यह तात्त्विकता का विवेचन करता है तथा अतितथ्यवादिता से बचता है। वैज्ञानिक पद्यति के प्रयोग द्वारा अब राजनीति वैज्ञानिक सामान्यीकरणों व्याख्याओं और सिद्धान्त-निर्माण में लगे हैं। अब सिद्धान्त-निर्माण कठोर शोध प्रक्रियाओं पर आधारित है। शोध व सिद्धान्त में निश्चित संबंध में पाये जाने लगे हैं। सिद्धान्त निर्माण की प्रक्रिया अब शोध-उन्मुखी हो गयी है।

४. आधुनिक राजनीति विज्ञान के विद्वान इस तथ्य से सुपरिचित हैं कि जिन संस्थाओं और विषयों का अध्ययन वे करते हैं, उनका अध्ययन अन्य अनुशासनों में भी किया जा रहा है। अतः राजनीति विज्ञान को पृथक अस्तित्व प्रदान किया जाना चाहिए। डेविड ईस्टन, रॉबर्ट डहल, आमण्ड, पॉवेल, कोलमैन, ल्यूसियन पाई, सिडनी वर्बा, कार्ल डायच, मैक्रीडीस आदि विद्वानों ने राजनीति विज्ञान को स्वतंत्र अनुशासन बनाये जाने के प्रयत्न किये। उदाहरणार्थ डेविड ईस्टन ने “राजनीति को मूल्यों का सम्पूर्ण समाज के लिए आधिकारिक वितरण/आंबटन बताकर इसे अन्य अनुशासनों (व्यवस्थाओं) से पृथक व श्रेष्ठ घोषित किया।

५. आधुनिक राजनीति विज्ञान के विद्वान राजनीतिक तथ्यों और निष्कर्षों में एक सम्बद्धता एवं क्रमबद्धता लाना चाहते हैं। अपने क्षेत्र में विशिष्ट सुविज्ञता विकसित करना चाहते हैं ताकि वह स्वायत्ता प्राप्त कर सके। इसके लिए उन्होंने व्यवस्था सिद्धान्त या सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त को राजनीतिक विज्ञान में ग्रहण किया। नियंत्रण और नियमन से संबंधित होने के कारण राजनीति विज्ञान की मौलिकता स्वतः प्रमाणित है।

६. आधुनिक राजनीति विज्ञान अध्ययन की इकाई के रूप में मानव व्यवहार को चुनता है। अतः उससे संबंधित सभी तत्वों व तथ्यों का विश्लेषण किया जाना आवश्यक हो जाता है। इस विषय की अन्तः

अनुशासनात्मकता इसका प्रमुख आधार है। किसी भी राजनीतिक घटना का अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि उस घटना से संबंधित मनुष्य वास्तव में किन-किन तत्वों से प्रभावित है लेकिन यह कार्य अत्यन्त जटिल होता है। अतः निष्कर्ष निकलता है कि जितने अनुशासन हैं उतनी ही दृष्टियाँ हैं। अतः यह कार्य सामान्य सिद्धान्त “एकीकरण” के माध्यम से किया जाता है। कुछ विद्वानों ने अन्तः अनुशासनीय दृष्टिकोण के स्थान पर ‘परि-अनुशासनात्मक’ (पैन-डिसिप्लिनरी) या अधि अनुशासनीय दृष्टिकोण (ट्रांस-डिसिप्लिनरी) कहना अधिक पसंद किया है।

७. आधुनिक राजनीति विज्ञान तात्कालिक समस्याओं का समाधान करने पर ध्यान देता है। व्यवहारिकतावादी क्रांति के माध्यम से ऐसा प्रतीत हो रहा था कि राजनीति विज्ञान विशुद्ध विज्ञान बनकर मात्र प्रयोगशालाओं और पुस्तकालयों तक सीमित हो जायेगा, किन्तु उत्तर-व्यवहारिकतावादी युग ने अपने आपको मूल्यों, नीतियों और समस्याओं से सम्बद्ध रखा तथा अपने अध्ययन से नागरिकों शासन को नीति-निर्माताओं व राजनीतिज्ञों को लाभान्वित करने का प्रयास किया है।

८. आधुनिक राजनीति विज्ञान की अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था है। उसके पास अभी निश्चित सिद्धान्तों का अभाव है, किन्तु वह इस दिशा में प्रयत्नरत है। माइकेल हस इस ओर संकेत करते हुए तीन बिन्दुओं के आधार पर यह बताते हैं कि आधुनिक राजनीति विज्ञान में सिद्धान्त निर्माण की प्रवृत्ति दिखायी देती है। ये तीन बिन्दु हैं- 1. निर्णय-निर्माण 2. राजनीतिक विकास 3. द्वन्द तथा एकीकरण।

1.8 परम्परागत और आधुनिक राजनीति विज्ञान में अन्तर

राजनीति विज्ञान की परिभाषा और क्षेत्र के सम्बन्ध में परम्परागत दृष्टिकोण का प्रतिपादन ब्लंटश्री, गैरिस, सीले, गार्नर, लास्की आदि विद्वानों द्वारा किया गया है। आधुनिक दृष्टिकोण के प्रमुख प्रतिपादक हैं- डेविड, ईस्टन, रॉबर्ट डहल, जी०ई०जी० केटलिन, मैक्स वेबर और एच०डी० लासवेल आदि। राजनीति विज्ञान की परिभाषा, प्रकृति और क्षेत्र के सम्बन्ध में परम्परागत दृष्टिकोण व आधुनिक दृष्टिकोण की तुलना निम्नांकित बिन्दुओं के आधार पर की जा सकती है-

1. परम्परागत दृष्टिकोण राजनीतिक संस्थाओं-राज्य, सरकार आदि के अध्ययन पर विशेष बल देता है लेकिन आधुनिक दृष्टिकोण व्यक्तियों के व्यवहार के अध्ययन को सर्वाधिक प्रमुखता देता है। इस रूप में आधुनिक राजनीतिक अध्ययन में मानव के मनोवेगों, इच्छाओं, प्रेरणाओं और आकांक्षाओं का अध्ययन किया जाता है।

2. परम्परागत दृष्टिकोण ने स्वयं को केवल राजनीतिक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं तक ही सीमित रखा है लेकिन आधुनिक दृष्टिकोण इस बात पर बल देता है कि व्यक्ति के राजनीतिक जीवन को

सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में ही उचित रूप से समझा जा सकता है। अतः राजनीतिक अध्ययन में अन्तर-अनुशासनात्मक दृष्टिकोण को अपनाया जाना चाहिए।

3. परम्परागत दृष्टिकोण मूल्यों से युक्त तथा मूल्यों पर आधारित है अतः उसमें व्यक्तिनिष्ठता का आ जाना स्वाभाविक है लेकिन आधुनिक दृष्टिकोण का उद्देश्य राजनीति विज्ञान में लगभग पदार्थ विज्ञानों की सीमा तक वस्तुनिष्ठता लाना है, अतः इसमें मूल्य-मुक्त दृष्टिकोण अपनाने का प्रयास किया गया है। किन्तु इसके रूचिकर परिणाम न निकलने के कारण आज यह विचार मान्य हो गया है कि राजनीतिक अध्ययन मूल्य-सापेक्ष होना चाहिए लेकिन उसे वैज्ञानिकता प्रदान करने का प्रयास नहीं किया जाना चाहिए।

4. परम्परागत दृष्टिकोण में राजनीति विज्ञान के आदर्शात्मक पक्ष पर बल दिया गया है, जबकि आधुनिक दृष्टिकोण आदर्शवादी पक्ष के स्थान पर यथार्थवादी पक्ष पर अधिक बल देता है।

5. परम्परागत दृष्टिकोण राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन पर बल देता है जिससे यह औपचारिक अध्ययन बनकर रह गया है, जबकि आधुनिक दृष्टिकोण राजनीतिक संस्थाओं की अपेक्षा उन साधनों तथा प्रक्रियाओं को अधिक महत्व देता है जिनके आधार पर राजनीतिक संस्थाएँ कार्य करती हैं। इसी कारण आधुनिक राजनीतिक अध्ययनों में एक वास्तविकता आ गयी है।

6. परम्परागत दृष्टिकोण राजनीति विज्ञान के अध्ययन के लिए परम्परागत, ऐतिहासिक, तुलनात्मक और दार्शनिक पद्धतियों का प्रयोग करते हैं लेकिन आधुनिक दृष्टिकोण में मनोवैज्ञानिक प्रयोग एवं पर्यवेक्षक की पद्धतियों तथा सांख्यिकी और नमूना सर्वेक्षण आदि पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है।

7. परम्परागत दृष्टिकोण अनुमान, सम्भावनाओं और कल्पनाओं पर आधारित है जिससे उसके निष्कर्षों में प्रामाणिकता व निश्चयात्मकता का अभाव होता है लेकिन आधुनिक दृष्टिकोण ठोस तथ्यों पर आधारित होने के कारण निष्कर्षों की निश्चयात्मकता तथा प्रामाणिकता की खोज में है। यह सामान्यीकरणों को जन्म देने या सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के प्रयास में संलग्न है।

संक्षेप में, आधुनिक राजनीति विज्ञान और परम्परागत राजनीति विज्ञान में उपर्युक्त विभिन्नताओं के बाद भी ये दोनों एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं। आधुनिक राजनीति विज्ञान ने इसे विसतार प्रदान कर अधिक से अधिक वैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न किया है।

अभ्यास प्रश्न

१. राजनीति विज्ञान अंग्रेजी भाषा के शब्द Political Science का हिन्दी रूपान्तरण है। सत्य असत्य/

२. यूनानी भाषा में पोलिस का अभिप्राय है नगरराज्य- । सत्यअसत्य/
३. डेविड ईस्टन ने 1950 के दशक में व्यवस्था सिद्धान्त दिया । सत्यअसत्य/
४. राजनीति विज्ञान का सरोकार मूल्यों के आधिकारिक आबंटन से है किसने कहा है, ।
५. कैटलिन ने अपनी पुस्तक “पॉलिटिकल थियरी: व्हट इज इट?”
६. “राजनीति विज्ञान का प्रारम्भ व अन्त राज्य से ही होता है किसने कहा है ?
७. “राजनीति विज्ञान राज्य का विज्ञान है।” किसने कहा है ?
८. राजनीति विज्ञान उसी प्रकार सरकार के तत्वों का अनुसंधान करता है जैसे सम्पत्ति शास्त्र सम्पत्ति का, जीव विज्ञान जीवन का, बीजगणित अंको का तथा ज्यामितिशास्त्र स्थान एवं लम्बाई चौड़ाई - का करता है।” किसने कहा है ?
९. लीकॉक ने लिखा है कि “राजनीति विज्ञान सरकार से संबंधित विधा है -। सत्यअसत्य/
१०. दो प्रकार की प्रभुसत्ता -1. आन्तरिक और 2. बाह्य । सत्यअसत्य/

1.9 सारांश

समय के साथ राजनीति विज्ञान की परिभाषा और उसका क्षेत्र बदला है। यूरोपिय संस्थाओं, अमरीकी व्यवहारवाद और पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन, ने अपने ढंग से राजनीति विज्ञान के विकास में योगदान दिया है। परम्परागत तथा आधुनिक ‘राजनीति विज्ञान’ की परिभाषाओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि यह अब केवल राज्य अथवा सरकार से सम्बन्धित विज्ञान नहीं, बल्कि मनुष्य के राजनीतिक व्यवहार, राजनीतिक क्रियाओं व प्रक्रियाओं, शक्ति, सत्ता तथा मानव समूहों की अन्तःक्रियाओं का विज्ञान है। आज आधुनिक दृष्टिकोण ने राजनीति विज्ञान के क्षेत्र को और अधिक विस्तृत कर दिया है। राजनीति विज्ञान सैद्धान्तिक दृष्टि से विज्ञान बन चुका है और जब राजनीति विज्ञान के सैद्धान्तिक पक्ष को व्यवहारिक जीवन में उतारा जाता है तो यह कला बन जाता है। यह विषय इस तरह कला और विज्ञान दोनों ही बन जाता है। फलतः आज राजनीति विज्ञान का अध्ययन हमारे लिए अधिकधिक उपयोगी होता जा रहा है।

1.10 शब्दावली

1. **दृष्टिकोण:** समस्याओं और प्रश्नों को देखने के नजरिया , उदाहरण; व्यवहारात्मक अथवा परम्परामूलक दृष्टिकोण।
2. **प्रामाणिक:** कोई आदेश, जो शक्ति और महत्व का आभास दे और जिसके पालन की सम्भावना हो।
3. **आनुभाविक, इंद्रियानुभाविक:** निरीक्षण, प्रयोग और अनुभव पर आधारित ज्ञान अथवा अध्ययन।
4. **नैतिक:** सिद्धान्त अथवा व्यवहार; जो उचित या अनुचित सम्बन्धी नैतिक विश्वासों पर आधारित किसी नैतिक पद्धति विशेष से प्रभावित हो अथवा पहले के विश्वासों से पैदा हो।
5. **भौतिकवादी:** धन और सांसारिक वस्तुओं की अत्यधिक इच्छा रखने वाला भौतिकवादी मानता है कि धन और वस्तुओं का स्वामित्व ही संसार में सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है।
6. **नामावली:** वस्तुओं का वर्गीकरण।
7. **व्यावहारिकतापरक वास्तववाद:** ऐसी विचारधारा या चिंतन, जो तथ्यों या जीवन के यथार्थ अनुभवों पर आधारित होती है। इसमें हठधर्मिता या आदर्शवाद नहीं होता।
8. **नगर राज्य:** प्राचीन यूनान की व्यवस्था, जिसमें राज्य और समाज मिलकर नगर-राज्य बनाते हैं। नगर राज्य केवल वैध अथवा कानूनी राज्य ही नहीं होता था, बल्कि अपने नागरिकों के जीवन के नैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और सौन्दर्यनुभूति के पक्षों पर समान रूप से ध्यान देता था।
9. **उग्र परिवर्तनवादी:** ऐसा व्यक्ति, जो समाज में आमूल परिवर्तन लाना चाहता हो।
10. **पुनः प्रवर्तनवादी, पुनरुज्जीवनवादी:** ऐसा व्यक्ति, जो ठहरे हुए धर्म या संस्कृति में फिर से नये जीवन का संचार करके उसे लोकप्रिय बनाना चाहता हो।
11. **प्रभुसत्ता, सम्प्रभुता:** विधिनिर्माण और नियंत्रण के मामले में सर्वोच्च शक्ति; आमतौर से राज्य-शक्ति पर प्रयुक्त। दो प्रकार की प्रभुसत्ता- 1. आन्तरिक और 2. बाह्य।
12. **धर्मशास्त्र सम्बन्धी:** धर्म या ईश्वर के अध्ययन से सम्बन्धित।
13. **सार्वभौमिक:** ऐसी विचारधारा या चिंतन, जिसका सम्बन्ध संसार के सारे लोगों से हो।

14. अनुभव सिद्ध सिद्धान्त: तथ्यों के अनुभव, प्रयोग और अवलोकन से निर्मित सिद्धान्त।

15. आदर्शमूलक: आदर्श द्वारा प्राप्त एक प्रकार की मनोवृत्ति या एक नीति-संहिता, यानि समाज विशेष में व्यवहार के नियम।

1.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

१. सत्य २. सत्य ३. सत्य ४. डेविड ईस्टन ५. सत्य ६. गार्नर ७. जैम्स ८. सीले ९. सत्य

१०. सत्य

1.12 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. जैन, पुखराज- राजनीति विज्ञान, एस0बी0पी0जी0 पब्लिकेशन, आगरा
2. सिंहल, एस0सी0- राजनीतिक सिद्धान्त, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा
3. आर्शीवादम, ए0डी0 तथा मिश्र, कृष्णकान्त- राजनीति विज्ञान, एस0 चॉद कम्पनी लि0, नई दिल्ली
4. गाबा, ओमप्रकाश- राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा, मयूर पेपर बैक्स, नोयडा
5. जौहरी, जे0सी0 एवं सीमा- आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, स्टर्लिंग पब्लिकेशन प्रा0 लि0, नई दिल्ली

1.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. वर्मा, एस0पी0- मार्टन पालिटिकल थ्योरी, विकास प्रकाशन, नई दिल्ली
2. दास, पी0जी0- मार्टन पालिटिकल थ्योरी, न्यू सेंटरल बुक एजेंसी, कलकत्ता
3. जैन, एम0पी0- पालिटिकल थ्योरी, आर्थस गिल्ड पब्लिकेशन, दिल्ली
4. संधु, ज्ञान सिंह- राजनीतिक सिद्धान्त, दिल्ली विश्वविद्यालय
5. वर्मा, एस0एल0- एडवांसड मार्टन पालिटिकल थ्योरी, नेशनल पब्लिकेशन हाउस, नई दिल्ली.

1.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. परम्परागत राजनीति विज्ञान का विषय क्षेत्र क्या है? स्पष्ट कीजिए।
2. परम्परागत दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए राजनीति विज्ञान की प्रकृति का विवेचन कीजिए?
3. क्या राजनीति विज्ञान एक विज्ञान है अथवा कला? अपने विचार दीजिए।
4. राजनीति विज्ञान के अध्ययन की उपयोगिता स्पष्ट कीजिए।
5. परम्परागत राजनीति विज्ञान की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
6. आधुनिक राजनीति विज्ञान की परिभाषा एवं क्षेत्र की समीक्षा करें।
7. परम्परागत एवं आधुनिक राजनीति विज्ञान में अन्तर बताइए।
8. आधुनिक राजनीति विज्ञान की विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।
9. आधुनिक राजनीति विज्ञान शक्ति का अध्ययन है, संक्षेप में बताइए।

इकाई 2 - राजनीति विज्ञान, राजनीतिक सिद्धान्त, राजनीतिक दर्शन

इकाई की संरचना

- 2.0 प्रस्तावना
- 2.1 उद्देश्य
- 2.2 राजनीति तथा राजनीति विज्ञान
- 2.3 राजनीतिक सिद्धांत का अर्थ, परिभाषा
- 2.4 राजनीतिक सिद्धांत
- 2.5 राजनीतिक सिद्धांत का कार्य क्षेत्र
- 2.6 राजनीतिक सिद्धांत के महत्व
- 2.7 राजनीतिक दर्शन
- 2.8 राजनीति विज्ञान- सर्वाधिक उपयुक्त नाम
- 2.9 सारांश
- 2.10 शब्दावली
- 2.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 2.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची
- 2.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 2.14 निबन्धात्मक प्रश्न

2.0 प्रस्तावना:

राजनीति ने सदा ही सामाजिक जीवन में निर्णायक भूमिका निभाई है। वर्तमान समय में यह भूमिका लगातार बढ़ती ही जा रही है। वैचारिक स्तर पर भी राजनीति का हमेशा पूर्व और पश्चिम में खास स्थान रहा है। प्राचीन यूनानी 'नगर-राज्यों' का अध्ययन करने वाला विषय 'राजनीति', आधुनिक युग में राष्ट्रीय राज्यों के जन्म लेने से अध्ययन क्षेत्र की दृष्टि से बदला है, फलतः इसे अब तक अनेक नामों जैसे- राजनीति, राजनीति दर्शन, राजनीतिक सिद्धान्त, राजनीति विज्ञान आदि की संज्ञा दी जा चुकी है। वर्तमान में हमारे लिए इन नामों के अर्थ तथा इनका अन्तर समझना आवश्यक हैं।

2.1 उद्देश्य

राजनीति विज्ञान के लम्बे इतिहास में अनेक नाम और स्वीकार किए गये हैं। अतः इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:-

राजनीति विज्ञान के मानक नाम को लेकर मौजूद विवादों का निराकरण करने में सक्षम होंगे।

राजनीतिक दर्शन के अर्थ को समझ सकेंगे।

राजनीतिक सिद्धान्त को अच्छी तरह से समझ सकेंगे।

राजनीति विज्ञान, राजनीतिक दर्शन और राजनीतिक सिद्धान्त के अंतर को जान सकेंगे।

2.2 राजनीति तथा राजनीति विज्ञान

500 ई0पू0 यूनानी 'नगर-राज्यों' की स्थिति एवं राजनीतिक-गतिविधियों से सम्बन्धित ज्ञान को 'राजनीति' कहा जाता था। उस समय नागरिक जीवन से सम्बन्धित गतिविधियों का भिन्न-भिन्न अनुशासनों के तौर पर बँटवारा नहीं किया गया था, सारे विषय 'पालिटिक्स' के अन्दर समाहित थे। इसीलिए, अरस्तू ने 'पालिटिक्स' को मास्टर साइंस कहा और 'राजनीति' शब्द का प्रयोग सबसे पहले अपनी 'नगर-राज्य' से सम्बन्धित पुस्तक के शीर्षक के रूप में किया था। अरस्तू के पश्चात जेलीनेक, सिजविक, हॉस्टजन-डॉफ्र आदि लेखकों द्वारा भी 'राजनीति' शब्द का प्रयोग किया गया। उनके अनुसार राज्य और सरकार से सम्बन्धित समस्त विषय सामग्रियों 'राजनीति' के अन्तर्गत आती हैं। लास्की ने अपने ग्रन्थ को ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स नाम दिया है। विल्सन ने राजनीति के

सिद्धान्त नाम से पुस्तक लिखी है। वर्तमान राजनीतिशास्त्रियों लासवैल, डहल, ईस्टन, व हींजयुलाऊ ने भी इस विषय के लिए राजनीति शब्द का ही प्रयोग किया है।

सर फ्रेडरिक पोलक ने भी राजनीति शब्द का प्रयोग इसके लिए किया है। पोलक ने इस शब्द को व्यापक अर्थ में उपयोग करते हुए उसे दो भागों में बाँटा है- सैद्धान्तिक राजनीति और व्यावहारिक या प्रयोगात्मक राजनीति। सैद्धान्तिक राजनीति के अन्तर्गत राज्य की उत्पत्ति, प्रकृति, लक्षण एवं उद्देश्य आदि विषयों का अध्ययन किया जाता है, जबकि व्यावहारिक राजनीति के अन्तर्गत हम राज्यों की वास्तविक कार्य प्रणालियों एवं राजनीतिक संस्थाओं के वास्तविक जीवन का अध्ययन करते हैं। इस विभाजन में हमारे अध्ययन की सम्पूर्ण सामग्री आ जाती है। इसीलिए यह विभाजन बहुत उपयोगी है। जिस अर्थ में प्राचीन विचारकों ने 'राजनीति' शब्द का प्रयोग किया था, उसी अर्थ में इस संज्ञा का प्रयोग यदि किया जाए तो इस शास्त्र के लिए 'राजनीति' नाम में कोई आपत्ति नहीं रहेगी। लेकिन आज राजनीति शब्द का प्रयोग इतने व्यापक अर्थों में नहीं किया जाता है।

आज तो 'राजनीति' शब्द का प्रयोग और भी संकुचित अर्थों में किया जाने लगा है। दैनिक जीवन में घरेलू राजनीति, समूह राजनीति, कॉलेज तथा गाँव की राजनीति की चर्चा होती है। 'राजनीति' का प्रयोग धोखेबाजी, बेईमानी, झूठ, फरेब आदि अर्थों में भी किया जाता है।

अरस्तू के समय से राजनीति विज्ञान एक लम्बा रास्ता तय कर चुका है और इसके लिए 'राजनीति' शब्द का इस्तेमाल सही नहीं लगता है। यह शब्द अपने नये अर्थ में व्यावहारिक पक्ष तक सीमित है। आधुनिक अर्थ में वह व्यावहारिक गतिविधियों तक सीमित रह गया है, फलस्वरूप इसमें इस विषय के सैद्धान्तिक और नैतिक पक्ष छूट जाते हैं। इसलिए 'राजनीति' शब्द इस विषय का मानक नाम होने के लिए ठीक नहीं है।

'राजनीति' शब्द से आपत्तियाँ

इस विषय के नाम को 'राजनीति' रखने पर निम्नलिखित आपत्तियाँ आती हैं, जिनके कारण इसका नामकरण 'राजनीति' नहीं किया जा सकता है-

1. अध्ययन क्षेत्र की दृष्टि से- सर फ्रेडरिक पोलक के वर्गीकरण में राजनीति के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्ष समा जाते हैं। यदि इस विस्तृत दृष्टिकोण से सोचा जाए तो यह विषय राजनीति नाम से जाना जा सकता है किन्तु वर्तमान में 'राजनीति' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थों में न किया जाकर संकुचित अर्थों में किया जाता है। आधुनिक लेखकों (जैनेट, सी0 लेविस तथा अलेक्जेंडरवेन) ने 'राजनीति' का तात्पर्य प्रयोगात्मक अथवा व्यावहारिक राजनीति से लिया है।

2. राजनीति में शास्त्रीय एकरूपता की कमी- आजकल 'राजनीति' शब्द किसी राजनीतिक सस्था, स्थान विशेष के संदर्भ में प्रयुक्त किया जाता है; जैसे- भारत की राजनीति, दिल्ली की राजनीति, ग्रामीण राजनीति। प्रत्येक देश की राष्ट्रीय और स्थानीय राजनीति किसी अन्य देश की राष्ट्रीय और स्थानीय राजनीति से भिन्न होती है। क्योंकि उनकी परिस्थितियों में विभिन्नता होती है। इसलिए राजनीति के अध्ययन में समानता नहीं मिलती। ऐसी स्थिति में शास्त्रीय एकरूपता के अभाव में इस विषय को 'राजनीति' नाम नहीं दिया जा सकता है।

3. गरिमारहित शब्द- आज 'राजनीति' शब्द का प्रयोग इतने भ्रष्ट अर्थों में होने लगा है कि समस्त गलत काम करने और उनमें सफलता पाने का प्रयास करना भर इसका प्रतीक माना जाने लगा है। दैनिक जीवन में घरेलू राजनीति, जाति-राजनीति, क्षेत्र-राजनीति, देश-राजनीति, समूह-राजनीति, अमुक व्यक्ति की राजनीति, दलगत राजनीति के लिए इसका प्रयोग होता है। अंग्रेजी में कहावत है कि, (राजनीति दुष्ट पुरुष का अन्तिम आश्रय स्थल है।)

सर अर्नेस्ट बेन के शब्दों में- 'राजनीति किसी परेशानी को ढूँढने, उसे खोज निकालने, चाहे उसका अस्तित्व हो या न हो, उसका गलत कारण बताने और उसका गलत हल ढूँढ़ निकालने की कला है।

अतः कहा जा सकता है कि इस विषय को 'राजनीति' नाम देना नितान्त अव्यवहारिक एवं असंगत होगा।

.गिलक्राइस्ट के शब्दों में कहा जा सकता है कि, 'विवेक तथा प्रचलन के दृष्टिकोण से राजनीति विज्ञान ही सर्वाधिक उचित नाम है। सत्य/असत्य

२. अरस्तू ने 'पालिटिक्स' को मास्टर साइंस कहा।। सत्य/असत्य

३. अरस्तू ने 'राजनीति' शब्द का प्रयोग सबसे पहले अपनी 'नगरराज्य-' से सम्बन्धित पुस्तक के शीर्षक के रूप में किया। सत्य/असत्य

४. सीले, विलोबी, गैटल, गार्नर आदि भी 'राजनीति विज्ञान' शब्द को ही अधिक उपयुक्त मानते हैं। सत्य/असत्य

५. सर फ्रेडरिक पोलक ने राजनीति शब्द को व्यापक अर्थ में उपयोग करते हुए उसे दो भागों में बाँटा है- वैद्वान्तिक राजनीति - और व्यावहारिक या प्रयोगात्मक। सत्य/असत्य

2.3 राजनीतिक सिद्धान्त: अर्थ, परिभाषा (Political Theory: Meaning, Definitions)

राजनीतिक सिद्धान्त के अर्थ को समझने के लिए 'राजनीतिक' और 'सिद्धान्त' इस दोनों ही शब्दों को अलग अलग समझने की आवश्यकता है। पहले 'सिद्धान्त' शब्द को समझने का प्रयास करेंगे। सिद्धान्त को अंग्रेजी में (Theory) थ्योरी कहते हैं जो कि एक ग्रीक शब्द है जिसका संबंध अन्य दो शब्दों (i) थ्यूरिया (Theoria) (ii) थ्योरमा (Theorema) से है। (i) थ्यूरिया, का अर्थ है जो हमारे आस पास घटित हो रहा है उसे समझने की क्रिया अथवा प्रक्रिया; इसे 'सैद्धांतिकरण' (Theorizing) कहा जाता है तथा (ii) थ्योरमा, जिसका अर्थ है वह निष्कर्ष जो इस 'सैद्धांतिकरण' की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप निकलते हैं। इन दोनों शब्दों की विशिष्टता यह है कि ये सैद्धांतिकरण प्रक्रिया (Activity of Theorizing) तथा इस प्रक्रिया से निकलने वाले निष्कर्षों (Outcome of the activity) में अंतर करती है। शब्द सैद्धांतिकरण का संबंध किसी घटना को समझने का प्रयत्न है। इसका अभिप्राय किसी परिणाम अथवा निष्कर्ष को सिद्ध करना अथवा उसे वैध ठहरना नहीं है।

दूसरा शब्द 'राजनीतिक' भी ग्रीक भाषा से संबन्धित शब्द 'पोलिस' से निकला है जिसका अर्थ है नगर-राज्य अर्थात् किसी भी समुदाय के अच्छे जीवन से संबन्धित सभी पक्षों के लिए निर्णय लेने की सामूहिक शक्ति। अपने आधुनिक रूप में 'राजनीतिक' शब्द राज्य तथा इससे संबन्धित संस्थाओं जैसे सरकार, विधानमंडल अथवा सार्वजनिक नीति का प्रतिनिधित्व करता है।

राजनीतिक सिद्धांत उन मौलिक विचारों, अवधारणाओं और सिद्धांतों का बौद्धिक अन्वेषण है जो समाज के संगठन, कामकाज और शासन को आकार देते हैं। यह एक अकादमिक अनुशासन है जो राजनीति, सत्ता और अधिकार की जटिल गतिशीलता को समझने और उसका विश्लेषण करने का प्रयास करता है, जिसका उद्देश्य सरकार की प्रकृति, नागरिकों के अधिकारों, जिम्मेदारियों, संसाधनों और अवसरों के उचित और न्यायसंगत वितरण में अंतर्दृष्टि प्रदान करना है।

अपने मूल में, राजनीतिक सिद्धांत गहन महत्व के प्रश्नों पर प्रकाश डालता है, जैसे कि राजनीतिक प्राधिकरण की उत्पत्ति, व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा में राज्य की भूमिका, और एक समुदाय के भीतर न्याय और समानता की खोज। आलोचनात्मक अध्ययन के माध्यम से, राजनीतिक सिद्धांतकार उन अंतर्निहित दार्शनिक नींव को उजागर करने का प्रयास करते हैं जो राजनीतिक प्रणालियों और संस्थानों को रेखांकित करते हैं, जो मानवीय मामलों के पाठ्यक्रम को प्रभावित करते हैं।

राजनीतिक सिद्धांत की उत्पत्ति प्राचीन सभ्यताओं में देखी जा सकती है, जहां प्लेटो, अरस्तू और कन्फ्यूशियस जैसे विचारकों ने शासन, नैतिकता और आदर्श राज्य की प्रकृति पर विचार किया था।

पूरे इतिहास में, मैकियावेली के "द प्रिंस", थॉमस हॉब्स के "लेविथान" और जॉन लॉक के "टू ट्रीटीज ऑफ़ गवर्नमेंट" जैसे मौलिक कार्यों ने सामाजिक अनुबंध, मानव स्वभाव और शासकों और शासितों के बीच संबंधों के बारे में हमारी समझ को आकार दिया है।

समकालीन समय में, वैश्वीकरण, तकनीकी प्रगति और अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के लगातार बदलते परिदृश्य के कारण आने वाली नई चुनौतियों को अपनाते हुए, राजनीतिक सिद्धांत विकसित हो रहा है। राजनीतिक सिद्धांतकार मानवाधिकार और सामाजिक न्याय से लेकर पर्यावरणीय नैतिकता और समाज पर राजनीतिक विचारधाराओं के प्रभाव तक के विषयों पर चर्चा करते हैं।

विभिन्न विद्वानों ने राजनीतिक सिद्धान्त की विभिन्न परिभाषाएँ दीं। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं:

एंड्रयू हेकर (Andrew Hacker) के अनुसार, “ राजनीतिक सिद्धान्त में ‘तथ्य’ (Fact) और मूल्य (Values) दोनों समाहित हैं। वे एक दूसरे के पूरक हैं। दूसरे शब्द में हर सिद्धान्त शास्त्री एक वैज्ञानिक और ‘दार्शनिक’ है, दोनों की भूमिका निभाता है। (Every political theorist worthy of the name plays double role.. He is part scientist and part philosopher and he will divide his time between the two pursuits according to his own temperament and interests.)

जेर्मिनो (Germino) के अनुसार, “ राजनीतिक सिद्धान्त मानवीय सामाजिक अस्तित्व की उचित व्यवस्था के सिद्धांतों का आलोचनात्मक अध्ययन है”। (Political Theory is the critical study of the principles of right order in human social existence.)

जॉर्ज सेबाइन (George Sabine) के अनुसार “व्यापक तौर पर राजनीतिक सिद्धांत से अभिप्राय उन सभी बातों से है जो कि राजनीति से संबन्धित या प्रासंगिक है और संकीर्ण दृष्टि में इसका अर्थ राजनीतिक समस्याओं की विधिवत छानबीन से है। (Broadly political theory means ‘as anything about politics or relevant to politics’ and narrowly as the disciplined investigation of political problems.)

2.4 राजनीतिक सिद्धांतों की विशेषताएँ (Characteristics of Political Theory)

राजनीतिक सिद्धांत राजनीति विज्ञान के भीतर एक अनुशासन है जो राजनीतिक प्रणालियों और व्यवहार को रेखांकित करने वाले सिद्धांतों, अवधारणाओं और विचारों को समझने और उनका विश्लेषण करने का प्रयास करता है। इसमें विभिन्न राजनीतिक विचारों, विचारधाराओं और दर्शन का

व्यवस्थित अध्ययन और परीक्षण शामिल है। यहाँ राजनीतिक सिद्धांत की कुछ प्रमुख विशेषताएँ दी गई हैं:

मानक प्रकृति (Normative Nature) : राजनीतिक सिद्धांत अपने दृष्टिकोण में मानक है, जिसका अर्थ है कि यह मूल्य, नैतिकता और राजनीतिक प्रणालियों को आदर्श रूप से कैसे कार्य करना चाहिए, के प्रश्नों से संबंधित है। इसका उद्देश्य न्याय, समानता, स्वतंत्रता और अन्य नैतिक सिद्धांतों को बढ़ावा देने वाली सरकार और नीतियों के सर्वोत्तम रूपों का मूल्यांकन और निर्धारण करना है।

वैचारिक विश्लेषण(Conceptual Analysis): राजनीतिक सिद्धांत में शक्ति, अधिकार, वैधता, न्याय, स्वतंत्रता, लोकतंत्र और अधिकारों जैसी मुख्य राजनीतिक अवधारणाओं का गहन अन्वेषण शामिल है। लक्ष्य राजनीतिक घटनाओं के बारे में हमारी समझ को बढ़ाने के लिए इन अवधारणाओं को स्पष्ट और परिष्कृत करना है।

ऐतिहासिक और दार्शनिक जड़ें (Historical and Philosophical Roots): राजनीतिक सिद्धांत अक्सर ऐतिहासिक और दार्शनिक स्रोतों पर आधारित होता है, जिसमें प्लेटो, अरस्तू, मैकियावेली, हॉब्स, लोके, रूसो और कई अन्य जैसे शास्त्रीय राजनीतिक दार्शनिकों के काम शामिल हैं। इसमें समकालीन राजनीतिक विचारक भी शामिल हैं।

वैचारिक परीक्षण (Ideological Examination): राजनीतिक सिद्धांत विभिन्न विचारधाराओं की जांच करता है, जैसे उदारवाद, रूढ़िवाद, समाजवाद, नारीवाद और अन्य। यह उनकी उत्पत्ति, अंतर्निहित धारणाओं और राजनीतिक अभ्यास के लिए निहितार्थ का विश्लेषण करता है।

आलोचनात्मक विश्लेषण (Critical Analysis): राजनीतिक सिद्धांतकार आलोचनात्मक सोच और विश्लेषण में संलग्न होते हैं, मौजूदा राजनीतिक संस्थानों, प्रथाओं और सामाजिक मानदंडों पर सवाल उठाते हैं। उनका उद्देश्य राजनीतिक प्रणालियों के भीतर संभावित पूर्वाग्रहों, विरोधाभासों और छिपी शक्ति संरचनाओं को उजागर करना है।

सार और सैद्धांतिक: राजनीतिक सिद्धांत अनुभवजन्य डेटा के बजाय अमूर्त और सैद्धांतिक विचारों से संबंधित है। यह राजनीतिक घटनाओं को समझने के लिए सामान्य सिद्धांत और रूपरेखा स्थापित करना चाहता है।

अंतःविषय दृष्टिकोण: राजनीतिक सिद्धान्त अक्सर अपने विश्लेषण को समृद्ध करने के लिए दर्शन, इतिहास, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और अन्य क्षेत्रों से अंतर्दृष्टि प्राप्त करते हुए एक अंतःविषय दृष्टिकोण अपनाता है।

2.5 राजनीतिक सिद्धान्त का कार्यक्षेत्र:

राजनीति का क्षेत्र उतना ही व्यापक है जितनी की मनुष्य की गतिविधियां। जीवन का कोई भी क्षेत्र या पहलू ऐसा नहीं जो राजनीति से अछूता हो। उदारवादियों ने राजनीति का रिश्ता केवल सरकार और नागरिकों तक ही सीमित रखा जबकि मार्क्सवादियों ने उत्पादन के साधनों पर भी सरकार का ही स्वामित्व माना है। नारीवादी पारिवारिक और घरेलू मामलों में भी राजी के हस्तक्षेप की वकालत करते हैं। इस आधार पर देखा जा सकता है कि राजनीति विज्ञान का कार्यक्षेत्र काफी व्यापक है। निम्नलिखित विषयों को राजनीतिक सिद्धान्त के कार्यक्षेत्र में सम्मिलित किया जा सकता है:

1. **राज्य का अध्ययन:** प्राचीन कल से ही राज्य की उत्पत्ति, प्रकृति तथा कार्यक्षेत्र पर विचार होता रहा है। राज्य की उत्पत्ति कैसे हुई? उसका विकास कैसे हुआ? राज्य की नगर-राज्य से लेकर वर्तमान की राष्ट्रीय राज्य तक की विकास यात्रा किस प्रकार रही? राज्य से संबन्धित बुनियादी सवालों का इसके अंतर्गत अध्ययन किया जाता है। इससे संबन्धित विद्वान राज्य की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्त जैसे कि दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त, सामाजिक समझौता सिद्धान्त, भौतिकवादी सिद्धान्त का विश्लेषण करते हैं।
2. **सरकार का अध्ययन:** राजनीतिक सिद्धान्त राज्य के भीतर सरकारों के कामकाज और संरचना का अध्ययन करता है। इसमें शक्तियों के पृथक्करण, सरकार की विभिन्न शाखाओं (कार्यकारी, विधायी और न्यायपालिका) की भूमिका और निर्णय लेने और नीति कार्यान्वयन के तंत्र की जांच करना शामिल है। राजनीतिक सिद्धान्तकार शासन की अवधारणा और शासकों और नागरिकों के बीच संबंधों का भी विश्लेषण करते हैं।
3. **शक्ति का अध्ययन:** वर्तमान में शक्ति कि अवधारणा का अध्ययन राजनीतिक सिद्धान्त का महत्वपूर्ण विषय बन चुका है। यह विश्लेषण करता है कि राजनीतिक अभिनेताओं और संस्थानों द्वारा सत्ता कैसे अर्जित की जाती है? कैसे वैध बनाई जाती है? और उसका प्रयोग कैसे किया जाता है। सत्ता और उसके स्रोतों की अवधारणा राजनीतिक सिद्धान्त में एक केंद्रीय विषय है, क्योंकि यह निर्धारित करती है कि शासन करने और बाध्यकारी निर्णय लेने का अधिकार किसके पास है।

4. **मानवीय व्यवहार का अध्ययन:** राजनीतिक सिद्धांत मानता है कि राजनीति मूलतः मानवीय व्यवहार और अंतःक्रियाओं से संचालित होती है। इस प्रकार, यह पता लगाता है कि व्यक्ति और समूह राजनीतिक संदर्भों में कैसे व्यवहार करते हैं, वे कैसे राय बनाते हैं, निर्णय लेते हैं और राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेते हैं। मानव व्यवहार को समझने से राजनीतिक सिद्धांतकारों को मतदान पैटर्न, जनता की राय और राजनीतिक आंदोलनों और सामाजिक परिवर्तन की गतिशीलता का विश्लेषण करने में मदद मिलती है।
5. **नीति निर्माण प्रक्रिया का अध्ययन:** राजनीतिक सिद्धांत नीति-निर्माण की प्रक्रिया की जांच करता है, जिसमें सरकारी नीतियों का निर्माण, कार्यान्वयन और मूल्यांकन शामिल है। यह समझने का प्रयास करता है कि नीतियां कैसे विकसित की जाती हैं, नीतिगत निर्णयों को प्रभावित करने वाले कारक और समाज पर नीतियों का प्रभाव क्या है। राजनीतिक सिद्धांतकार विभिन्न नीति दृष्टिकोणों की प्रभावशीलता का आकलन कर सकते हैं और सार्वजनिक नीतियों के मूल्यांकन और सुधार के लिए मानक ढांचे की पेशकश कर सकते हैं।
6. **अंतरराष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन :** राजनीतिक सिद्धांत अपना दायरा अंतरराष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन तक बढ़ाता है, जो राष्ट्र-राज्यों, गैर-राज्य अभिनेताओं और अंतरराष्ट्रीय संगठनों के बीच बातचीत की जांच करता है। राजनीतिक सिद्धांतकार कूटनीति, युद्ध और शांति, वैश्विक शासन, अंतरराष्ट्रीय कानून और देशों के बीच शक्ति और प्रभाव की गतिशीलता जैसे विषयों का विश्लेषण करते हैं। वे अंतरराष्ट्रीय प्रणाली की प्रकृति और वैश्विक क्षेत्र में राज्यों की भूमिका पर विभिन्न सिद्धांतों और दृष्टिकोणों का पता लगाते हैं।
7. **क्षेत्रीय सहयोग संगठनों का अध्ययन :** राजनीतिक सिद्धांत में क्षेत्रीय सहयोग संगठनों का अध्ययन शामिल है, जो सहयोग को बढ़ावा देने और आम चुनौतियों का समाधान करने के लिए एक विशेष भौगोलिक क्षेत्र के देशों द्वारा गठित संस्थान हैं। इन संगठनों के राजनीतिक, आर्थिक, सुरक्षा या सामाजिक उद्देश्य हो सकते हैं। राजनीतिक सिद्धांतकार क्षेत्रीय और वैश्विक मामलों पर उनके गठन, कामकाज और प्रभाव के साथ-साथ क्षेत्रीय गतिशीलता को आकार देने में उनकी भूमिका की जांच करते हैं।
8. **नारीवाद का अध्ययन:** राजनीतिक सिद्धांत के दायरे में, नारीवाद अध्ययन का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है। नारीवादी राजनीतिक सिद्धांत राजनीति और समाज में लिंग की भूमिका की आलोचनात्मक जांच करता है। यह विश्लेषण करता है कि लिंग कैसे सत्ता संरचनाओं, राजनीतिक भागीदारी और नीति परिणामों को आकार देता है। नारीवादी

राजनीतिक सिद्धांतकार लैंगिक समानता और सामाजिक न्याय को बढ़ावा देने के लक्ष्य के साथ लिंग आधारित असमानताओं, भेदभाव और पितृसत्ता को समझने और चुनौती देने का प्रयास करते हैं।

2.6 राजनीतिक सिद्धान्त के महत्व

1. **ज्ञान का सरलीकरण:** सिद्धान्त ज्ञान का सरलीकरण है। इससे किसी भी विषय को समझने में आसानी होती है। सिद्धान्त प्रतिमान स्थापित करके विभिन्न तथ्यों को प्रतीक में बादल देता है। विभिन्न तथ्यों और घटनाओं को प्रतीक बनाकर परिभाषित करना सिद्धान्त की महत्ता है।
2. **नए शोध उपकरण खोजना:** सिद्धान्त की सहायता से नए प्रयोग व आविष्कार के लिए नए शोध उपकरण खोजता है। वह सिद्धान्त उतना ही ज्यादा उपयोगी सिद्ध होगा जो नए सिद्धान्त खोजने की क्षमता रखता है।
3. **अन्वेषकों के लिए लाभदायक:** डेविड ईस्टन का विचार है कि राजनीतिक सिद्धान्त अन्वेषण के लिए विशेषकर लाभदायक है। डेविड ईस्टन ने यह विचार प्रकट किया है कि “यदि सैद्धांतिक रूपरेखा पहले विद्यमान होगी तो विभिन्न प्रकार के तथ्यों को क्रमबद्ध करना और सामान्यीकरण निश्चित करने का कार्य सरलतापूर्वक किया जा सकता है।
4. **स्वायत्त अनुशासन के रूप में प्रतिष्ठित करना:** राजनीति विज्ञान को एक स्वायत्त अनुशासन के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए “राजनीतिक सिद्धान्त” अपरिहार्य है। इसी पर इस विषय में एकीकरण, सामंजस्य, पूर्वकथनीयता एवं वैज्ञानिकता लाना तथा अन्य शोध संभावनाएँ निर्भर हैं।
5. **शासन प्रणाली एवं शासकों को औचित्यपूर्णता प्रदान करना:** शासन प्रणाली एवं शासकों के कार्यों को औचित्यपूर्णता प्रदान करने में सिद्धान्त एक उपकरण कि भूमिका अदा करता है।

2.7 राजनीतिक दर्शन

अभी हाल तक ‘राजनीतिक दर्शन’ शब्द का इस्तेमाल राजनीति विज्ञान के लिए होता रहा और आज भी कुछ विद्वान राजनीति विज्ञान के स्थान पर ‘राजनीतिक दर्शन’ शब्द के प्रयोग पर बल देते हैं। वे इस शब्द के पक्ष में निम्न तर्क देते हैं-

1. विद्वानों का तर्क है कि राजनीति विज्ञान की प्रकृति सैद्धान्तिक, दार्शनिक एवं व्यावहारिक है। इसके अन्तर्गत हम राज्य की उत्पत्ति, विकास, प्रकृति, उद्देश्य, व्यक्तियों के अधिकार तथा कर्तव्य एवं राजनीतिक धारणाओं का अध्ययन करते हैं। राज्य सम्बन्धी अध्ययन का मुख्य भाग ये सिद्धान्त ही हैं, इसीलिए इसे 'राजनीतिक दर्शन' कहना उचित होगा।

2. राजनीतिक दर्शन राजनीति विज्ञान का पूर्वगामी है। इसके अधिकांश सिद्धान्त राजनीतिक दर्शन से ही लिये गये हैं। गिलक्राइस्ट के शब्दों में, "राजनीतिक दर्शन एक दृष्टि से राजनीति विज्ञान का पूर्वगामी है क्योंकि प्रथम (राजनीतिक दर्शन) की मौलिक मान्यताओं पर ही द्वितीय (राजनीतिक विज्ञान) आधारित है। साथ ही राजनीतिक दर्शन को भी स्वयं बहुत-सी ऐसी सामग्री का प्रयोग करना पड़ता है जो उसे राजनीति विज्ञान से प्राप्त होती है।"

3. 'दर्शन' एक प्रतिष्ठित शब्द है। वह विषय, जो स्थानीय तथा शाश्वत महत्व के विषयों से सम्बन्धित है, उसे 'राजनीतिक दर्शन' जैसा सम्मानजनक नाम ही दिया जाना चाहिए।

नामकरण पर आपत्तियाँ

विद्वानों द्वारा इस नामकरण के संदर्भ में निम्नांकित आपत्तियाँ प्रस्तुत की गयी हैं-

1. अध्ययन क्षेत्र की दृष्टि से- 'राजनीतिक दर्शन' के अन्तर्गत विषय का सम्पूर्ण सैद्धान्तिक अध्ययन ही आता है, व्यावहारिक राजनीति का अध्ययन नहीं आता, जबकि सैद्धान्तिक राजनीति के साथ व्यावहारिक राजनीति का अध्ययन भी समान रूप से महत्वपूर्ण है। जे0एल0 हैल्लोवेल के अनुसार, "राजनीतिक दर्शन का सम्बन्ध राजनीतिक संस्थाओं में निहित विचारों और आकांक्षाओं से है। इस कारण राजनीतिक दर्शन विषय का अपूर्ण अध्ययन ही है।"

2. प्रकृति की दृष्टि से- 'राजनीतिक दर्शन' शब्द के प्रयोग से ऐसा लगता है जैसे यह विषय एक कला ही है विज्ञान नहीं। अतः 'राजनीतिक दर्शन' शब्द विषय की प्रकृति के अनुकूल नहीं हैं।

3. 'दर्शन' शब्द अनिश्चितताओं और अवास्तविकताओं का प्रतीक- आधुनिक युग में 'दर्शन' शब्द अनिश्चितताओं और अवास्तविकताओं का प्रतीक बन गया है। 'राजनीतिक दर्शन' शब्द के प्रयोग से यह आशय यह होगा कि इस विषय में राज्य की समस्याओं पर कल्पना के आधार पर विचार किया जाता है जो वास्तविकता से दूर रहती हैं।

राजनीतिक दर्शन मुख्य रूप से आदर्श मूलक षष्ठवतउंजपअमष् होता है, जो क्या अच्छा है यह सुझाता है और क्या होना चाहिए सम्बन्धी प्रश्नों पर ध्यान देता है। इसके विपरीत राजनीति विज्ञान राजनीतिक घटनाओं को समझने की कोशिश करता है, ताकि इसके आधार पर सामान्य नियम बन सकें। यह

औपचारिक रिश्तों की खोज करने की कोशिश करता है। इस नजरिये में, दर्शन के विपरीत, राजनीति विज्ञान 'क्या होना चाहिए' की अपेक्षा, क्या है, से अधिक सम्बन्ध रखता है। कुल मिलाकर, राजनीतिक दर्शन आधारभूत सैद्धान्तिक और दार्शनिक सिद्धान्तों पर बल देता है और राजनीतिक विश्लेषण के व्यावहारिक और कार्यप्रणाली सम्बन्धी पक्षों को अछूता छोड़ देता है। यही कारण है कि 'राजनीतिक दर्शन' शब्द को भी इस विषय के मानक नाम के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

2.8 राजनीति विज्ञान- सर्वाधिक उपयुक्त नाम

अधिकांश विद्वानों का मत है कि 'राजनीति' और 'राजनीतिक दर्शन' की अपेक्षा 'राजनीति विज्ञान' नाम सर्वाधिक उपयुक्त है।

राजनीति विज्ञान शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम गॉडविन और मेरी वुल्सटोनेक्राफ्ट द्वारा किया गया था। आज यही सर्वसम्मत नाम बन गया है। इस मत के समर्थन में निम्नांकित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं-

1. अध्ययन क्षेत्र के अनुरूप- 'राजनीति विज्ञान' शब्द के अन्तर्गत हमारे अध्ययन-विषय राजनीति के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों पक्ष आ जाते हैं, अतः यह शब्द हमारे अध्ययन-विषय के अनुकूल है।
2. विषय की प्रकृति के अनुकूल- 'राजनीति विज्ञान' शब्द का प्रयोग करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत विषय विज्ञान और कला दोनों है। प्रकृति के अनुकूल होने के कारण 'राजनीति विज्ञान' शब्द का प्रयोग ही अधिक उपयुक्त है।
3. सम्मानप्रद संज्ञा- आधुनिक युग में राजनीति विज्ञान प्रस्तुत विषय के लिए एक सम्मानप्रद संज्ञा है। सीले, विलोबी, गैटल, गार्नर आदि भी 'राजनीति विज्ञान' शब्द को ही अधिक उपयुक्त मानते हैं। सन् 1948 में यूनेस्को के तत्वाधान में हुए एक सम्मेलन में राजनीति विज्ञानियों ने 'राजनीति विज्ञान' शब्द को ही अधिक उपयुक्त ठहराया था। गिलक्राइस्ट के शब्दों में कहा जा सकता है कि, "विवेक तथा प्रचलन के दृष्टिकोण से राजनीति विज्ञान ही सर्वाधिक उचित नाम है।"

अरस्तू ने 'पालिटिक्स' को मास्टर साइंस कहा और 'राजनीति' शब्द का प्रयोग सबसे पहले अपनी 'नगर-राज्य' से सम्बन्धित पुस्तक के शीर्षक के रूप में किया

सीले, विलोबी, गैटल, गार्नर आदि भी 'राजनीति विज्ञान' शब्द को ही अधिक उपयुक्त मानते हैं

सर फ्रेडरिक पोलक ने भी राजनीति शब्द का प्रयोग इसके लिए किया है। पोलक ने इस शब्द को व्यापक अर्थ में उपयोग करते हुए उसे दो भागों में बाँटा है- सैद्धान्तिक राजनीति और व्यावहारिक या प्रयोगात्मक।

सीले, विलोबी, गैटल, गार्नर आदि भी 'राजनीति विज्ञान' शब्द को ही अधिक उपयुक्त मानते हैं।

सन् 1948 में यूनेस्को के तत्वाधान में हुए एक सम्मेलन में राजनीति विज्ञानियों ने 'राजनीति विज्ञान' शब्द को ही अधिक उपयुक्त ठहराया था।

अभ्यास प्रश्न

१. गिलक्राइस्ट के शब्दों में कहा जा सकता है कि, "विवेक तथा प्रचलन के दृष्टिकोण से राजनीति विज्ञान ही सर्वाधिक उचित नाम है। सत्य/असत्य
२. अरस्तू ने 'पालिटिक्स' को मास्टर साइंस कहा। सत्य/असत्य
३. अरस्तू ने 'राजनीति' शब्द का प्रयोग सबसे पहले अपनी 'नगरराज्य-' से सम्बन्धित पुस्तक के शीर्षक के रूप में किया। सत्य/असत्य
४. सीले, विलोबी, गैटल, गार्नर आदि भी 'राजनीति विज्ञान' शब्द को ही अधिक उपयुक्त मानते हैं। सत्य/असत्य
५. सर फ्रेडरिक पोलक ने राजनीति शब्द को व्यापक अर्थ में उपयोग करते हुए उसे दो भागों में बाँटा है- सैद्धान्तिक राजनीति - और व्यावहारिक या प्रयोगात्मक। सत्य/असत्य

2.9 सारांश:

अभी हाल के वर्षों तक राजनीति के अध्ययन के लिए एक मानक नामावली पर आमराय नहीं बन पायी। इस शास्त्र के लम्बे इतिहास में अनेक नाम सुझाए गए और स्वीकार किये गये हैं, किन्तु उनके विवेचन में यहीं नतीजा निकलता है कि इसके लिए 'राजनीति विज्ञान' शब्द ही सबसे सही है और यही नाम सामान्य रूप से स्वीकृत/मान्य हो चुका है।

2.10 शब्दावली

प्राधिकार - किसी विशेष संदर्भ में शासन करने या निर्णय लेने की वैध शक्ति,

न्याय- संसाधनों और दण्ड के वितरण में निष्पक्षता,

स्वतंत्रता - दमनकारी प्रतिबंधों या नियंत्रण से मुक्ति।

2.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

१. सत्य २. सत्य ३. सत्य ४. सत्य ५. सत्य

2.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. जैन, पुखराज- राजनीति विज्ञान, एस0बी0पी0जी0 पब्लिकेशन, आगरा
2. सिंहल, एस0सी0- राजनीतिक सिद्धान्त, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा
3. आर्शीवादम, ए0डी0 तथा मिश्र, कृष्णकान्त- राजनीति विज्ञान, एस0 चॉद कम्पनी लि0, नई दिल्ली
4. गाबा, ओमप्रकाश- राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा, मयूर पेपर बैक्स, नोयडा
5. जौहरी, जे0सी0 एवं सीमा- आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, स्टर्लिंग पब्लिकेशन प्रा0 लि0, नई दिल्ली
6. वर्मा, एस0पी0- मॉडर्न पालिटिकल थ्योरी, विकास प्रकाशन, नई दिल्ली
7. दास, पी0जी0- मॉडर्न पालिटिकल थ्योरी, न्यू सेंटरल बुक एजेंसी, कलकत्ता

2.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

8. जैन, एम0पी0- पालिटिकल थ्योरी, आर्थस गिल्ड पब्लिकेशन, दिल्ली
9. संधु, ज्ञान सिंह- राजनीतिक सिद्धान्त, दिल्ली विश्वविद्यालय
10. वर्मा, एस0एल0-एडवांसड मॉडर्न पालिटिकल थ्योरी, नेशनल पब्लिकेशन हाउस, नई दिल्ली.

2.14 निबन्धात्मक प्रश्न

1. राजनीतिक अध्ययन के लिए इस्तेमान होने वाले विभिन्न नाम बताइए। किस नाम को सबसे सही माना जाता है?
2. राजनीतिक विज्ञान और राजनीति दर्शन पर एक संक्षिप्त नोट तैयार कीजिए।
3. अधिकांश राजनीति वैज्ञानिक इस विषय के लिए 'राजनीति' शब्द के प्रयोग के पक्ष में क्यों नहीं हैं।

इकाई 3 राजनीति विज्ञान का अन्य समाज विज्ञानों के साथ सम्बन्ध

(दर्शनशास्त्र समाजशास्त्र इतिहास अर्थशास्त्र मनोविज्ञान)

- 3.0 प्रस्तावना
- 3.1 उद्देश्य
- 3.2 राजनीति विज्ञान का अन्य समाज विज्ञानों से सम्बन्ध
 - 3.2.1 राजनीति विज्ञान और दर्शन शास्त्र
 - 3.2.2 राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र
 - 3.2.3 राजनीति विज्ञान और इतिहास
 - 3.2.4 राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र
 - 3.2.5 राजनीति विज्ञान और मनोविज्ञान
- 3.3 सारांश
- 3.4 शब्दावली
- 3.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 3.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची
- 3.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 3.8 निबन्धात्मक प्रश्न

3.0 प्रस्तावना

मानव एक ऐसा संश्लिष्ट ; जीव है जो एक साथ अनेक भूमिकाओं का निर्वहन करता है। सामाजिक प्राणी होने के नाते वह परिवार, जाति, धर्म, गाँव, शहर और राजनीतिक संगठनों के सदस्य के रूप में भूमिका निभाता है। उसके जीवन के विविध पक्षों सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक, नैतिक ऐतिहासिक आदि का विभिन्न समाज विज्ञानों द्वारा अध्ययन किया जाता है। मानवीय जीवन के विविध पक्षों, गतिविधियों को स्पष्ट करने के लिए सभी सामाजिक विज्ञानों की पूरक भूमिका होती है। इसलिए, मानव और समाज के मूल तत्व को समझने के लिए किसी विशिष्ट सामाजिक विज्ञान की सीमाओं का अतिक्रमण करना ही पड़ता है।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में सामाजिक विज्ञानों के बीच के अंतःसम्बन्धों पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है और विज्ञानों के अध्ययन हेतु एक नई पद्धति अन्तर अनुशासनात्मक अध्ययन पद्धति अस्तित्व में आई है। इसके द्वारा एक विशेष समाज सम्बन्धी विषय का अध्ययन करने वाले विद्वान अन्य विषयों का अध्ययन करने वाले विद्वानों से समन्वय बनाये रखते हैं। अब विद्वानों ने इस तथ्य को भली-भांति समझ लिया है कि विभिन्न समाज विज्ञानों का पृथक-पृथक अध्ययन लाभदायी नहीं हो सकता क्योंकि सम्पूर्ण समाज एक सूत्र में बंधा हुआ है और समाज से सम्बन्धित विविध पहलू भी परस्पर एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। अतः उनका पृथक-पृथक अध्ययन किया जा सकता सम्भव नहीं है। विभिन्न समाज विज्ञानों के क्षेत्र में व्यवहारवार के उदय के पश्चात् यह तथ्य और भी अधिक उभरकर सामने आ गया है कि सभी समाज विज्ञानों का अध्ययन अन्तर-अनुशासनात्मक पद्धति से किया जाना चाहिए। इसी स्वाभाविक क्रम में, राजनीति विज्ञान ने भी इस प्रक्रिया में भाग लिया है। फलतः राजनीति विज्ञान के विद्वानों का मानना है कि मनुष्य के राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन करने के लिए राजनीति विज्ञान का अध्ययन अन्तर-अनुशासनात्मक पद्धति से करना पड़ेगा क्योंकि मनुष्य समाज में रहकर जो व्यवहार करता है, उसकी पृष्ठभूमि में मात्र राजनीतिक कारण नहीं होते वरन् उसके पीछे सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, मनोवैज्ञानिक कारण भी होते हैं। डॉ० गार्नर के शब्दों में, “हम दूसरे समाज विज्ञानों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त किये बिना राजनीति विज्ञान एवं राज्य का पूर्ण ज्ञान ठीक उसी प्रकार प्राप्त नहीं कर सकते, जिस प्रकार गणित के बिना यंत्र विज्ञान और रसायनशास्त्र के बिना जीव विज्ञान का यथावत् ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:-

राजनीति विज्ञान और दर्शनशास्त्र के बीच सम्बन्ध को समझ सकेंगे।

राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र के बीच सम्बन्ध को समझ सकेंगे.

राजनीति विज्ञान और इतिहास के बीच सम्बन्ध को समझ सकेंगे.

राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र के बीच सम्बन्ध को समझ सकेंगे.

राजनीति विज्ञान और मनोविज्ञान के बीच सम्बन्ध को समझ सकेंगे.

राजनीति विज्ञान और भूगोल के बीच सम्बन्ध को समझ सकेंगे.

और अंततः यह समझ सकेंगे किसमाज के विभिन्न पक्षों से सम्बन्ध रखने वाले विषयों में किस प्रकार से सम्बन्ध है.

3.2 राजनीति विज्ञान का अन्य समाज विज्ञानों से सम्बन्ध

राजनीति विज्ञान के अध्ययन में अन्य विषयों का सहयोग लेने की परम्परा बहुत प्राचीन है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि राजनीति विज्ञान का अन्य सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्ध बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। प्लेटो की उन समस्याओं के समाधान में बहुत अधिक रूचि थी जिनका सम्बन्ध कुटुम्ब की संरचना तथा शिक्षा की प्रकृति से था। इसका कारण यह था कि उसकी दृष्टि में कुटुम्ब तथा शिक्षा का महत्व उस आदर्श राज्य के निर्माण में बहुत अधिक था जिसकी वह कल्पना कर रहा था। अरस्तू को समाज में धन तथा प्रतिष्ठा के विभाजन की उतनी ही चिन्ता थी जितनी कि इस बात की थी कि राज्य का संविधान किस प्रकार का हो। लॉक, हीगल तथा मण्टेस्क्यू जैसे विचारकों ने भी मात्र राजनीति विज्ञान तक ही अपने विचारों को सीमित नहीं रखा था वरन् नीतिशास्त्र से सम्बद्ध प्रश्नों पर भी गम्भीरता से विचार किया था। कार्ल मार्क्स ने यह प्रयास किया था कि राजनीतिक व्यवहार का मुख्य स्रोत तकनीकी विकास तथा वर्ग संरचना के स्तर में खोजा जाना चाहिए। इन समस्त प्रश्नों का समाजशास्त्र से प्रत्यक्ष सम्बन्ध था।

वस्तुतः उन्नीसवीं सदी के अन्त तक ज्ञान को पृथक-पृथक शास्त्रों में विभाजित नहीं किया गया था। वे एक-दूसरे में सम्पूर्ण रूप से समायोजित थे। इसका मूल कारण यह था कि अर्थशास्त्री, मनोवैज्ञानिक, मानवशास्त्री तथा समाजशास्त्री भी राजनीति विज्ञान के विद्वानों के समान ही मानवीय समस्याओं के अध्ययन में रूचि ले रहे थे। यद्यपि उनके दृष्टिकोण परम्पर भिन्न थे। सन् 1390 में कोलम्बिया विश्वविद्यालय में राजनीति विज्ञान विभाग की स्थापना के बाद भी विभिन्न विषयों के विद्वान राजनीति विज्ञान की गतिविधियों से जुड़े रहे। मैक्स वेबर, रॉबर्ट मिचेल्स, विल्फ्रेड पैरेटो और दुर्खीम जैसे समाजशास्त्री राजनीतिक विश्लेषण को भी अपने अध्ययन का अंग बनाये हुए थे। सन् 1908 में ग्राहम वालास की पुस्तक 'Human Nature in Politics' एवं आर्थर बेन्टले की पुस्तक 'The Process of Government' के प्रकाशन ने इस विचारधारा को और अधिक पुष्ट किया कि राजनीति विज्ञान का अन्य सामाजिक विज्ञानों से घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि इन पुस्तकों में राजनीतिक प्रक्रियाओं का

विवेचन मनोविज्ञान का आश्रय लेकर किया गया था। इन पुस्तकों ने इस विचारधारा की भी पुष्टि की कि मनुष्य का राजनीतिक व्यवहार उसके सामाजिक, आर्थिक व मनोवैज्ञानिक व्यवहार से अनिवार्यतः प्रभावित होता है और उन्हें प्रभावित करता है। इसी प्रकार किसी समाज की राजनीतिक व्यवस्था उसकी सामाजिक, आर्थिक, नैतिक आदि व्यवस्थाओं से अनिवार्यतः प्रभावित होती है और उन्हें प्रभावित करती है। इसीलिए राजनीति विज्ञान में व्यवहारवादी क्रान्ति के प्रणेताओं ने मानव व्यवहार के अध्ययन के लिए 'अन्तर अनुशासनात्मक' दृष्टिकोण अपनाने पर बल दिया। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप राजनीति विज्ञान का अन्य समाज विज्ञानों से सम्बन्ध और अधिक घनिष्ठ हो गया है।

3.2.1 राजनीति विज्ञान और दर्शन

मानवीय और सामाजिक जीवन में दर्शन का महत्व स्पष्ट है। जी०टी० राजू ने सही कहा है कि 'दर्शन' जीवन का प्रकाश स्तम्भ है। यह जीवन और विचारों के गहराई से जोड़ता है। इसीलिए राजनीति विज्ञान को दर्शन से सचमुच बहुत लाभ मिलता है। यह राजनीतिक दर्शन ही है जिसमें राज्य और राजनीतिक जीवन के स्वरूप, राजनीतिक दायित्व के आधार और विभिन्न राजनीतिक प्रणालियों की गुणवत्ता की जाँच की जाती है और सार्वजनिक जीवन के लक्ष्य निर्धारित करने के लिए दर्शन और इतिहास की विधियों का प्रयोग किया जाता है। राजनीतिक दर्शन के कारण ही राजनीति विज्ञान को दृष्टि और संकल्पना का मूल ढाँचा प्रदान होता है। विचारधाराओं के मतभेद के बावजूद प्लेटो, अरस्तू, कौटिल्य, मनु, मैकियावेली, हॉब्स, लॉक रूसो, मिल, हीगल, ग्रीन, मार्क्स और गाँधी आदि महान विचारकों ने विभिन्न राष्ट्रीय समाजों के राज्यों और शासनों को मूलभूत संकल्पनात्मक आधार प्रदान किया है। असल में दर्शन द्वारा निर्धारित विचारों और मानदंडों के सन्दर्भ में ही विशेष राजनैतिक कार्यों को अच्छी तरह समझा जा सकता है। इस दृष्टि से दर्शन विज्ञान के साथ सकारात्मक रूप में जुड़ा हुआ है। दर्शन से विज्ञान का नाता टूटने पर विज्ञान माध्यम मात्र रह जाता है, तब विज्ञान अपनी प्रासंगिकता खो देता है। इसलिए, राजनीति-दर्शन राजनीति विज्ञान के लिए जरूरी है। दर्शन के बिना राजनीति विज्ञान सत्ता का विज्ञान बन जाता है और एक ऐसा साधन बन जाता है, जिसकी सहायता से गलत और सही सभी प्रकार के उपायों से सत्ता को हथियाया जाए। यह मात्र सत्ता का राजनैतिक सिद्धान्त बनकर रह जाता है। इसलिए, यह जरूरी है कि इन दोनों के बीच संतुलन बनाये रखा जाए।

3.2.2 राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्रः

समाजशास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों का जनक कहलाता है। यह एक सामाजिक विज्ञान है, जिसमें सामाजिक जीवन के सभी मूलभूत विषयों का अध्ययन होता है, जो मानव के क्रमिक विकास से सम्बन्धित होता है। यह समाज की उत्पत्ति, उसके विकास, सामाजिक रीति-रिवाजों आदि का अध्ययन

करता है। इसके अन्तर्गत राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक इत्यादि सभी पहलू आ जाते हैं। अतएव कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र सभी समाज विज्ञानों का जनक है। राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र एक-दूसरे के पूरक हैं। यह निम्न प्रकार स्पष्ट होता है:-

1. राजनीति विज्ञान, समाजशास्त्रीय तत्वों से बँधा हुआ है:- समाजशास्त्र मानव जीवन के वंशीय, जातिगत, धार्मिक और राजनीतिक पहलुओं की विवेचना करता है इसीलिए राजनीति विज्ञान, समाजशास्त्र की उपेक्षा नहीं कर सकता। राज्य अथवा सरकार का समाजशास्त्र से पृथक कोई अस्तित्व नहीं है। समाजशास्त्र यह बताता है कि राज्य संस्था का विकास मानव की कुछ नैसर्गिक प्रवृत्तियों का परिणाम है। इन प्रवृत्तियों को बल मुख्यतः इन तत्वों से मिला है- रक्त सम्बन्ध, धार्मिक विश्वासों की एकता, आर्थिक आवश्यकतएँ तथा युद्ध और विजय। समाजशास्त्र के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि प्रारम्भ में राज्यों का स्वरूप अत्यन्त सरल था किन्तु धीरे-धीरे उनके स्वरूप और कार्य क्षेत्र में वृद्धि होती चली गयी। एडम स्मिथ और कार्ल मार्क्स ने सामाजिक संरचना को अपने अध्ययन का आधार बनाया था। आधुनिक युग में रिचर्ड टॉनी, मैक्स वेबर(1364-1920), राबर्टो मिशेल्स(1376-1936), विल्फ्रेडो पैरेटो(1348-1923) और इमील दुर्खीम(1358-1919), मोस्का, कार्लमैनहाइम लासवेल और डेविड ईस्टन ने राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन के लिए समाजशास्त्र की विषय-वस्तु का सफलता पूर्वक उपयोग किया है। उन्होंने विस्तारपूर्वक यह समझाया है कि 'धर्म' का पूँजीवाद से क्या सम्बन्ध है, मजदूर वर्ग राजनीति को किस प्रकार प्रभावित करता है, शक्ति का राजनीति से क्या सम्बन्ध है तथा समाज की संरचना मतदान को किस प्रकार प्रभावित करती है। उदाहरणार्थ, शहरी मतदाताओं के आचरण को समझने के लिए हमें मुख्य रूप से इन बातों को जानना होगा- शहरीकरण से उत्पन्न समस्याएँ, शिक्षित बेरोजगारी, श्रमिक संख्या में हो रही वृद्धि तथा पानी, बिजली, स्वास्थ्य व शिक्षा सम्बन्धी सुविधाएँ। इसी प्रकार ग्रामीण राजनीति को जातीय और धार्मिक विभिन्नताओं तथा कृषि-भूमि के स्वामित्व के सन्दर्भ में अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है।

2. सामाजिक सन्तुलन एवं सामंजस्य लाने में समाजशास्त्र की भूमिका:- समाजशास्त्र के आधार पर सामाजिक संघर्षों को समझने में सहायता मिलती है। फलस्वरूप राज्य इस तरह की नीतियाँ निर्धारित कर सकता है जिससे सामाजिक न्याय लाने में सहायता मिले और समाज में सन्तुलन व सामंजस्य स्थापित हो सके। सभी देशों और विशेषकर भारत में जहाँ भिन्न-भिन्न धर्मों और जातियों के लोग निवास करते हैं, राजनीतिज्ञों के सामने एक बड़ा प्रश्न राष्ट्रीय एकता को पुष्ट करने का उठता है। इस दृष्टि से समाजशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत आँकड़े हमारा पर्याप्त मार्गदर्शन कर सकते हैं।

3. सार्वजनिक निर्णयों को प्रभावी बनाने में समाजशास्त्र की भूमिका:- राजनीति विज्ञान का एक कृत्य सार्वजनिक निर्णयों तक पहुँचना है। ये निर्णय तभी प्रभावशाली हो सकते हैं जब सम्बन्धित समूहों की

सामाजिक प्रेरणाओं को ध्यान में रखा जाए। किसी भी सामाजिक कार्यवाही का सम्भावित प्रत्युत्तर क्या होगा और उसकी सफलता की कितनी सम्भावनाएँ हैं- यह निश्चित करने के लिए लोगों की मूल्य-परम्पराओं, अभिवृत्तियों, स्वभाव, मान्यताओं और पूर्वाग्रहों की जानकारी जरूरी होती है। इस प्रयत्न में समाज विज्ञान विशेष रूप से सहायक सिद्ध होता है। देखा जाए तो आज का राजनीति विज्ञान औपचारिक प्रक्रियाओं और संस्थाओं के अध्ययन से आगे बढ़कर अनौपचारिक संगठनों और प्रक्रियाओं को समझने के लिए तत्पर है और इसके लिए समाज विज्ञान का सहारा लेना जरूरी हो जाता है।

4. राजनीतिक विश्लेषण और राजनीतिक संस्थाओं का समाजशास्त्र पर प्रभाव:- राजनीतिक विश्लेषण और विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन से समाजशास्त्र को काफी मदद मिली है। जैसे समाज के सन्दर्भ में राज्य ने निरन्तर समाज वैज्ञानिक विश्लेषण की विधियों को नियंत्रित किया है। समाज विज्ञानी शासन को उच्चतम सामाजिक संस्था के रूप में मान्यता देते हैं, क्योंकि शासन में समाज को दिशा देने और सामाजिक व्यवहार को नियमित करने की क्षमता होती है। आजकल तो राज्य का कार्य-क्षेत्र बहुत अधिक व्यापक हो गया है। विवाह, सम्पत्ति तथा पारिवारिक व्यवस्था, जिनका समाजशास्त्र से बहुत निकट का सम्बन्ध है, राज्य द्वारा नियमित होने लगे हैं। उदाहरणार्थ- परिवार नियोजन और दहेज सम्बन्धी सरकारी नीतियों ने भारतीय परिवार और विवाह प्रथा को काफी सीमा तक प्रभावित किया है।

निःसन्देह राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र में राजनीतिक समाज विज्ञान का उद्भव हुआ है जिसने राजनीतिक व्यवस्था, राजनीतिक विकास, राजनीतिक आधुनिकीकरण और राजनीतिक संस्कृति के रूप में संकल्पनात्मक ढाँचों के तौर पर राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में अभूतपूर्व योगदान किया है।

परन्तु राजनीति विज्ञान और समाज विज्ञान के बीच के कुछ महत्वपूर्ण अन्तर भी है, जिन्हे ध्यान में रखना आवश्यक है।

1. समाजशास्त्र का क्षेत्र राजनीति विज्ञान की अपेक्षा बहुत अधिक विस्तृत है। समाजशास्त्र सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करता है किन्तु राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध केवल राज्य, सरकार और राजनीतिक संस्थाओं से ही है। सामाजिक परम्पराओं, धार्मिक विश्वासों तथा सांस्कृतिक गतिविधियों का समाजशास्त्र से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है किन्तु राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत हम इन विषयों का विस्तृत अध्ययन नहीं करते।

2. राज्य-संस्था के उदय से पूर्व भी समाज विद्यमान था और राज्य की स्थापना से पूर्व ही मनुष्यों ने अनेक प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध एवं सामाजिक बन्धन उत्पन्न कर लिये थे। समाजशास्त्र इन

सम्बन्धों तथा आदिम मनुष्यों के रीति-रिवाजों व परम्पराओं की विस्तार से विवेचना करता है किन्तु राजनीति विज्ञान के अध्ययन का क्षेत्र इनसे सर्वथा भिन्न है।

3.2.3 राजनीति विज्ञान और इतिहासः

हिस्ट्री(इतिहास) मूलतः ग्रीक शब्द है जिसका अर्थ है जाँच पड़ताल से ज्ञान प्राप्त करना या सीखना। सरल शब्दों में इतिहास मानव और समाज के अतीत के अनुभवों का बौद्धिक विश्लेषण और निर्वचन है। यह क्रमिक विकास का विवरण प्रस्तुत करने वाला मानव-समुदाय के विकास की कहानी है, यह मनुष्य के न केवल बौद्धिक, बल्कि आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक दशाओं के साथ ही उनके विकास, संगठन तथा पारस्परिक सम्बन्ध का भी वर्णन प्रस्तुत करता है, जहाँ तक राजनीति विज्ञान और इतिहास के सम्बन्ध का सवाल है, तो कहा जा सकता है कि इन शास्त्रों में काफी पुराना सम्बन्ध रहा है। यह भी कहा जा सकता है कि एक के अभाव में दूसरे का अध्ययन सम्भव नहीं है। कुछ विद्वानों जैसे सीले, बर्गेस आदि ने राजनीति विज्ञान और इतिहास के बीच पारस्परिक निर्भरता के सम्बन्ध में चर्चा की है।

सीले का कथन है कि, “राजनीति को यदि इतिहास के अध्ययन से परिष्कृत न किया जाये तो वह अशिष्ट बन जाती है और यदि इतिहास राजनीति से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर ले तो वह कोरा साहित्य रह जाता है।”

लॉर्ड ब्राइस के कथनानुसार, “राजनीतिशास्त्र ‘इतिहास’ और ‘राजनीति’ के मध्य स्थित है। इतिहास से हम जो शिक्षा ग्रहण करते हैं, उसका राजनीतिक संस्थाओं को सुधारने के लिए उपयोग किया जाता है।”

स्टर्ले ने ‘द स्टडी ऑफ हिस्ट्री’ नामक अपनी पुस्तक में कहा है कि इतिहास की उपयोगिता इस बात में है कि मानवता और सभ्यताओं के पिछले अनुभवों से सीख लेकर मनुष्य अपने मन को अनुशासित करें। इस प्रकार के अनुशासन से मनुष्य अपने अस्तित्व को बेहतर ढंग से समझ सकता है और इसके फलस्वरूप अपने जीवन को खुशियों से भरपूर बना सकता है।

राजनीति विज्ञान के लिए इतिहास की सामग्री अनेक प्रकार से उपयोगी है, जिसे निम्न रूपों में स्पष्ट किया जा सकता है-

1. राजनीतिक संस्थाओं के ऐतिहासिक विकास को जानना आवश्यक:- सर्वप्रथम यह कहना ज्यादा तर्कसंगत होगा कि राज्य एवं राजनीतिक संस्थाएँ इतिहास की देन हैं। प्राचीनकाल में राज्य का स्वरूप क्या था? वर्तमान समय में जो राज्य का स्वरूप है वह क्रमिक विकास का परिणाम कहा जा सकता है।

प्राचीनकाल में सरकारों का स्वरूप क्या था और आज के दौर में क्या है? इन सभी प्रश्नों का उत्तर इतिहास के माध्यम से ही प्राप्त किया जाता है। गार्नर ने कहा है कि, “इतिहास हमें ऐसी सामग्री प्रदान करता है जिसके द्वारा हम राजनीतिक संस्थाओं के विगत तथा वर्तमान स्वरूपों की ‘तुलना’ कर सकते हैं और इस तुलना के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं।”

2. इतिहास राजनीति विज्ञान के भावी आदर्शों तथा सिद्धान्तों को निर्धारित करता है:- इतिहास मानव की सफलताओं का संग्रह तो है ही, साथ ही उसकी विफलताओं की भी जानकारी देता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि इतिहास राजनीति विज्ञान का शिक्षक है। अतीत में शासकों द्वारा जो नीतियाँ अपनाई गई उसका क्या परिणाम रहा। कहीं अकबर की नीति की सफलता तो कहीं दूसरी ओर औरंगजेब की धार्मिक नीति की असफलता राजनीतिज्ञों को शिक्षा देती हैं कि लौकिक राज्य की सफलता निश्चित है। जबकि धार्मिक कट्टरता का दौर अधिक चलने वाला नहीं। यही कारण है कि इतिहास में जो अतीत की घटनाओं का जिक्र है उस पर राजनीतिज्ञ सतर्क रहते हैं। यही कारण है कि धार्मिक अत्याचारों से समाज में उत्पन्न संकटों को ध्यान में रखकर ही राजनीतिक विज्ञानियों द्वारा धर्म निरपेक्ष राज्य के सिद्धान्त को जोर सोर से वर्तमान में प्रसारित किया गया है। इसी प्रकार इतिहास ने बताया है कि जिन देशों में नागरिक सरकारें कुशल व सक्षम नहीं होतीं, जिन देशों में गरीबी मिटाने के प्रयास नहीं किये गये हैं, वहाँ बढ़ती हुई गरीबी और सामाजिक अत्याचार ने लोकतंत्रीय संस्थाओं का जीवन खतरे में डाल दिया है। इतिहास की इस शिक्षा की ओर यदि राजनीतिक नेताओं ने ध्यान नहीं दिया तो लोकतंत्र का ढाँचा लड़खड़ा कर टूट जायेगा। यहाँ इतिहास की कुछ ऐसी शिक्षाओं का उल्लेख आवश्यक हो जाता है, जो राजनीति विज्ञान के सिद्धान्तों को निरूपित करने में सजगता का संदेश देती हैं:-

१. निरंकुश राजतंत्र एक अभिशाप है।
२. सुप्रसिद्ध विद्वान हरदयाल के शब्दों में, “साम्राज्यवाद के कारण जिन देशों की स्वतंत्रता छिन जाती है, उनका तो अधःपतन होता ही है, स्वयं साम्राज्यवादी देशों के लिए भी साम्राज्य-नीति हितकर नहीं है।” आधुनिक साम्राज्यवादी शक्तियों को एशिया व अफ्रीका के मुक्ति-आन्दोलनों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, ताकि संसार को व्यर्थ के रक्तपात से बचाया जा सके।
३. जिन देशों में नागरिक सरकारें कुशल व सक्षम नहीं होतीं, उन देशों की राजनीति में सैनिक हस्तक्षेप की सम्भावना बढ़ जाती है।
४. यदि समाज के किन्ही वर्गों को यत्नपूर्वक ‘राजनीतिक सत्ता’ से वंचित रखा जाता है तो ये वर्ग हिंसक साधनों से सत्ता हथियाने का प्रयत्न करते हैं।

3. इतिहास भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों के बीच एक सूत्र स्थापित करता है:- इतिहास भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों के बीच एक सूत्र स्थापित करता है तथा राजनीतिक वैज्ञानिकों के विचार क्षितिज को विस्तृत बनाने का काम करता है। राजनीतिक विचारों और राजनीतिक दर्शन को इतिहास की संरचना में छिपी प्राचीन परम्पराओं के साथ बहुत अच्छी तरह समझा जा सकता है। राजनीतिक विचारों का इतिहास ही हमें रोजमर्रे की राजनीतिक गतिविधियों के 'मापदंड' या 'उपाय' प्रदान करता है। जब कभी राजनीतिक सत्ता का प्रश्न आएगा, मैक्यिवेली को नहीं भुलाया जा सकेगा, यदि मानव और समाज के बीच अन्योन्याश्रित 'सम्बन्ध' की बात उठेगी तो हॉब्स, लॉक और रूसो की उपेक्षा नहीं की जा सकेगी; जब कभी समाज की विषमताओं और भौतिक आवश्यकताओं का सवाल आएगा, कार्ल मार्क्स के योगदान को भुलाया नहीं जा सकेगा। आज की वर्तमान व्यवस्था को निश्चित रूप से प्रभावित करने वाले ऐसे ऐतिहासिक व्यक्तियों के और भी बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। अमल रे और मोहित भट्टाचार्य के शब्दों में कहा जा सकता है कि, "... हमें इतिहास बोध कराता है- ऐतिहासिक परिदृश्य प्रदान करता है। यह हमें सिखाता है कि घटनाएँ अपने आप में मात्र घटनाएँ नहीं होतीं, बल्कि वे अनंत क्रम की कड़ियाँ होती हैं।" इतिहास कई विकल्प प्रस्तुत करता है और राजनीति उनमें से सबसे सही विकल्प का चुनाव कर लेती है। इसी अर्थ में, आनुभविक विश्लेषण के लिए भी, इतिहास एक भव्य विश्लेषणात्मक पृष्ठभूमि प्रदान करता है। इसलिए वर्तमान प्रवृत्तियों और सम्बद्ध विषयों के विवेचन के लिए विभिन्न समाजों का ऐतिहासिक लेखा-जोखा लिया जाता है। यही भविष्य कालीन प्रवृत्तियों हेतु भी प्रयुक्त होता है।

इतिहास भी अपनी तरह से राजनीति और राजनीतिक विश्लेषण का ऋणी है। इतिहास लेखन में राजनीतिक विषय और संकल्पनात्मक ढाँचे इतिहासकार को काफी प्रभावित करते हैं। तभी सीले लिखता है कि, "इतिहास की शिक्षा के आधार पर राजनीतिक संस्थाओं के स्वरूप को सुधारने या परिष्कृत करने का प्रयास किया जाना चाहिए, वहीं वह यह भी कहता है कि इतिहास से यदि राजनीतिक घटनाओं को निकाल दिया जाये तो वह केवल साहित्य जगत की वस्तु बनकर रह जाता है? जैसे सामन्तवाद, राज्य के दैवी सिद्धान्त तथा राजा और धर्मसंघों के संघर्ष का अध्ययन किये बिना मध्ययुग के इतिहास का हमारा ज्ञान अपूर्ण रह जायेगा। इसी प्रकार यदि हम साम्राज्यवाद, राष्ट्रियता, लोकतंत्रवाद और विभिन्न देशों के मुक्ति आन्दोलनों का अध्ययन न करें तो आधुनिक युग का इतिहास हमें निष्प्राण प्रतीत होगा। बीसवीं सदी के भारत के इतिहास का अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक है कि हम विश्व शासन तंत्र इण्डियन नेशनल कांग्रेस, मुस्लिम लीग, साम्प्रदायिक राजनीति तथा भारतीय साम्यवादी दल के कार्यो, सन् 1919 तथा सन् 1935 के भारत शासन अधिनियमों, राष्ट्रवादी नेताओं के चमत्कारी नेतृत्व, राजनीतिक आन्दोलनों, दल-बदल की राजनीति, क्षेत्रीय राजनीतिक गतिविधियों और अन्य अनेक राजनीतिक घटनाओं का समुचित अध्ययन करें। इन राजनीतिक घटनाओं और राजनीतिक विचारधाराओं ने इतिहास की गति को समय-समय पर नया मोड़ दिया है।

निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि राजनीति विज्ञान एवं इतिहास कभी-कभी दोनों एक-दूसरे के पूरक हो जाते हैं, लेकिन ज्यादातर ये दोनों दो स्वायत्त हैं। राजनीति विज्ञान और इतिहास के परस्पर घनिष्ठता को प्रकट करते समय यह ध्यान रखना जरूरी है कि वर्तमान और भविष्य की समस्याओं पर केवल भूतकाल के परिणामों के आधार पर ही विचार न किया जाये। प्रत्येक समस्या पर विचार करते समय नयी परिस्थितियों और जनता के बदले मनोभावों को भी दृष्टिगत रखा जाया तभी इतिहास, राजनीति विज्ञान के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दे सकेगा। कार्ल फ्रेजरिक, डी0 ब्रोगन, आर्नोल्ड बैरेंट और सारटोरी आदि विद्वानों ने राजनीति विज्ञान के लिए इतिहास का समुचित ढंग से उपयोग किया है।

3.2.4 राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्रः

अर्थशास्त्र का मुख्य सरोकार उन तत्वों के विश्लेषण से है जो भौतिक उत्पादन, वितरण और विनिमय की प्रणाली के अन्तर्गत मनुष्यों के सामाजिक व्यवहार को प्रभावित करते हैं। इसमें उन तत्वों का पता भी लगाया जाता है जो निवेश अथवा आर्थिक संसाधनों के उपयोग से सम्बन्धित निर्णयों को प्रभावित करते हैं, जैसे कि ये तत्व पूँजी, श्रम और माल के उपयोग से सम्बन्धित निर्णयों को प्रभावित करते हैं। विस्तृत विश्लेषण करने पर पता चलता है कि ये निर्णय अनेक गैर-आर्थिक तत्वों से प्रभावित होते हैं, जैसे कि ये निर्णय सांस्कृतिक मूल्यों, इनसे जुड़े हुए व्यक्तियों के व्यक्तित्व, राजनीतिक आवश्यकताओं और सामाजिक स्थिति के विचार से भी बहुत प्रभावित होते हैं। किसी समुदाय का राजनीतिक परिवेश भी आर्थिक निर्णयों को दूर-दूर तक प्रभावित करता है।

प्राचीन समय में अर्थशास्त्र और राजनीति विज्ञान के बीच के अंतरंग सम्बन्ध बहुत गहरे थे। इसी कारण प्लेटो ने न्याय के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए न्याय को एक ऐसे समन्वयवादी उत्कृष्ट तत्व के रूप में देखा, जो आर्थिक विषय सहित समाज के सभी महत्वपूर्ण हितों की रक्षा कर सके। अरस्तू ने अर्थशास्त्र को गृह प्रबन्ध की कला के रूप में देखा और राजनीति को अनिवार्यतः अर्थशास्त्र से अभिन्न और अविभाज्य अंग के रूप में देखा। भारत में कौटिल्य ने अर्थशास्त्र और राजनीति के श्रेष्ठतम तत्वों को मिलाकर अर्थशास्त्र की परिकल्पना की थी। अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र में उसने व्यापार, वाणिज्य, कृषि, मुद्रा तथा कर-व्यवस्था आदि आर्थिक विषयों के साथ शासन, न्याय, युद्ध, शान्ति, कूटनीति जैसे राजनीतिक विषयों का भी विस्तार से विवेचन किया है। वस्तुतः अर्थशास्त्र और राजनीति को एक साथ देखने की परम्परा ने आदम स्मिथ को, जो कि आधुनिक अर्थशास्त्र के प्रणेता थे, बराबर प्रभावित किया। उनका 'वैल्थ ऑफ नेशन' जितनी अर्थशास्त्र की बात करता है, उतनी ही राजनीति विज्ञान की भी।

अर्थशास्त्र और राजनीति विज्ञान के बीच अत्यधिक निर्भरता के कारण उन्नीसवीं सदी में राजनीतिक अर्थशास्त्र नाम से एक नये शास्त्र का जन्म हुआ। राजनीतिक अर्थशास्त्र को एक शास्त्र के रूप में विकसित करने में आदम स्मिथ, रिकार्डो, कार्ल मार्क्स और अन्य विद्वानों की भूमिका सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण रही। परन्तु, दोनों शास्त्रों की परस्पर निर्भरता के बावजूद अर्थशास्त्र और राजनीति के परस्पर संघर्षों को छिपाना सम्भव नहीं रहा। इसी चरण में अर्थशास्त्र को राजनीतिक विचारों और दर्शन के जबदस्त प्रभाव से मुक्त करने का निश्चय किया गया। फलतः 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इसने धीरे-धीरे राजनीति विज्ञान से अपना सम्बन्ध तोड़ दिया और अहस्तक्षेप के सिद्धान्त की प्रेरणा से वस्तुओं की कीमतों और बाजार की प्रवृत्तियों पर ज्यादा ध्यान देना शुरू कर दिया। इसमें संदेह नहीं कि आज के युग में विकासशील राष्ट्रों को विशेष रूप से गरीबी की विकट और विस्तृत समस्या का सामना करना पड़ रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि अर्थशास्त्र ने इस क्षेत्र में बहुत उन्नति की और मांग, पूर्ति, प्रतिस्पर्धा, निवेश, उपयोगिता, लागत, लाभ, आयोजन, विकास इत्यादि के बारे में बहुत महत्वपूर्ण नियम और सिद्धान्त स्थापित किए। परन्तु बाद के दशकों में यह भी अनुभव किया गया कि आर्थिक प्रणाली को केवल बाजार की शक्तियों और खुली स्पर्धा के सहारे छोड़ देने पर सामाजिक दृष्टि से विनाशकारी परिणाम निकलते हैं; आर्थिक विषमताएं बेतहाशा बढ़ जाती हैं, निर्धन और दीन-हीन वर्गों का बेहिसाब शोषण होने लगता है, सामाजिक अन्याय का बोलबाला हो जाता है और समाज में तनाव और संघर्ष का वातावरण बन जाता है। इससे आर्थिक गतिविधियों के नियमन की आवश्यकता अनुभव की गई और अर्थव्यवस्था को सार्वजनिक नियंत्रण में रखने के विचार को महत्व दिया जाने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र की परस्पर अभिरूचि को नया जीवन मिल गया। इस प्रवृत्ति ने वर्तमान युग में राजनीतिक अर्थशास्त्र को एक नए रूप में विकसित किया है।

इधर राजनीति सिद्धान्त के दृष्टिकोण में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन आया है। आज के राजनीति-सिद्धान्त का मुख्य सरोकार परस्पर विरोधी मांगों के समाधान से है। ये मांगें एक ही समुदाय के भीतर विभिन्न समूहों तथा वर्गों की ओर से रखी जा सकती हैं, या अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विभिन्न राष्ट्रों की ओर से रखी जा सकती हैं। ये मांगें तरह-तरह की होती हैं परन्तु दुर्लभ संसाधनों के बँटवारे की मांगें इनमें सबसे प्रमुख होती हैं। दूसरे शब्दों में, ये मांगें मुख्यतः आर्थिक मांगें होती हैं। कोई भी राजनीतिक प्रणाली तब तक अपने आपको नहीं सम्भाल सकती जब तक वह परस्पर विरोधी मांगों में सामंजस्य स्थापित करने की क्षमता स्थापित करने की क्षमता का परिचय न दे सके। इसके लिए आर्थिक शक्तियों और तत्वों की गहरी समझ जरूरी होती है। चाहे विदेश-व्यापार का क्षेत्र हो, या देश के भीतर आर्थिक जीवन के नियमन का मामला हो- राज्य की कोई भी नीति या निर्णय तब तक सार्थक नहीं हो सकता जब तक उसके साथ जुड़े हुए आर्थिक प्रश्नों को भली-भांति समझकर सुलझा न लिया जाए। राज्य जब योजना निर्माण के क्षेत्र में कदम रखता है, या 'कल्याणकारी राज्य' 'सेवाधर्मी राज्य' या 'समाजवादी राज्य'

के रूप में नागरिकों की आर्थिक सुरक्षा का दायित्व सम्भालता है और पूर्ण रोजगार रहन-सहन के उपयुक्त स्तर, उचित पोषण, स्वास्थ्य रक्षा, सार्वजनिक शिक्षा इत्यादि के कार्यक्रम बनाता है, तब अर्थशास्त्र की सहायता लेना अनिवार्य हो जाता है। आज के युग में विकासशील राष्ट्रों को विशेष रूप से गरीबी की विकट और विस्तृत समस्या का सामना करना पड़ रहा है। यहाँ यह सिद्ध हो जाता है कि राजनीति तक तक कृतकार्य नहीं हो सकती जब तक वह आर्थिक समस्या को प्रभावशाली ढंग से सुलझा नहीं सकती। मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार भी सम्पूर्ण राजनीति आर्थिक शक्तियों से नियमित होती है। अतः चाहे हम उदारवादी दृष्टि से सोचें, या मार्क्सवादी दृष्टि से-अर्थशास्त्र का ज्ञान राजनीति के ज्ञान तथा व्यवहार के लिए आवश्यक सिद्ध होता है।

1. आर्थिक परिस्थितियाँ सरकार के स्वरूप को निर्धारित करती हैं:- आर्थिक परिस्थितियों का प्रभाव सरकार के स्वरूप पर अवश्य पड़ता है। प्राचीन और मध्ययुगीन सरकारों का स्वरूप 'कुलीनतंत्रीय' था। उन दिनों राजनीतिक अधिकार सामन्ती वर्ग के हाथों में केन्द्रित थे। शासन का यह रूप जिसे हम 'कुलीनतंत्रीय' अथवा 'अभिजाततंत्र' कहते हैं, इसलिए विकसित हुआ था क्योंकि उस समय मशीनों का प्रचलन नहीं था। आज जो कार्य मशीनें करती हैं, उस युग में वही कार्य मनुष्य किया करते थे। अतः उस युग की अर्थव्यवस्था को देखते हुए यह स्वाभाविक ही था कि थोड़े से धनी-मानी जमींदार बहुसंख्यक लोगों को अपना दास बनाकर रखें और उन पर राज्य करें किन्तु औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप सामन्ती प्रथा समाप्त हो गयी। आधुनिक युग में लोकतंत्र के विकास का मुख्य कारण वह औद्योगिक क्रान्ति भी है जिसने दास-प्रथा का उन्मूलन किया है। इस प्रकार यह सत्य है कि आर्थिक परिस्थितियाँ सरकार के स्वरूप पर अवश्य ही महत्वपूर्ण प्रभाव डालती हैं।

2. राजनीतिक क्रान्तियाँ, आर्थिक शक्तियों से प्रभावित:- प्रत्येक प्रमुख 'क्रान्ति' के पीछे आर्थिक शक्तियों का हाथ रहा है। अमेरिका के स्वाधीनता संग्राम, फ्रांस की राज्य क्रान्ति, रूस व चीन की साम्यवादी क्रान्ति तथा राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलनों का एक मुख्य कारण आर्थिक असन्तोष ही था।

3. भौतिक साधनों का श्रेष्ठतम बँटवारा:- आजकल राजनीति विज्ञान में सामाजिक व आर्थिक न्याय, औद्योगिक लोकतंत्र, लाइसेंस-प्रणाली, उद्योग-धन्धों का राष्ट्रीयकरण, राष्ट्रीय बचत तथा प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष करों की विशेष चर्चा होने लगी है। इसी कारण राजनीतिक विचारकों का मत है कि राज्य को अपनी नीति इस प्रकार निर्धारित करनी चाहिए जिसमें सभी को जीविका के समान साधन उपलब्ध हो सकें, देश की भौतिक सम्पत्ति कुछ गिने-चुने लोगों के हाथों में केन्द्रित न होने पाये तथा आर्थिक विवशता के कारण नागरिकों को ऐसे रोजगारों में न जाना पड़े जो उनकी आयु और शक्ति के अनुकूल न हों।

4. आर्थिक नियोजन तथा बजट पद्धति:- राजनीति विज्ञान में अर्थशास्त्र की और बहुत सी तकनीकों का समावेश होता चला जा रहा है। किन्तु वस्तुओं का कितना उत्पादन किया जायेगा तथा वितरण का क्या ढंग होगा, इसका निर्णय राज्य द्वारा किया जाता है। 'नियोजन' एक ऐसी तकनीक है जो कम या अधिक मात्रा में अब सभी देशों में प्रयुक्त होने लगी है। सरकार बजट पद्धति का भी उपयोग करती है अर्थात् शासन के सभी विभाग आय व व्यय का ब्यौरा तैयार करके उसी के अनुरूप कार्य करते हैं। यह भी एक विशुद्ध अर्थशास्त्रीय विधि है। आय-कर, सम्पत्ति-कर, उत्तराधिकार शुल्क तथा अन्य करों द्वारा आय की असमानता को दूर करने का प्रयास किया जाता है।

'राजनीति' के लिए 'अर्थशास्त्र' बहुत उपयोगी है परन्तु हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि आर्थिक गतिविधियों पर भी राजनीति विज्ञान का व्यापक प्रभाव पड़ता है। 'अर्थव्यवस्था' पर 'राजनीति विज्ञान' के प्रभाव की चर्चा निम्नांकित बिन्दुओं के अन्तर्गत की जा सकती है-

1. अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने वाले कानून:- उन्नीसवीं शताब्दी में इस सिद्धान्त का बोलबाला रहा कि "वस्तुओं को उनके हाल पर छोड़ दो" अर्थात् आर्थिक मामलों में राज्य किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप न करे किन्तु वर्तमान परिस्थितियों में इस सिद्धान्त का कोई मूल्य नहीं रह गया है। खाद्य पदार्थों में मिलावट रोकने हेतु कठोर कानून बनाये गये हैं तथा सूदखोरों पर भी सरकार विशेष नियंत्रण रखती है। यहाँ हम आर्थिक जीवन को नियंत्रित करने वाले और भी बहुत से कानूनों की चर्चा करना चाहेंगे, जैसे- न्यूनतम मजदूरी विधेयक, कामगार मुआवजा एक्ट, अनिवार्य दुर्घटना बीमा योजना, तथा श्रमिकों के लिए अधिकतम कार्य-काल का निर्धारण। गत कुछ वर्षों से राजनेताओं का सम्पूर्ण ध्यान इस बात पर केन्द्रित रहा है कि जनता के जीवन-स्तर को उठाने और मंहगाई को नियंत्रण में रखने के लिए किन नीतियों का अनुसरण किया जाये या कैसे कानून बनाये जायें।

2. विदेश-व्यापार और विदेशी निवेश पर राज्य का कठोर नियंत्रण देखने को मिलता है:- जहाँ तक विदेश व्यापार और विदेशी निवेश का प्रश्न है, उन पर तो राज्य का कठोर नियंत्रण स्थापित हो गया है। यातायात और संचार के साधनों का विकास हो जाने के कारण विदेश व्यापार में भी बहुत वृद्धि हुई है परन्तु ऐसा कोई राज्य नहीं है जो विदेश व्यापार पर नियंत्रण न रखता हो। विभिन्न देशों के बीच पूँजी का संचलन यानी किसी एक देश द्वारा दूसरे देशों में पूँजी निवेश करना भी सरकार की नीति पर ही निर्भर हो गया है।

3. राजनीतिक अस्थिरता, हिंसा और युद्धों का अर्थव्यवस्था पर प्रभाव:- राजनीतिक हिंसा, आन्तरिक कलह और युद्धों का देश की अर्थव्यवस्था पर गहरा प्रभाव पड़ता है। आर्थिक प्रगति बहुत सीमा तक इस बात पर निर्भर करती है कि देश में राजनीतिक स्थिरता है अथवा नहीं। संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, कनाडा, नार्वे, स्वीडन और स्विट्जरलैण्ड जैसे देश राजनीतिक हिंसा से मुक्त रहे हैं। इन देशों में

सरकारें चुनावों के माध्यम से बदलती रही हैं। इससे वहाँ की अर्थव्यवस्था को एक सुदृढ़ आधार प्राप्त हो गया है। दूसरी ओर, एशिया अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के अधिकांश देश राजनीतिक अस्थिरता का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। जिन देशों में राजनीतिक स्थिरता है, वहाँ अपेक्षाकृत आर्थिक विकास अधिक हुआ है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। आधुनिक युग के जिन अर्थशास्त्रियों ने राजनीति विज्ञान पर गहरा प्रभाव डाला है, उनमें केनेथ ऐरो, एंथोनी डाउन्स, डन्कन ब्लैक और जी० टूलोक के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। राजनीति विज्ञान के विद्वान अर्थशास्त्र की विधियों का खुलकर उपयोग करने लगे हैं।

3.2.5 राजनीति विज्ञान और मनोविज्ञान:

मनोविज्ञान मानव के मन और व्यवहार का विज्ञान है। मनोविज्ञान की सहायता से ही मानव की अभिप्रेरणाओं और खास कामों का लेखा-जोखा लिया जाता है। इसलिए, मानव को समझने के लिए मनोविश्लेषणात्मक विधियों का प्रयोग किया जाता है। यह माना जाता है कि मानव मन की खास कार्यशैली के कारण ही खास काम सम्पन्न होते हैं। मनोवैज्ञानिक रूप से किसी व्यक्ति को जानकर ही आप उसे सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से बेहतर समझ सकते हैं।

राजनीति विज्ञान एक सामाजिक विज्ञान होने के कारण मनुष्य के अध्ययन से सम्बन्धित है। राजनीतिक संस्थाओं पर मानसिक गतिविधियों का प्रभाव पड़ना नितान्त स्वाभाविक है। यही कारण है कि राजनीति विज्ञान और मनोविज्ञान में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

ज्ञातव्य है कि सबसे पहले मैकियावेली ने राजनीतिक गतिविधियों के आधार पर मनोविज्ञान का महत्व प्रतिपादित किया और हॉब्स ने इसे वैज्ञानिक स्वरूप दिया। हॉब्स को राजनीति के मनोवैज्ञानिक उपागम का जनक माना जाता है। मनोविज्ञानोन्मुखी राजनीतिक विश्लेषण पर सर्वाधिक बल देने वाले फ्रांसीसी और अंग्रेज लेखकों में प्रमुख रहे टार्डे, डरखाइम, लेबोन, ग्राहम वैलास और मैकडोगल। राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में मनोविज्ञान के बढ़ते प्रभाव को ग्राहम वैलास ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ भ्रुणदं दंजनतम पद च्वसपजपबे में व्यक्त किया है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि मनुष्य अपने राजनीतिक व्यवहार में केवल विवेक के द्वारा प्रेरित नहीं होता, वह भावनाओं और आवेगों द्वारा भी प्रभावित होता है।

फ्रायड और दूसरे मनोवैज्ञानिकों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मानव व्यवहार का आधार उसके मन की अवचेतन प्रवृत्तियाँ हैं। इन प्रवृत्तियों का उद्गम उसकी दबी हुई इच्छाएं हैं। फ्रायड के अनुसार मनुष्य साधारणतः विवेक या बौद्धिक विश्लेषण के आधार पर कार्य नहीं करता। बुद्धि अवचेतन आवेगों की दासी है। यदि यह सच है तो राजनीति के विद्यार्थी को भी इन अवचेतन प्रेरणाओं

और मनोवृत्तियों को समझना आवश्यक हो जाएगा। इन्हें बिना समझे वह राजनीतिक जीवन का न तो यथार्थवादी विश्लेषण कर सकता है और न उसके आदर्शों के सम्बन्ध में कोई निष्कर्ष निकाल सकता है। इसी प्रकार टोट्ट ने अपनी पुस्तक (शान्ति और युद्ध के दौरान मानववृत्ति) में यह बताया है कि शान्ति एवं युद्ध दोनों ही स्थितियों में किस प्रकार राष्ट्रीय नेता जनता के मनोभावों का अध्ययन कर उससे लाभ उठा सकते हैं। लिप्पमैन ने अपने ग्रन्थ 'लोकमत' में सर्वसाधारण जनता के मत, लोगों की हठधर्मी और उनके विचारों का विश्लेषण किया है। गुन्नार मिर्डल की प्रसिद्ध पुस्तक 'अमेरिकी दुविधा' अमेरिका के लोगों की मनोवृत्ति को भली प्रकार स्पष्ट करती है।

राजनीति विज्ञान के लिए मनोविज्ञान की उपादेयता निम्न प्रकार स्पष्ट की जा सकती है:-

1. यह उल्लेखनीय है कि भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न शासन प्रणालियों का आधार जन-समाज की मनोवृत्ति ही है। प्रमुख फ्रांसीसी पत्रकार बौतमी ने अपने दो महान ग्रन्थों में इंग्लैण्ड और अमेरिका के लोगों की मनोवृत्ति का विवेचन करके यह बताने का प्रयत्न किया है कि इन दोनों देशों की राजनीतिक संस्थाओं में जो मुख्य भेद हैं, उनका प्रमुख कारण लोगों की मनोवृत्ति ही है। इंग्लैण्ड एक लोकतंत्रीय देश होते हुए भी आज तक सम्राट के अस्तित्व को बनाये हुए है। इसके मूल में अंग्रेजों की भावना व मनोवृत्ति है। सम्राट का पद वहाँ यद्यपि कुछ सीमा तक निरर्थक और सारहीन हो गया है, तथापि इंग्लैण्ड के लोगों की ऐसी धारणा बन गयी है कि "जब तक बकिंघम महल में राजा अथवा रानी विद्यमान हैं, तभी तक वे शान्ति की नींद ले सकते हैं।" इस प्रकार वहाँ राजपद की व्यावहारिक उपयोगिता उतनी नहीं है जितनी कि उसके पीछे जन-साधारण की भावना है।

2. राज्य को किसी नवीन नीति का निर्धारण अथवा किसी नये कानून को बनाते समय समाज की मनोवृत्ति का भली प्रकार अध्ययन कर लेना चाहिए अन्यथा जनता उस नीति या कानून का स्वागत नहीं करेगी। आधुनिक युग में तो जनमत का महत्व अत्यधिक बढ़ गया है। लोकतंत्र का आधार 'जनमत' है और जनमत बनाने के लिए अब विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रचार-साधनों का उपयोग किया जाने लगा है। प्रो० गेटेल के शब्दों में, "राजनीतिक दलों की प्रकृति आजकल पर्याप्त सीमा तक मनोवैज्ञानिक बन गयी है।"

3. जन-सामान्य के आचरण तथा उत्तेजित भीड़ के मनोभावों को समझे बिना कोई व्यक्ति सफल राजनीतिज्ञ अथवा जननेता नहीं बन सकता। उदाहरणार्थ- प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त जर्मनी की जनता में पराजय के कारण घोर निराशा तथा असन्तोष उत्पन्न हो गया था। हिटलर ने उसे पहचाना और उससे लाभ उठाया। जनता में उत्साह, साहस और सैनिक भावना का संचार करने के लिए हिटलर और उसके साथी कहा करते थे कि, "मनुष्य को शेर की तरह निर्भय और खूनी होना चाहिए। सच्चा जर्मन वह है जो अपनी बुद्धि से नहीं अपितु अपने रक्त से सोचे।" इस प्रकार महात्मा गाँधी की सफलता का मुख्य

कारण भी जनता की मनोवृत्ति का अध्ययन कर उसी के अनुरूप कार्य करना था। महात्मा गाँधी जानते थे कि भारत एक धर्म प्रधान देश है। इसीलिए उन्होंने धार्मिक प्रतीकों- प्रार्थना, उपवास, गौरक्षा, ब्रह्मचर्य, सत्याग्रह आदि का आश्रय लिया। गाँधीजी ने एक साधारण किसान की वेश-भूषा ग्रहण की और अपने संदेश को गाँव-गाँव तक पहुँचाया। इटली के महान देशभक्त मैजिनी की ही भाँति गाँधीजी ने भी अध्यात्मवाद का सहारा लिया और देशभक्ति को 'धर्म' व 'उपासना' का स्वरूप प्रदान किया।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कोई भी राजनीतिज्ञ मनोविज्ञान के अध्ययन की उपेक्षा नहीं कर सकता। लॉर्ड ब्राइस ने तो यहाँ तक कह डाला है कि, "मनोविज्ञान ही राजनीति विज्ञान का आधार है।"

लेकिन इन दोनों के बीच में कुछ अन्तर भी है:-

1. प्रकृति:- राजनीति विज्ञान एक आदर्शवादी विज्ञान है जो 'क्या था और क्या है?' के साथ ही 'क्या होना चाहिए?' का भी अध्ययन करता है, जबकि मनोविज्ञान का आदर्श से कोई सम्बन्ध नहीं होता है।
2. विषय:- राजनीति विज्ञान मनुष्य के राजनीतिक संगठनों तथा कार्यों का अध्ययन करता है, जबकि मनोविज्ञान मनुष्य की मानसिक अवस्थाओं का भी अध्ययन करता है।
3. व्यवहारिक जीवन में महत्व:- मनोविज्ञान केवल मनुष्य की मनोवृत्तियों का अध्ययन करता है, जबकि राजनीति विज्ञान व्यवहारिक कार्यों का भी अध्ययन करता है।

अभ्यास प्रश्न

1. गुन्नार मिर्डल की प्रसिद्ध पुस्तक 'अमेरिकी दुविधा' है। सत्य असत्य/
2. टोटर की पुस्तक 'शान्ति और युद्ध के दौरान मानववृत्ति' है। सत्य असत्य/
3. लॉर्ड ब्राइस के कथनानुसार, "राजनीतिशास्त्र 'इतिहास' और 'राजनीति' के मध्य स्थित है। सत्य असत्य/
4. स्टर्ले की पुस्तक 'द स्टडी ऑफ हिस्ट्री' है। सत्य असत्य/

3.3 सारांश

समाज में मानव की विविध भूमिकाओं और आवश्यकताओं को समझने के लिए राजनीति विज्ञान अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करता है। क्योंकि मानवीय गतिविधियाँ किसी एक शास्त्र की विषय सामग्री तक सीमित नहीं रह सकती। मानवीय गतिविधियों को स्पष्ट करने के लिए सभी सामाजिक विज्ञानों की पूरक भूमिका होती है। फलतः मानव और समाज के मूल तत्व को समझने के लिए किसी विशिष्ट सामाजिक विज्ञान की सीमाओं का अतिक्रमण करना ही होता है। 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से सामाजिक विज्ञानों के बीच के अंतः सम्बन्धों पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है। इसी स्वाभाविक क्रम में, राजनीति विज्ञान ने इस प्रक्रिया में सहज ढंग से भाग लिया है और आज के परिप्रेक्ष्य में राजनीति विज्ञान की उपयोगिता विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों से पैदा माँगों को पूरा करने के लिए, अपनी निश्चित आवश्यकताओं के अनुरूप अन्य शास्त्रों से सहायता लेकर पूर्ण करने में है। इसलिए सम्बन्धित शाखाओं से सम्बन्धित सामाजिक ज्ञान को सबसे अच्छे ढंग से पेश करने के लिए सभी 'सामाजिक विज्ञान', अनिवार्यतः सहायक भूमिका अदा करते हैं। यह राजनीति विज्ञान ही है, जो राजनीतिक यथार्थ को साफ करने के लिए इस ज्ञान का उपयोग करता है।

3.4 शब्दावली

1. राजनीतिक अर्थशास्त्र: अध्ययन की वह शाखा जिसमें राजनीतिक विश्लेषण के लिए आर्थिक तत्वों की भूमिका पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता है; आर्थिक प्रतिरूपों का प्रयोग किया जाता है; और आर्थिक जीवन पर राजनीतिक निर्णयों के प्रभाव की जाँच की जाती है। इसमें उन संकल्पनाओं का विस्तृत विवेचन किया जाता है जो मनुष्यों की राजनीतिक तथा आर्थिक दोनों प्रकार की गतिविधियों पर समान रूप से लागू होती हैं, जैसे कि संसाधनों का आबंटन, मांगें, लागतें, उपयोगिता और इष्टतमकरण इत्यादि।

2. राजनीतिक समाज विज्ञान: अध्ययन की वह शाखा जिसमें राजनीतिक संस्थाओं, प्रक्रियाओं और विचारधाराओं, इत्यादि को सामाजिक संरचनाओं और प्रक्रियाओं के संदर्भ में रखकर देखा और परखा जाता है। इसमें राजनीतिक प्रणाली को सामाजिक प्रणाली की एक उपप्रणाली के रूप में देखा जाता है और उनके परस्पर सम्बन्ध का अन्वेषण किया जाता है।

3. राजनीतिक मनोविज्ञान: अध्ययन की वह शाखा जिसमें व्यक्तित्व और उसके राजनीतिक व्यवहार के परस्पर सम्बन्ध का पता लगाया जाता है; राजनीतिक अभिवृत्तियों की समानताओं और भिन्नताओं का अन्वेषण किया जाता है; राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया और नेतृत्व की शैलियों का विश्लेषण किया जाता है, राजनीतिक प्रभाव और प्रचार के बारे में अनुसंधान किया जाता है।

4. राजनीतिक दर्शन: अध्ययन की वह शाखा जिसमें मुख्यतः राजनीति के नैतिक और तात्त्विक पक्षों पर विचार किया जाता है। इसमें राज्य और राजनीतिक जीवन के स्वरूप, राजनीतिक दायित्व के आधार और विभिन्न राजनीतिक प्रणालियों की गुणवत्ता की जाँच की जाती है और सार्वजनिक जीवन के लक्ष्य निर्धारित करने के लिए दर्शन और इतिहास की विधियों का प्रयोग किया जाता है।

3.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

१. सत्य २. सत्य ३. सत्य ४. सत्य

3.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. जैन, पुखराज- राजनीति विज्ञान, एस0बी0पी0जी0 पब्लिकेशन, आगरा
2. सिंहल, एस0सी0- राजनीतिक सिद्धान्त, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा
3. आर्शीवादम, ए0डी0 तथा मिश्र, कृष्णकान्त- राजनीति विज्ञान, एस0 चॉद कम्पनी लि0, नई दिल्ली
4. गाबा, ओमप्रकाश- राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा, मयूर पेपर बैक्स, नोयडा
5. जौहरी, जे0सी0 एवं सीमा- आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, स्टर्लिंग पब्लिकेशन प्रा0 लि0, नई दिल्ली
6. वर्मा, एस0पी0- मॉडर्न पालिटिकल थ्योरी, विकास प्रकाशन, नई दिल्ली

3.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. दास, पी0जी0- मॉडर्न पालिटिकल थ्योरी, न्यू सेंट्रल बुक एजेंसी, कलकत्ता
2. जैन, एम0पी0- पालिटिकल थ्योरी, आर्थस गिल्ड पब्लिकेशन, दिल्ली
3. संधु, ज्ञान सिंह- राजनीतिक सिद्धान्त, दिल्ली विश्वविद्यालय
4. वर्मा, एस0एल0- एडवांसड मॉडर्न पालिटिकल थ्योरी, नेशनल पब्लिकेशन हाउस, नई दिल्ली

3.8 निबंधात्मक प्रश्न

1. राजनीतिक मामलों में दर्शन का क्या महत्व है।

2. राजनीति विज्ञान का इतिहास से सम्बन्ध बताइए। राजनीति विज्ञान के अध्ययन के लिए इतिहास की क्या उपयोगिता है?

3. राजनीति विज्ञान के विकास में समाजशास्त्र की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

4. राजनीति विज्ञान के अध्ययन में अर्थशास्त्र किस प्रकार उपयोगी है?

5. राजनीति विज्ञान और मनोविज्ञान के बीच सम्बन्ध पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।

6. राजनीति विज्ञान और भूगोल के सम्बन्ध पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

7. विश्व के मामलों में भौगोलिक राजनीति की भूमिका और प्रभाव का वर्णन करें।

इकाई - 4 : राज्य अर्थ, प्रकृति क्षेत्र एवं तत्व

इकाई की संरचना

- 4.0 प्रस्तावना
- 4.1 उद्देश्य
- 4.2 राज्य का अर्थ
- 4.3 राज्य की प्रकृति
- 4.4 राज्य का क्षेत्र
- 4.5 राज्य के तत्व
 - 4.5.1 जनसंख्या
 - 4.5.2 प्रदेश
 - 4.5.3 शासन
 - 4.5.4 प्रभुसत्ता या संप्रभुता
- 4.6 सारांश
- 4.7 शब्दावली
- 4.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 4.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 4.10 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री
- 4.11 निबंधात्मक प्रश्न

4.0 प्रस्तावना

राज्य राजनीति विज्ञान में एक वैज्ञानिक अर्थ रखने वाला शब्द है। प्राचीन काल से लेकर वर्तमान समय तक राजनीतिक चिंतन का केन्द्रीय प्रतिपाद्य विषय राज्य रहा है। अरस्तू की दृष्टि से व्यक्ति की कल्पना राज्य के अन्दर की जा सकती है। उसने कहा था कि राज्य के बाहर रहने वाला व्यक्ति पशु या देवता होगा, मानव नहीं हो सकता। इसी कारण उसने राज्य को स्वाभाविक संस्था माना था तथा अपने विचारों में केन्द्रीय स्थान राज्य को दिया था। गेटेल ने राजनीति विज्ञान को 'राज्य का विज्ञान' कहकर पुकारा था तथा जाने माने राजनीति शास्त्र के विद्वान गार्नर ने तो यहाँ तक कह दिया था कि राजनीति विज्ञान का अध्ययन राज्य के साथ प्रारम्भ होता है तथा राज्य के साथ ही समाप्त हो जाता है। सामान्य भाषा में प्रत्येक व्यक्ति अपनी सुविधानुसार राज्य का प्रयोग सरकार समाज, समुदाय एवं राष्ट्र आदि के लिए करता है। ये सभी शब्द अपना-अपना निश्चित एवं स्पष्ट अर्थ रखते हैं परन्तु राज्य शब्द इनसे कुछ भिन्न अर्थ रखता है।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप निम्न बातों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

1. राज्य का अर्थ क्या है?
2. एक राजनीतिक इकाई के रूप में राज्य की प्रकृति क्या होती है।
3. राज्य के क्षेत्र क्या होते हैं?
4. राज्य के विभिन्न तत्व एवं उनकी विशेषतायें।
5. इकाई का परिचय एवं पाठ्य सामग्री।

4.2 राज्य का अर्थ:

राज्य राजनीति विज्ञान में एक वैज्ञानिक अर्थ रखने वाला शब्द है। प्राचीन काल से लेकर वर्तमान समय तक राजनीतिक चिंतन का केन्द्रीय प्रतिपाद्य विषय राज्य रहा है। अरस्तू की दृष्टि से व्यक्ति की कल्पना राज्य के अन्दर की जा सकती है। उसने कहा था कि राज्य के बाहर रहने वाला व्यक्ति पशु या देवता होगा, मानव नहीं हो सकता। इसी कारण उसने राज्य को स्वाभाविक संस्था माना था तथा अपने विचारों में केन्द्रीय स्थान राज्य को दिया था। गेटेल ने राजनीति विज्ञान को 'राज्य का विज्ञान' कहकर पुकारा था तथा जाने माने राजनीति शास्त्र के विद्वान गार्नर ने तो यहाँ तक कह दिया था कि राजनीति

विज्ञान का अध्ययन राज्य के साथ प्रारम्भ होता है तथा राज्य के साथ ही समाप्त हो जाता है। सामान्य भाषा में प्रत्येक व्यक्ति अपनी सुविधानुसार राज्य का प्रयोग सरकार समाज, समुदाय एवं राष्ट्र आदि के लिए करता है। ये सभी शब्द अपना-अपना निश्चित एवं स्पष्ट अर्थ रखते हैं परन्तु राज्य शब्द इनसे कुछ भिन्न अर्थ रखता है।

यदि हम बोलचाल की भाषा में बात करें तो राज्य शब्द के अन्तर्गत अमेरिका, रूस, इंग्लैण्ड, कनाडा, भारत जैसे राज्य आ जाते हैं। दूसरी ओर संघात्मक शासन की इकाईयों के लिए भी राज्य शब्द का प्रयोग किया जाता है। अमेरिकी संघ शासन की इकाईयों न्यूयार्क, कैलीफोर्निया व भारत संघ की इकाईयों पंजाब, हरियाणा, मध्य प्रदेश, केरल इत्यादि राज्य कहे जाते हैं परन्तु ये राज्य शब्द का सही प्रयोग नहीं है। वास्तव में राज्य के शाब्दिक अर्थ तथा उसके राजनीतिक अर्थ में बहुत अन्तर है।

प्राचीन यूनान में राज्य शब्द के लिए पोलिस शब्द का प्रयोग किया जाता था जिसका अर्थ नगर राज्य होता है। उस काल के यूनान के इन छोटे-छोटे नगर राज्यों का स्वरूप आधुनिक काल के विशाल राज्यों जैसा नहीं था। वाद भौगोलिक खण्ड के लिए किया था। यहाँ पर यह ध्यान देना आवश्यक है कि ग्रीक एवं रोमन विचारों में आधुनिक काल के राज्य का वर्णन नहीं मिलता। सोलहवीं सदी के प्रारम्भ में आधुनिक राज्य के दृष्टिकोण का उदय हुआ। मै क्यावेली जैसे जाने माने राजनीतिक विचारक ने राज्य शब्द का समुचित प्रयोग किया। उसने अपने ग्रंथ 'दि प्रिंस' में लिखा है "जहाँ व्यक्तियों पर शक्ति का प्रयोग किया जाता है वह राज्य है।" वास्तव में राज्य हमारे सामाजिक जीवन को व्यवस्थित बनाता है तथा शान्ति स्थापित करता है। यह सामाजिक सहयोग का ऐसा वातावरण बनाता है जिसके माध्यम से विभिन्न सभ्यताओं एवं संस्कृतियों का विकास सम्भव हो सका है।

राज्य शब्द का व्यापक अर्थ समझने के लिए हमें कुछ परिभाषाओं की ओर ध्यान देना होगा।

राज्य की परिभाषायें:- राजनीति विज्ञान के विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से राज्य की परिभाषायें प्रस्तुत की हैं। प्राचीन तथा आधुनिक विचारकों ने अलग-अलग ढंग से राज्य की परिभाषायें दी हैं। यहाँ हमें दोनों प्रकार की परिभाषाओं का अध्ययन करना होगा।

प्राचीन विचारक:- राजनीति विज्ञान के जनक अरस्तू ने राज्य की उत्पत्ति के पूर्व अनेक समुदायों के संगठनों की कल्पना की थी। उसके अनुसार मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसमें सामाजिक जीवन से ही सद्गुणों का विकास होता है। मनुष्य परिवारों में रहता था, परिवारों से कुलों तथा कुलों से ग्रामों का विकास हुआ। अन्ततः ग्रामों का संगठन राज्य के रूप में प्रकट हुआ। इस प्रकार राज्य एक सर्वोच्च समुदाय माना गया जिसमें परिवार कुल एवं ग्राम समाहित है। अतएव अरस्तू ने

राज्य की परिभाषा इस प्रकार दी है “राज्य परिवारों तथा ग्रामों का एक ऐसा समुदाय है जिसका लक्ष्य पूर्ण सम्पन्न जीवन की प्राप्ति है।” प्रसिद्ध रोमन विचारक **सिसरो** के अनुसार “राज्य एक ऐसा बहुसंख्यक समुदाय है जिसका संगठन सामान्य अधिकारों तथा पारस्परिक लाभों की प्राप्ति के लिए किया जाता है।” **ग्रोशियस** -राज्य को एक ऐसा स्वतंत्र मनुष्यों का पूर्ण समुदाय मानता है जो अधिकारों की सामान्य भावना तथा लाभों में पारस्परिक सहयोग द्वारा जुड़ा होता है।

प्राचीन विचारकों की परिभाषाओं से निष्कर्ष स्वरूप राज्य की दो विशेषतायें सामने आती हैं- (1) राज्य सभी समुदायों से उच्चतर समुदाय है। (2) सभी मनुष्य सम्मिलित रूप में उन लाभों को प्राप्त करते हैं जो केवल राज्य द्वारा प्राप्त होते हैं।

आधुनिक विचारक:- आधुनिक विचारकों ने राज्य की परिभाषा नये प्रकार से की है। उसमें राज्य को एक समुदाय की अपेक्षा संगठनात्मक इकाई के रूप में स्वीकार किया गया है जो निम्न परिभाषाओं में स्वतः स्पष्ट हो जायेगा-

बर्गेस के अनुसार “राज्य एक संगठित इकाई के रूप में मानव जाति का विशिष्ट भाग है।”

बलशली के मतानुसार- “किसी निश्चित भू-भाग पर बसा हुआ राजनीतिक रूप में संगठित समाज राज्य कहलाता है।”

हालैंड के अनुसार- “राज्य एक ऐसा विशाल जनसमुदाय है जो एक निश्चित भू-खण्ड में निवास करता है तथा जिसमें बहुमत की अथवा एक बड़े वर्ग की इच्छा, उसकी शक्ति के कारण, उसके विरोधियों को भी मान्य हो।”

हाल के शब्दों में- “एक स्वतंत्र राज्य के ये लक्षण हैं कि उस राज्य की जनता अपने राजनीतिक आदर्शों के लिए स्थायी रूप से संगठित हो, उसके अधिकारों में निश्चित भू-खण्ड हो तथा वह बाह्य नियंत्रण से मुक्त हो।”

फिलीमोर के शब्दों में- “मनुष्यों का ऐसा समुदाय राज्य कहलाता है जो किसी निश्चित भू-खण्ड पर स्थायी रूप से निवास करता हो तथा जो सामान्य कानूनों, अदालतों व रीति रिवाजों द्वारा एक व्यवस्थित समुदाय में संगठित हो तथा जो सुसंगठित सरकार द्वारा उस भू-भाग की सीमा में निवास करने वाले मनुष्य व अन्य सभी पदार्थों पर पूर्ण नियन्त्रण, अधिकार व प्रभुत्व रखता हो तथा जो विश्व के किसी भी अन्य समाज से युद्ध करने, शान्ति करने तथा सब प्रकार के अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को बनाने का अधिकार रखता है।”

उपर्युक्त परिभाषाओं से यही निष्कर्ष निकलता है कि राज्य एक संगठित राजनीतिक इकाई है जिसके चार प्रमुख तत्व होते हैं- (1) जनसंख्या (2) निश्चित भू-भाग (3) शासन (4) प्रभुसत्ता।

परन्तु राज्य की सर्वश्रेष्ठ परिभाषा सम्भवतः गार्नर द्वारा प्रस्तुत की गई है। इसका कारण यह है कि प्रस्तुत परिभाषा आधुनिक काल के लगभग सभी राज्यों को अपनी सीमा में बाँध सकने की क्षमता रखती है। इसके अतिरिक्त प्रचीन काल एवं मध्यकाल के विभिन्न प्रकार के राज्यों के लिये भी उपर्युक्त प्रतीत होती है। आज संसार में जहाँ एक ओर भारत, चीन अमेरिका, रूस, ब्राजील जैसे बड़ी जनसंख्या तथा भू-क्षेत्र वाले राज्य हैं, वही दूसरी ओर सैन मैरिनो, मालदीव, भूटान, बेन्जिनियम, लम्जेमवर्ग जैसे छोटे भू क्षेत्र एवं जनसंख्या वाले राज्य भी हैं। इस दृष्टि से गार्नर की परिभाषा सर्वथा महत्वपूर्ण है।” राजनीति विज्ञान एवं सार्वजनिक कानून के विचार के रूप में राज्य मनुष्यों के उस समुदाय का नाम है जो जनसंख्या में चाहे कम या अधिक हो परन्तु जो स्थायी रूप से किसी निश्चित भू-भाग पर रहता हो तथा जो किसी भी बाह्य शान्ति के नियंत्रण से पूर्व रूप से या लगभग स्वतंत्र हो तथा जिसमें एक ऐसी व्यवस्थित शासन व्यवस्था या सरकार हो जिसके आदेश का पालन करने के लिए उस भाग के सब निवासी प्रायः अभ्यस्त हों।”

4.3 राज्य की प्रकृति

राज्य की प्रकृति क्या है यह एक विचारणीय विषय है परन्तु इस सम्बन्ध में विभिन्न राजनीतिक विचारकों एवं राजनीति शास्त्रियों में पर्याप्त मतभेद हैं। प्लेटो एवं अरस्तू जैसे आदर्शवादी विचारक राज्य को एक प्राकृतिक संस्था मानते हैं जिसका सम्बन्ध मानवीय विवेक से है। हाब्स, लोक जैसे समझौतावादियों ने राज्य को एक कृत्रिम यंत्र मानते हैं मैकाइबर राज्य को एक सामाजिक यथार्थ मानते हैं, एडमण्ड बर्क जैसे इतिहासकार राज्य को ऐतिहासिक विकास की उपज मानते हैं, जबकि लास्की जैसे राजनीति वैज्ञानिक का मानना है कि यह शान्ति एवं सुरक्षा के लिए स्थापित एक संघ है।

इस दृष्टि से राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में हमारे समक्ष कई सिद्धान्त हैं। कुछ सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति पर प्रकाश डालने वाले हैं; जिनका अध्ययन हम आगे आने वाले अध्यायों में करेंगे, जबकि कुछ का सम्बन्ध उसकी प्रकृति से है। यहाँ हम राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

१. आदर्शवादी सिद्धान्त

आदर्शवादी सिद्धान्त राज्य को एक ऐसी प्राकृतिक संस्था के रूप में स्वीकार करता है जो अपने आप में सर्वोच्च मानव समुदाय है जिसके अन्तर्गत रहकर मनुष्य पूर्व एवं आत्म निर्भर जीवन व्यतीत कर सकता है। इसके अन्तर्गत राज्य को साध्य तथा व्यक्ति को साधन मानता है जिसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति राज्य के लिए बना है न कि राज्य व्यक्ति के लिए इसके समर्थकों में यूनानी विचारकों प्लेटो एवं

अरस्तू का नाम इंग्लैण्ड के ग्रीन, ब्रेडले, ब्रोसाँके जैसे विचारकों का नाम जर्मनी के कार्ल जे फ्रेडरिक हीगल तथा फ्रांसीसी विचारक रूसो का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है।

२. वैधानिक सिद्धान्त

वैधानिक सिद्धान्त राज्य को कानून बनाने उसकी व्याख्या तथा प्रवर्तन करने वाली संस्था मानता है। जब तक राज्य स्वयं अधिकार प्रदान न करे, तब तक कोई अन्य अभिकरण कानून बनाने अथवा उसे लागू करने की शक्ति नहीं रखता। अतः राज्य का निजी व्यक्तित्व है, उसकी अपनी चेतना व अपनी इच्छा है। परन्तु इस सिद्धान्त के समर्थकों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है।

३. ऐतिहासिक

सर हेनर मैन तथा क्रैबे जैसे ऐतिहासिक विधिशास्त्रों का मानना है कि राज्य द्वारा निर्मित कानून उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि इतिहास द्वारा समर्थित रीति रिवाज पर आधारित कानून। रीति रिवाजों के माध्यम से निर्मित कानून राज्य के वैधानिक आधार को सशक्त करते हैं।

विश्लेषणात्मक:- जेरेम बेंघम एवं सर हेनरी आस्टिन जैसे विश्लेषणवादियों की मान्यता है कि कानून शब्द प्रभुसत्ताधारी के आदेश की ओर संकेत करता है। अतएव राज्य द्वारा निर्मित कानून ही बाध्यकारी माना जाता है राज्य द्वारा निर्मित अथवा वस्तु बाध्यकारी अथवा आदेशात्मक चरित्र नहीं रखती।

४. आंशिक सिद्धान्त:

यह सिद्धान्त प्राकृतिक एवं सामाजिक संरचनाओं में सादृश्य स्थापित करने वाले बहुत पुराने विचार पर आधारित है। प्लेटो ने राज्य को वृहद रूप में व्यक्ति माना था। रोमन काल में सिसरो ने राज्य तथा व्यक्ति के मध्य सादृश्य स्थापित करते हुए राज्याध्यक्ष की तुलना उस आत्मा से की जो मानव शरीर अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। बलंशली जैसे विख्यात लेखक ने यह घोषणा की कि राज्य मानव शरीर का हृद्बहू रूप है। उसने इस बात पर बल दिया कि सामाजिक संरचना के रूप में राज्य कृत्रिम यंत्र के समान नहीं बल्कि राजीव आध्यात्मिक प्राणी की तरह है। वस्तुतः राज्य नागरिकों के समूह मात्र से कुछ अधिक है। परन्तु इस सिद्धान्त का प्रबल समर्थक इंग्लैण्ड का हबर्टे स्पेंसर है, जिसने मानव शरीर एवं राज्य में सादृश्यता सोदाहरण प्रस्तुत की है। जिस प्रकार शरीर में भरण पोषण की संरचनायें (मुख, उदर इत्यादि) होती हैं उसी प्रकार राज्य में उत्पादन केन्द्र होते हैं। जिस प्रकार शरीर में संचार उपकरण (नसें, नाड़ी, धमनियाँ) होते हैं, उसी प्रकार राज्य में परिवहन प्रणाली (सड़के, रोलमार्ग इत्यादि) होती हैं।

५. मार्क्सवादी सिद्धान्त: राज्य का मार्क्सवादी सिद्धान्त राज्य की प्रकृति के सन्दर्भ में अन्य सिद्धान्तों से भिन्न विचारधारा रखता है। यह सिद्धान्त राज्य को न तो मानवीय चेतना की उपज मानता है तथा न

ही रक्त सम्बन्ध, सहमति अथवा धर्म पर आधारित संस्था राज्य वस्तुतः वर्गीय चेतना का परिणाम है। इसके अन्तर्गत राज्य दो वर्गों में विभक्त है- (1) बुर्जुआ (अमीर पूँजीपति वर्ग), (2) सर्वहारा (पूँजीविहीन विपन्न वर्ग)। राज्य की स्थापना अमीर वर्ग ने अपने अधिकारों की रक्षा तथा गरीब वर्ग के शोषण के लिए की है तथा इस दृष्टि से मानव इतिहास के अन्तर्गत राज्य का विकास वर्ग संघर्ष का ही परिणाम रहा है। राज्य में शोषण तथा अन्याय का अन्त करने का एक ही मार्ग है- राज्य का अन्त तथा वर्गविहीन, राज्य विहीन समाज की स्थापना करना। इसके लिए आवश्यकता यह है कि सर्वहारा वर्ग की एकता स्थापित करना तथा उसके नेतृत्व में क्रान्ति का मार्ग तैयार करना और उसके माध्यम से बुर्जुआ वर्ग का अन्त करके एक ऐसे समाज की ओर बढ़ना जहाँ किसी प्रकार का वर्ग विभाजन न हो। यह सिद्धान्त राज्य की अपरिहार्यता को अस्वीकार करता है।

4.4 राज्य का क्षेत्र

राज्य की प्रकृति का निर्धारण करने के उपरांत राज्य के क्षेत्र पर ध्यान देना आवश्यक है। राज्य के क्षेत्र का निर्धारण करने के उपरांत ही हम व्यक्ति तथा राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों की अनिवार्यता का निर्धारण करने में सक्षम हो सकेंगे। इस सन्दर्भ में दो बातों पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। प्रथम, राज्य का अन्य समानार्थी शब्दों जैसे सरकार राष्ट्र, समाज, प्रान्त से कुछ अलग क्षेत्र एवं वैधानिक स्तर है। द्वितीय, राज्य का कार्य क्षेत्र राज्य के ऐतिहासिक विकास के परिणाम स्वरूप क्रमशः विस्तृत होता गया है तथा इस दृष्टि से नगर राज्य से राष्ट्र राज्य की अवस्था तक राज्य के क्षेत्र में बहुआयामी परिवर्तन होते गये हैं। आधुनिक राज्य के क्षेत्र में निम्नलिखित बातें सम्मिलित हैं जिसमें सभी व्यक्तियों को रोजगार, अधिकतम आर्थिक समानता, विकलांग असक्षम तथा निर्बल वर्गों के जीवनयापन के लिए न्यूनतम सुविधाओं की व्यवस्था करना सम्मिलित है।

राज्य द्वारा व्यक्तियों के विकास के लिए उन समस्त सुविधाओं की व्यवस्था की जाती है जो उनके व्यक्तित्व के विकास हेतु आवश्यक समझी जाती हैं। इस दृष्टि से शिक्षा तथा स्वास्थ्य की सुविधा का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। इस हेतु राज्य अपने संसाधनों को व्यवस्थित करते हुए एक निश्चित स्तर तक निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करता है। इसके अतिरिक्त राज्य द्वारा स्वास्थ्य की आवश्यकता को देखते हुए निःशुल्क स्वास्थ्य सुविधाओं तथा चिकित्सालयों की व्यवस्था की जाती है।

राज्य द्वारा लोगों का न्यूनतम जीवन स्तर उठाने तथा सामान्य सुविधायें जुटाने का भी प्रयास किया जाता है। इसके अन्तर्गत कृषि व्यापार तथा विकास के कार्यों का नियमन एवं नियंत्रण किया जाता है। इसके अतिरिक्त राज्य के द्वारा परिवहन, संचार साधन बैंक, विद्युत कृषि के वैज्ञानिक साधनों, उद्योगों का संचालन सार्वजनिक उद्यानों, क्रीड़ा क्षेत्रों सिनेमा गृहों, रंगमंच, रेडियो, दूरदर्शन इत्यादि की व्यवस्था की जाती है।

राज्य के द्वारा अपने नागरिकों की राजनीतिक एवं सामाजिक अधिकारों की सुरक्षा का काय भी सम्पन्न किया जाता है। आज के लोकतांत्रिक युग में राज्य के अपने नागरिकों को विचार अभिव्यक्ति सम्मेलन संगठन इत्यादि की स्वतंत्रता प्रदान की जाती है। राज्य का यह भी प्रयास रहता है कि उसके नागरिकों को पर्याप्त सामाजिक सुरक्षा एवं समानता प्रदान की जाये तथा धर्म जाति, वंश, रंग तथा सम्पत्ति के आधार पर किसी प्रकार का भेद न किया जाये।

आज अन्तर्राष्ट्रीयता के युग में राज्य का कार्य क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में भी काफी बढ़ गया है। राज्यों के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सहयोग एवं सद्भावना का कार्य भी सम्पन्न किया जाता है। यह संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा निर्धारित किया जाता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के लिए यह एक आदर्श लक्ष्य माना गया है।

4.5 राज्य के तत्व

राज्य की परिभाषा प्रकृति एवं क्षेत्र की जानकारी के उपरांत हमारे समक्ष यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि राज्य के प्रमुख निर्माणकारी तत्व क्या हैं, इनका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है-

7.5.1 जनसंख्या

राज्य एक मानव संघ है। इस दृष्टि से राज्य का प्रथम निर्माणकारी तत्व जनसंख्या ही है। एक राज्य की जनसंख्या कितनी रखी जाये इसका कोई निश्चित उत्तर देना सम्भव नहीं है। प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'दिलाज' में आदर्श राज्य के लिए जनसंख्या 5040 निर्धारित की थी जबकि रूसो ने यह संख्या १0,000 निर्धारित की थी। परन्तु वर्तमान समय में विश्व में जहाँ एक अरब की जनसंख्या से अधिक वाले भारत एवं चीन जैसे राज्य हैं तो दूसरी ओर सैन मैरिनो तथा मालदीव जैसे राज्य भी हैं जिनकी जनसंख्या कुछ हजार है। इस संदर्भ में अरस्तू का सुझाव ध्यान देने योग्य है कि राज्य की जनसंख्या न तो इतनी विशाल हो कि यह प्रशासनिक समस्या बन जाये तथा इतनी कम होनी चाहिए कि लोग शान्ति एवं सुरक्षा के साथ न रह सकें। राज्य की जनसंख्या इतनी अवश्य होनी चाहिये कि लोग सुखी एवं आत्मनिर्भर जीवन बिता सकें।

4.5.2 प्रदेश

राज्य का दूसरा आवश्यक तत्व प्रदेश है। निश्चित भू-भाग के बिना कोई राज्य नहीं बन सकता। घुमक्कड़ बाजारों या कबीलों के समूह को राज्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनका कोई निश्चित प्रदेश नहीं होता। जनसंख्या की ही भांति राज्य की कोई मानक सीमा या क्षेत्र निश्चित नहीं किया जा सकता। प्रादेशिक आकार की दृष्टि से रूस, कनाडा, चीन जैसे बड़े राज्य भी आधुनिक विश्व में पाये जाते हैं तो किसी मालदीप, भूटान जैसे छोटे राज्य भी हैं। राज्य की जनसंख्या एवं क्षेत्रफल में पर्याप्त

संतुलन का बने रहना परम आवश्यक है अन्यथा इससे राज्य की एकता अखण्डता एवं सामान्य व्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

4.5.3 शासन

शासन राज्य की आत्मा है। यह समाज की इच्छा को लागू करता है यदि राज्य को सभ्य जीवन की प्रथम शर्त माना गया है तो यह शासन के अस्तित्व के कारण ही है जो कानून एवं व्यवस्था की रक्षा करता है तथा उत्तम जीवन को सम्भव बनाता है। राज्य के शासन का गठन ऐसा होना चाहिए कि वह शांति तथा सुरक्षा की स्थितियों को बनाये रखने के लिए कानून लागू करे। यदि शासन नहीं होगा तो अराजकता उत्पन्न होगी तथा राज्य का अंत हो जायेगा।

4.5.4 प्रभुसत्ता या संप्रभुता

संप्रभुता राज्य की सर्वोच्च शक्ति होती है जो उसे अन्य समूहों की अपेक्षा अधिक उच्च स्थान प्रदान करती है। संप्रभुता के दो पक्ष हैं- आंतरिक एवं बाह्य। आंतरिक संप्रभुता का अर्थ यह है कि राज्य के भीतर कोई ऐसी संस्था या समूह नहीं हो सकता जो इसकी बराबरी का दावा करे। बाह्य संप्रभुता का अर्थ है कि राज्य किसी विदेशी नियंत्रण से सर्वथा मुक्त है। यह बात अलग है कि कोई किसी राष्ट्र मण्डल या संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता स्वीकार करके स्वेच्छापूर्वक कोई अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व स्वीकार कर ले। संप्रभुता का अस्तित्व कानून के रूप में प्रकट होता है। यही कारण है कि राज्य का कानून सभी सम्बन्धित पक्षों के लिए अनिवार्य माना जाता है तथा उसका उल्लंघन होने पर दण्ड दिया जाता है।

अभ्यास प्रश्न

१. 'दि लाज' पुस्तक के लेखक कौन है.
२. प्लेटो ने अपनी में आदर्श राज्य के लिए कितनी निर्धारित की.
३. रूसो ने राज्य के लिए संख्या ----- निर्धारित की थी ,
४. प्लेटो एवं अरस्तू जैसे आदर्शवादी विचारक राज्य को एक कृत्रिम संस्था मानते हैं. सत्य/असत्य
५. किसने राजनीति विज्ञान को 'राज्य का विज्ञान' कहकर पुकारा था.
६. राजनीति शास्त्र के किस विद्वान ने कहा कि राजनीति विज्ञान का अध्ययन राज्य के साथ प्रारम्भ होता है तथा राज्य के साथ ही समाप्त हो जाता है.

७.राज्य की परिभाषा इस प्रकार किसने दी है “राज्य परिवारों तथा ग्रामों का एक ऐसा समुदाय है जिसका लक्ष्य पूर्ण सम्पन्न जीवन की प्राप्ति है।”

4.6 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हमें राज्य के अर्थ उसके प्रकृति और उसके क्षेत्र के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त हुई। राज्य के अर्थ को जानने के क्रम में हमें यह जानकारी प्राप्त हुई कि इसके चार महत्वपूर्ण तत्व हैं तो इसके अस्तित्व के आधार हैं। जिसमें सर्वप्रथम भू-भाग आता है क्योंकि इसके बिना राज्य के मूल स्वरूप की कल्पना नहीं की जा सकती। दूसरे क्रम में जनसंख्या आती है जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि जनसंख्या विहिन भू- भाग जंगल या रेगिस्तान हो सकता है। राज्य नहीं। तीसरे; राज्यके तत्वों में सरकार ऐसा तत्व है जिसमें राज्य का मुख्य स्वरूप दिखाई देता है। राज्य की गतिशीलता स्पष्ट होती है। अन्ततः सबसे महत्वपूर्ण सम्प्रभुता तत्व है। जो इसे अन्य समुदायों से अलग करती है। जैसा कि उपर इस इकाई में हम अध्ययन कर चुके कि सम्प्रभुता राज्य की सर्वोच्च सत्ता है जिसका तात्पर्य है कि राज्य अपने आचरण में आन्तरिक और बाह्य सभी मामलों में पूरी स्वतन्त्रता का उपभोग करती है।

4.7 शब्दावली

1. प्रतिपाद्य विषय - चिंतन का केन्द्रीय आधार।
2. नगर राज्य - नगर में ही राज्य का अस्तित्व
3. आंगिक सिद्धान्त - ऐसा सिद्धान्त जो शब्द को मानव शरीर के समान स्वीकार करता है।
4. बुर्जुआ वर्ग - सम्पन्न कुलीन एवं सम्पत्तिवान वर्ग।
5. सर्वहारा वर्ग - गरीब, शोषण का शिकार, सम्पत्ति विहीन वर्ग।
6. बंजारा समूह - ऐसा समूह जो भोजन एवं भरण पोषण के लिए स्थान-स्थान पर घूमता फिरता है।
7. कबीला - जाति समूह अथवा सांस्कृतिक समूह जो कुछ निश्चित मान्यताओं के आधार पर अपनी पहचान रखता है।

4.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

१.प्लेटो २.५०४० ३.१०००० ४.असत्य ५. गेटेल ६. गार्नर ७.अरस्तू

4.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

5- अनूप चन्द्र कपूर - राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त।

6-डॉ० पंत, डॉ० जैन एवं डॉ० गुप्ता - राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त।

डॉ० आर० सी० अग्रवाल - राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त।

डॉ० ओ० पी० गावा - राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त।

4.10 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री

1. J.W. Garner – Political Science and Government.

2. G. Gettel – Political Science

3. Appodorai – The Substance of Politics.

4 . Ashirvatham – Political Theory

4.11 निबंधात्मक प्रश्न

3. राज्य की प्रकृति का वर्णन करते हुए आंकिक एवं आदर्शवादी सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिए।
4. राज्य की प्रकृति के मार्क्सवादी सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।
5. राज्य के अर्थ, क्षेत्र और प्रमुख तत्वों की विवेचना कीजिये ।

इकाई – 5 : राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त – दैवीय सिद्धान्त, सामाजिक समझौता सिद्धान्त

इकाई की संरचना

- 5.0 प्रस्तावना
- 5.1 उद्देश्य
- 5.2 राज्य की उत्पत्ति का दैवीय सिद्धान्त
 - 5.2.1 दैवीय सिद्धान्त के प्रमुख तत्व
 - 5.2.2 दैवीय सिद्धान्त की आलोचना
 - 5.2.3 दैवीय सिद्धान्त की उपयोगिता
- 5.3 राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक समझौता सिद्धान्त
 - 5.3.1 थामस हाब्स का सामाजिक समझौता
 - 5.3.2 लॉक का सामाजिक समझौता
 - 5.3.3 जीन जैम्स रूसो का सामाजिक समझौता सिद्धान्त
 - 5.3.4 सामाजिक समझौता सिद्धान्त की आलोचना
 - 5.3.5 सिद्धान्त की उपयोगिता
- 5.4 राज्य की उत्पत्ति का विकासवादी सिद्धान्त
- 5.5 राज्य के विकास में सहायक तत्व
- 5.6 सारांश
- 5.7 शब्दावली
- 5.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 5.9 सन्दर्भ ग्रंथ
- 5.10 सहायक / उपयोगी सामग्री
- 5.11 निबंधात्मक प्रश्न

5.0 प्रस्तावना

इसके पूर्व की इकाई के अध्ययन के द्वारा हमें राज्य के अर्थ उसके प्रकृति और उसके क्षेत्र के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त हुई। राज्य के अर्थ को जानने के क्रम में हमें यह जानकारी प्राप्त हुई कि इसके चार महत्वपूर्ण तत्व है तो इसके अस्तित्व के आधार है। जिसमें सर्वप्रथम भू-भाग आता है क्योंकि इसके बिना राज्य के मूल स्वरूप की कल्पना नहीं की जा सकती। दूसरे क्रम में जनसंख्या आती है जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि जनसंख्या विहिन भू- भाग जंगल या रेगिस्तान हो सकता है। राज्य नहीं। तीसरे; राज्यके तत्वों में सरकार ऐसा तत्व है जिसमें राज्य का मुख्य स्वरूप दिखाई देता है। राज्य की गतिशीलता स्पष्ट होती है। अन्ततः सबसे महत्वपूर्ण सम्प्रभुता तत्व है। जो इसे अन्य समुदायों से अलग करती है।

इस इकाई के अध्ययन के आधार पर हमें यह जानकारी प्राप्त हो सकेगी कि राज्य के उत्पत्ति के दैवीय और सामाजिक समझौता के सिद्धांत के बारे में जानकारी प्राप्त हो सकेगी .जिसमें हम यह देखेंगे कि दैवीय सिद्धांत को मानने वाले यह मानते है कि राज्य ,पृथ्वी पर इश्वर का प्रकट रूप है .और राजा इश्वर का प्रतिनिधि है .जब कि सामाजिक समझौता के सिद्धांत को मानने वाले यह मानते है कि राज्य एक कृत्रिम संस्था है ,जिसे मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बनाया।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने का उद्देश्य निम्नवत है। आप इसके द्वारा-

1. राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामान्य बातें जान सकेंगे।
2. राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
3. राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
4. उपरोक्त दोनों ही सिद्धान्तों के निहितार्थों एवं मान्यताओं का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
5. दोनों ही सिद्धान्तों के अर्न्तगत शासन के आधार एवं अधिकार का अध्ययन कर सकेंगे।
6. दोनों ही सिद्धान्तों के अर्न्तगत शासन एवं सामान्य जनता के अधिकारों का अध्ययन कर सकेंगे।
7. दोनों ही सिद्धान्तों का आलोचनात्मक परीक्षण कर सकेंगे।
8. दोनों ही सिद्धान्तों की उपयोगिता का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

9. राज्य की उत्पत्ति का विकासवादी सिद्धान्त।
10. राज्य की उत्पत्ति में विकासवादी सिद्धान्त का योगदान।

5.2 राज्य की उत्पत्ति का दैवीय सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति किस प्रकार हुई यह एक रहस्यपूर्ण तथा विवादों से घिरा हुआ विषय है। राजनीतिक चेतना के उदय से सम्बन्धित परिस्थितियों के विषय में हमे वास्तव में कोई ज्ञान नहीं है। चूँकि आधुनिक राज्य लम्बे विकास का परिणाम है, अतएव इसकी उत्पत्ति के सन्दर्भ में इतिहास तथा समाजशास्त्र के अभिलेखों का अध्ययन करना आवश्यक माना जाता है। इस दृष्टि से राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ प्रमुख सिद्धान्त उभरकर सामने आये हैं। प्रस्तुत इकाई में हम राज्य की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त तथा सामाजिक समझौता सिद्धान्त का अध्ययन करेंगे।

राज्य की उत्पत्ति के बारे में दैवीय उत्पत्ति का सिद्धान्त सबसे प्रथम या पुराना सिद्धान्त है। यह राज्य को दैवीय निर्मित अथवा ईश्वरीय निर्मित संस्था मानता है। यह सिद्धान्त हमें बतलाता है कि ईश्वर राजा के रूप में अपने प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है, अतएव वह ईश्वर के प्रति ही उत्तरदायी है आम जनता के प्रति नहीं। आम जनता का परम कर्तव्य यही है कि वह राजा की आज्ञाओं का पालन करे।

राज्य की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त का समर्थन विविध धर्मग्रंथों में भी किया गया है। हिन्दू, यहूदी, ईसाई, मुसलमान तथा विश्व के अन्य सभी धर्मों के लोग इस मत को मानते हैं कि राजनीतिक सत्ता ईश्वरीय वरदान है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्वप्रथम ईसाइयों के धर्म ग्रंथ “न्यू टेस्टामेंट” द्वारा किया गया था। ईसाई सन्तों ने घोषणा की थी, ‘राजा के प्रति विद्रोह की भावना ही ईश्वर के प्रति विद्रोह है तथा जो ऐसा करेगा, उसे मृत्यु मिलेगी।’

यहूदी धर्म की पुस्तक “ओल्ड टेस्टामेंट” में भी राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना गया है। सेंट आगस्टाइन तथा पोप ग्रेगरी ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया था। महाभारत, मनुस्मृति आदि प्राचीन भारतीय ग्रंथों में भी इसका समर्थन किया गया है। इसमें स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि राजा का निर्माण इन्द्र, मित्र, वरुण, यम आदि देवताओं के अंश को लेकर हुआ है तथा राजा मनुष्य के रूप में एक महत्वपूर्ण देवता है। भारत में कुछ शासकों जैसे राम एवं कृष्ण को ईश्वरीय प्रतिनिधि माना जाता है। चीन में सम्राट को स्वर्ग का पुत्र के रूप में माना गया। इसी प्रकार मिस्र एवं जापान में भी राजा सूर्य-पुत्र माना जाता है। मुस्लिम मत में भी इस्लामी राज्य का ध्येय धरती पर अल्लाह का शासन बनाये रखना है। इंग्लैण्ड के शासक जेम्स प्रथम ने अपनी पुस्तक *The True Law of Free Monarchies* में सिद्धान्त का समर्थन करते हुए कहा था, राजाओं को सच्चे अर्थ में देवता माना जाता

है क्योंकि वे ईश्वरीय सत्ता के समान धरती पर शासन करता है। राजा लोक पृथ्वी पर ईश्वर की जीवित प्रतिमायें है।

5.2.1 दैवीय सिद्धान्त के प्रमुख तत्व:-

दैवीय सिद्धान्त के प्रमुख तत्व इस प्रकार हैं:-

1. राज्य ईश्वरीय संस्था है।
2. राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है।
3. ईश्वर के द्वारा ही राजा को शक्ति प्रदान की जाती है।
4. ईश्वर का प्रत्येक कार्य सृष्टि के हित में होता है इसलिए ईश्वर के प्रतिनिधि राजा के समस्त न्यायसंगत एवं जनहित में होते हैं।
5. राजसत्ता पैतृक होती है अर्थात् पिता के बाद पुत्र सत्ता का अधिकारी होता है।
6. राजा की आलोचना या निन्दा करना धर्म के विरुद्ध है।

5.2.2 दैवीय सिद्धान्त की आलोचना

दैवीय सिद्धान्त की निम्न आधारों पर आलोचना की जाती है-

1. दैवी सिद्धान्त पूर्व रूप से अनैतिहासिक एवं अवैज्ञानिक सिद्धान्त है। सम्पूर्ण मानव इतिहास में इस तथ्य का कहीं प्रमाण नहीं मिलता कि राज्य की स्थापना ईश्वर द्वारा की गई है। यह सिद्धान्त मानव संवेदनाओं, जिज्ञासाओं तथा आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं प्रतीत होता। यह सिद्धान्त मानव अनुभव के विरुद्ध है, अतएव स्वीकार करने योग्य नहीं है।
2. इस सिद्धान्त को तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। सभी धार्मिक ग्रंथों में ईश्वर को प्रेम एवं करुणा का भण्डार बताया गया है परन्तु व्यवहार में अब तक अनेक शासक अन्यायी, अत्याचारी एवं क्रूर प्रकृति के हुए हैं। ऐसी परिस्थितियों में ऐसा शासक ईश्वर का प्रतिनिधित्व कैसे कर सकता है? अतः तार्किक दृष्टि से यह सिद्धान्त अनुचित एवं अमान्य प्रतीत होता है।
3. यदि राजा को वास्तव में ईश्वर का प्रतिनिधि अथवा जीवित रूप माना जाये तो ऐसे शासक के निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी बनने का भय रहता है। इतिहास गवाह है कि ऐसे शासकों ने जनता को ईश्वरीय प्रकोप दिखाकर उनपर अनेक अत्याचार किये। अतः यह सिद्धान्त स्वीकार करने योग्य नहीं है।

4. यह सिद्धान्त राज्य को पवित्र संस्था मानता है, अतएव इसके स्वरूप में परिवर्तन करना सम्भव नहीं माना जाता। इस दृष्टि से यह सिद्धान्त रूढ़िवादी कहा जा सकता है क्योंकि परिवर्तनों के अभाव में राज्य मानव में राज्य मानव जीवन के लिए अनुपयोगी हो जायेगा।

5. आधुनिक लोकतांत्रिक युग में यह सिद्धान्त सर्वथा अप्रासंगिक है क्योंकि लोकतांत्रिक व्यवस्था में जनता स्वयं शासक का चुनाव करती है तथा गलत कार्य करने पर उसे हटा सकती है। परन्तु दैवीय सिद्धान्त इन मान्यताओं को अस्वीकार करता है क्योंकि वह गलत कार्य किये जाने पर भी राजा का विरोध करने का अधिकार जनता को नहीं प्रदान करता। अतः यह सिद्धान्त व्यावहारिक नहीं प्रतीत होता।

6. यह सिद्धान्त आधुनिक संप्रभु राज्यों के लिए अमान्य है क्योंकि उसमें शासक किसी न किसी रूप में जनता से जुड़े होते हैं तथा धर्म को राजनीति से अलग करके देखा जाता है।

5.2.3 दैवीय सिद्धान्त की उपयोगिता:-

समस्त कमियों के बावजूद यह सिद्धान्त अनेक दृष्टि से उपयोगी भी है -

1. इस सिद्धान्त ने शासक जनता सम्बन्धों में उत्तरदायित्व की भावना को बढ़ाया। राजा एवं प्रजा दोनों को ही इसके अन्तर्गत कुछ निश्चित मानदण्डों के अनुरूप व्यवहार करने की सीख मिली।
2. इस सिद्धान्त ने राजा को ईश्वरीय प्रतिनिधि बतलाकर जनता को राजभक्ति एवं आज्ञापालन का पाठ पढ़ाया जो आधुनिक राज्य का एक आवश्यक गुण माना जाता है।
3. जैसा कि प्रो० गिलक्राइस्ट का मानना है यह सिद्धान्त गलत एवं विवकेशून्य भले ही हो, अराजकता का अन्त करने का श्रेय इसे ही जाता है।
4. यह सिद्धान्त इस तथ्य का भी प्रतिपादन करता है कि चूँकि राजा का ईश्वर के प्रति नैतिक उत्तरदायित्व होता है, अतएव राजा को भी नैतिक मानदण्डों का प्रयोग करते हुए शासन शक्ति का उचित रूप में प्रयोग करना चाहिये।

5.3 राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक समझौता सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति का एक अन्य महत्वपूर्ण सिद्धान्त सामाजिक समझौता सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त की मूल मान्यता यह है कि राज्य ईश्वरीय संस्था न होकर एक मानव निर्मित कृत्रीम संस्था है। इस सिद्धान्त

के अनुसार राज्य का निर्माण व्यक्तियों के पारस्परिक समझौते द्वारा हुई उसके पूर्व भी एक अवस्था थी जो प्राकृतिक अवस्था के नाम से जानी जाती है। अपनी आवश्यकता के लिए व्यक्ति ने प्राकृतिक अवस्था का त्यागकर समझौते द्वारा राजनीतिक समाज की स्थापना की। इस समझौते से व्यक्तियों को सामाजिक अधिकार प्राप्त हुए।

यह विचार काफी पुराना है कि शासक की शक्ति उसके तथा उसकी प्रजा के मध्य सम्पन्न किसी समझौते पर आधारित है। इसका वर्णन भारतीय ग्रंथों महाभारत के 'शान्तिपर्व' तथा कौटिल्य की पुस्तक अर्थशास्त्र में मिलता है जिसमें कहा गया है कि अराजकता की स्थिति से दुखी होकर मनुष्यों ने परस्पर समझौते द्वारा राज्य की स्थापना की। यूनान में सोफिस्ट विचारको के द्वारा भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया गया। इसी प्रकार इपीक्यूरियन तथा रोम के विचारको एवं विधि शात्रियों ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया था। रोम के विचारक तथा विधिशास्त्री (जैसे पालिबियस एवं सिसरो) जनता को राज्य की शक्ति का स्रोत मानते हैं। इस सिद्धान्त के अन्य समर्थकमें हम बुकानन, एल्यूसियस ग्रोशियस, प्यूपेनडार्फ तथा स्पेनोजा के नाम का उल्लेख कर सकते हैं।

सामाजिक समझौता सिद्धान्त की रूपरेखा

सामाजिक समझौता सिद्धान्त की स्पष्ट अभिव्यक्ति सत्रहवीं शताब्दी में इंग्लैंड के हाब्स एवं लॉक तथा अठारहवीं शताब्दी में फ्रांस के रूसो की त्रिमूर्ति ने प्रस्तुत की है। इन विचारको ने एक ऐसे युग की कल्पना की है जिसमें किसी प्रकार की कोई सत्ता नहीं थी तथा उस काल को उन्होंने प्राकृतिक अवस्था का नाम दिया था जिसका अन्त एक सामाजिक समझौते द्वारा हुआ। इस समझौते के अर्न्तगत लोगों ने अपने प्राकृतिक अधिकार समर्पित कर दिये ताकि स्थापित राजनीतिक सत्ता द्वारा उन्हें सामाजिक अधिकारों का रूप दिया जा सके। यद्यपि विभिन्न मुद्दों पर तीनों विचारकों के दृष्टिकोण भिन्न हैं परन्तु ये सभी मानव जाति की राज्य से पूर्व की अवस्था की कल्पना करते हैं। यहाँ पर हम तीनों ही विचारकों के विचारों का बारी-बारी से अध्ययन करेंगे।

5.3.1 थामस हाब्स

थामस हाब्स इंग्लैंड के निवासी थे। उनके समय में राजतंत्र तथा प्रजातंत्र के समर्थको के मध्य गृह युद्ध चल रहा था। राजवंश से निकट सम्पर्क होने के नाते उनकी विचारधारा राजतंत्रवादी थी। अतएव उनका यह विश्वास था कि शक्तिशाली राजतंत्र के बिना देश में शान्ति तथा सुव्यवस्था नहीं स्थापित हो सकती। हाब्स ने 1051 में प्रकाशित अपनी पुस्तक लेवियाथन (*Leviathan*) ने समझौता सिद्धान्त का प्रतिपादन करके निरंकुश राजतंत्र का समर्थन किया। हाब्स ने अपने सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की है-

1. मानव स्वभाव

हाब्स ने मनुष्य के बारे में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा था कि मनुष्य की मनुष्य का शत्रु है। वह बर्बर, स्वार्थी, अहंकारी, आक्रामक एवं आत्माभिमानी, होता है। वह सदैव शान्ति से ही प्रेम करता है तथा शान्ति प्राप्त करने का निरन्तर प्रयास करता रहता है। यही कारण है कि मानव जीवन एकाकीपूर्ण, गंदा, निर्धनतापूर्ण तथा अल्पकालीन होता है।

2. प्राकृतिक अवस्था

प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य का जीवन किसी भी प्रकार के नियंत्रण से मुक्त था जिमसें प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य को न्याय, अन्याय, उचित-अनुचित, अच्छे-बुरे अथवा सत्य-असत्य का कोई ज्ञान न था। प्राकृतिक अवस्था 'शक्ति ही सत्य है' की धारणा पर आधारित थी। इसलिए प्राकृतिक अवस्था में शांति, व्यवस्था, सम्पत्ति, न्याय, उद्योग व्यापार आदि जैसी कोई व्यवस्था न थी। स्वयं हाब्स के शब्दों में जहाँ कोई व्यवसाय न था, कोई संस्कृति न थी, कोई विद्या न थी, कोई भवन निर्माण कला न थी तथा न कोई समाज था।

समझौते के कारण प्राकृतिक अवस्था में मनुष्यों का जीवन तथा उनकी सम्पत्त सुरक्षित न थी। जीवन तथा सम्पत्ति की इस असुरक्षा तथा मृत्यु एवं संहार के भय ने व्यक्तियों को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे असहनीय प्राकृतिक अवस्था का अन्त करने के उद्देश्य से एक राजनीतिक समाज का निर्माण करें।

3. समझौते का स्वरूप - नवीन समाज का निर्माण करने के लिए सभी व्यक्तियों ने मिलकर एक समझौता किया। हाब्स के मतानुसार यह समझौता प्रत्येक व्यक्ति ने शेष व्यक्ति समूह से किया जिसमें प्रत्येक किसी व्यक्ति को अथवा सभा को अपने अधिकार एवं शान्ति का समर्पण करता हूँ जिससे कि वह हम पर शासन करे, परन्तु इसी शर्त पर कि तुम भी अपने अधिकार एवं शक्ति का समर्पण इसी रूप में करो और इसकी आज्ञाओं को मानो इस समझौते में शासक कोई पक्ष नहीं है। तथा यह समझौता सामाजिक है, राजनीतिक नहीं। वह सत्ता इस समझौते का परिणाम है।

ऐसे समझौते के माध्यम से समाज, राज्य तथा शासन अस्तित्व में आ गया जो सभी के जीवन एवं सम्पत्ति की सुरक्षा से सम्बन्धित है।

4.राज्य का स्वरूप

हाब्स के समझौते के द्वारा एक ऐसे निरंकुश राजतंत्र की स्थापना की गई जिसका शासक सम्पूर्ण शक्ति सम्पन्न है तथा जिसका प्रजा के प्रति कोई कर्तव्य नहीं है। शासित वर्ग अथवा सामान्य जनता को शासक के विरुद्ध विद्रोह करने का कोई अधिकार नहीं है।

5.3.2 लॉक के सामाजिक समझौते

मानव स्वभाव

लोक के अनुसार मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है जिसमें प्रेम सहानुभूति, सहयोग एवं करुणा की भावनायें विद्यमान थीं। अतएव प्रत्येक मनुष्य अपने सद्गुणों का प्रदर्शन करके दूसरे व्यक्ति से अपना सम्पर्क बनाने के लिए कृत संकल्प था।

प्राकृतिक अवस्था

चूँकि मनुष्य एक सामाजिक एवं विचारशील प्राणी था, इसलिए लोक की प्राकृतिक अवस्था, हाब्स की भाँति संघर्ष-पूर्ण न होकर सदृच्छा, सहयोग एवं सुरक्षा की व्यवस्था थी। लोक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था नियत विहीन न थी। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्यों को प्राकृतिक अधिकार प्राप्त थे तथा प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के अधिकारों का आदर करता था। ये प्राकृतिक अधिकार थे- (1) जीवन का अधिकार (2) स्वतंत्रता का अधिकार (3) सम्पत्ति का अधिकार।

समझौते का कारण

लॉक का मानना है कि समय बीतने के साथ इस आदर्श प्राकृतिक अवस्था में कुछ ऐसी कमियाँ उभर कर सामने आईं कि व्यक्तियों के समक्ष असुविधायें आने लगीं। इन असुविधाओं को दूर करने के लिए व्यक्तियों ने प्राकृतिक अवस्था का त्याग करना उचित समझा। ये असुविधायें निम्नलिखित थीं-

१. नियमों का निर्माण करने की कोई स्पष्ट व्यवस्था न थी।
२. नियमों का पालन करवाने की कोई शक्ति नहीं थी।
३. इन नियमों की व्याख्या करने के लिए कोई व्यवस्था नहीं थी।

समझौते का स्वरूप

हाब्स के सिद्धान्त के अनुसार राज्य का निर्माण करने के लिए केवल एक ही समझौता किया गया था, परन्तु लोक के समझौते की स्थिति विवादास्पद है। कुछ विद्वानों के अनुसार लोक ने दो समझौतों का

वर्णन किया था जबकि अन्य विद्वान समझौता एक ही स्वीकार करते हैं जिसका स्वरूप द्विपक्षीय था। पहले समझौते द्वारा प्राकृतिक अवस्था का अन्त करके समाज की स्थापना की गयी। इस समझौते का लक्ष्य व्यक्तियों के जीवन स्वतंत्रता तथा सम्पत्ति की रक्षा करना था। पहले समझौते के उपरांत शासक एवं शासित के मध्य दूसरा समझौता सम्पन्न हुआ, जिसमें शासित वर्ग के द्वारा शासक को कानून बनाने, उनको लागू करने तथा उसकी व्याख्या करने का अधिकार दिया गया। परन्तु शासक के लिए यह अनिवार्य शर्त थी कि उसके द्वारा निर्मित कानून अनिवार्य रूप से प्राकृतिक नियमों के अनुकूल एवं अनुरूप होंगे तथा वे जनता के हित में निर्मित होंगे।

राज्य का स्वरूप

लॉक के सामाजिक समझौता सिद्धान्त के अन्तर्गत शासक एवं शासित के मध्य जो समझौता सम्पन्न हुआ है, उससे यह स्पष्ट है कि सरकार स्वयं एक लक्ष्य नहीं वरन् एक लक्ष्य की प्राप्ति का साधन मात्र है तथा यह लक्ष्य है शांति तथा व्यवस्था स्थापित करना तथा जन कल्याण। लोक ने इस विचार का प्रतिपादन किया है कि यदि सरकार अपना उद्देश्य प्राप्त करनेमें अफल हो जाती है तो समाज को ऐसी सरकार के स्थान पर दूसरी सरकार स्थापित करने का पूर्ण अधिकार है। इस प्रकार लॉक ऐसी शासन व्यवस्था का समर्थन करता है जिसमें वास्तविक एवं अन्तिम शक्ति जनता में निहित होती है तथा सरकार का अस्तित्व जनता की इच्छा पर निर्भर करता है।

5.3.3 जीन जैम्स रूसो का सामाजिक समझौता सिद्धान्त

रूसो ने अपनी पुस्तक (The Social Contract 1762) में सामाजिक समझौता सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। रूसो का सिद्धान्त हाब्स तथा लॉक के सिद्धान्त से एक तरफ अलग है दूसरी ओर उसमें दोनों के तत्व कहीं न कहीं विद्यमान दिखाई देते हैं। इसके अतिरिक्त रूसो ने जिस प्रकार से अपने सिद्धान्त की व्याख्या की है वह लोकतंत्र का अग्रदूत बन जाता है। रूसो के द्वारा अपने सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की गई है-

1. मानव स्वभाव

हाब्स ने मनुष्य को बुश एवं असभ्य तथा लोक ने उसे भला तथा सहयोग की भावना से प्रेरित बताया था, वहीं रूसो मनुष्य को परिस्थितियों के अधीन अच्छा अथवा गुरा दोनों ही बताता है। रूसो का मत है कि 'मनुष्य मानवीय अच्छाई में बाधक बनती है।' यह बात उसकी इस धारणा से स्वतः और स्पष्ट हो जाती है जब वह इस बात का प्रतिपादन करता है कि मनुष्य स्वतंत्र पैदा होता है परन्तु वह सर्वत्र जंजीरों से जकड़ा हुआ है।

2. प्राकृतिक अवस्था

रूसो के अनुसार प्राकृतिक अवस्था आदर्श अवस्था थी जिसमें मनुष्य शान्ति एवं संतोषपूर्ण जीवन व्यतीत करता था। उसे न तो किसी साथी की आवश्यकता थी तथा न किसी का अहित करने की उसकी इच्छा थी। इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति एक भोले बालक की भाँति सादगी तथा परमसुख का जीवन व्यतीत करता था। इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य छल कपट रहित जीवन व्यतीत करता था, परन्तु इस प्राकृतिक अवस्था में विवके का अभाव था। यही कारण है कि रूसो प्राकृतिक अवस्था के व्यक्ति को आदर्श बर्बर (Noble Savage) की संज्ञा देता है।

3. समझौते का कारण

रूसो प्राकृतिक अवस्था का चित्रण आदर्श अवस्था के रूप में करता है परन्तु समय बीतने के उपरांत यही अवस्था कष्टमय होती चली गयी। कृषि के अविष्कार के कारण भूमि पर स्थायी अधिकार तथा इसके परिणामस्वरूप सम्पत्ति का उदय हुआ। यही से समाज में मेरे तेरे की भावना का विकास हुआ। जब व्यक्ति अधिक से अधिक भूमि पर अधिकार की इच्छा रखने लगा तो इस अवस्था में संघर्ष की भावना पैदा होने लगी तथा मानव जीवन कष्टमय तथा अशांतिपूर्ण होता गया। सम्पत्ति के बारे में उसकी मान्यता यह है कि “वह पहला व्यक्ति समाज का वास्तविक जन्मदाता था जिसने एक भू-भाग को घेरकर कहा था कि यह मेरी भूमि है” तथा जिसे अपने इस कथन के प्रति विश्वास करने वाले सरल व्यक्ति मिल गये। इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था में युद्ध संघर्ष एवं विनाश का वातावरण उपस्थित हो गया। अतएव इस अवस्था का अन्त करने के लिए व्यक्तियों ने पारस्परिक समझौते द्वारा समाज की स्थापना का निश्चय किया।

4. समझौते का स्वरूप

प्राकृतिक अवस्था की असहनीय स्थिति का अन्त करनेके लिए सभी व्यक्ति एक स्थान पर एकत्रित हुए तथा उनके द्वारा अपने सम्पूर्ण अधिकारों का समर्पण किया गया परन्तु यह समर्पण किसी विशेष व्यक्ति के लिए वरन् सम्पूर्ण समाज के लिए किया गया। समझौते के परिणाम स्वरूप समाज की एक सामान्य इच्छा उत्पन्न हुई तथा सभी व्यक्ति इस सामान्य इच्छा के अधीन माने गये। रूसो के शब्दों में “समझौते के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति अपनी पूर्ण शक्ति को सामान्य प्रयोग के लिए सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निदेशक के अधीन समर्पित कर देता है तथा एक समूह के रूप में अपने व्यक्तित्व तथा अपनी पूर्ण शक्ति को प्राप्त कर लेता है।” यह अवस्था सभी पक्षों के लिए लाभपूर्ण सिद्ध हुई।

5.राज्य का स्वरूप :

रूसो के समझौते के द्वारा एक लोकतांत्रिक समाज की स्थापना होती है जिसके अन्तर्गत सम्प्रभुता सम्पूर्ण समाज में निहित होती है जिसका आधार सामान्य इच्छा है। यदि सरकार सामान्य इच्छा के विरुद्ध आचरण करती है तो जनता को ऐसी सरकार को पदच्युत करने का अधिकार प्राप्त होता है शासन का आधार लोकप्रिय सम्प्रभुता से जुड़ा होता है।

5.3.4 सामाजिक समझौता सिद्धान्त की आलोचना

यद्यपि सामाजिक समझौता सिद्धान्त 17 वीं एवं 13 वीं सदी में काफी लोकप्रिय हुआ तथा हूकर, मिल्टन, ग्रोशस, ब्लैकस्टोन, स्पिनोजा जैसे अनेक विचारकों ने इसका समर्थन किया परन्तु 13 वीं सदी के अन्त तथा 19 वीं सदी के राजनीतिक विचारकों ने इसकी कड़ी आलोचना प्रस्तुत की। ह्यूम, सर हेनरी मेन, ब्लंशली, बेंथम सर फ्रेडरिक पोलक तथा एडमण्ड वर्क जैसे विचारकों ने इस समझौते को 'सत्य से परे' 'कपोल कल्पित' एवं 'तर्कहीन' घोषित किया। इस सिद्धान्त की विभिन्न आधारों पर आलोचना की जाती है जो इस प्रकार है-

1.ऐतिहासिक आधार

ऐतिहासिक आधार पर इस समझौते की आलोचना इस प्रकार की गई है-

१.ऐतिहासिक दृष्टि से सामाजिक समझौता सिद्धान्त कल्पनिक प्रतीत होता है क्योंकि इतिहास में इस बात का कहीं भी उदाहरण नहीं मिलता कि आदिम मनुष्यों ने पारस्परिक समझौते के आधार पर राज्य की स्थापना की हो।

२.सामाजिक समझौता सिद्धान्त मानव इतिहास को प्राकृतिक अवस्था तथा सामाजिक अवस्था इस प्रकार के दो कालों में बाँट देता है। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह काल विभाजन नितान्त असत्य है। इतिहास में हमें कहीं भी ऐसी अवस्था का प्रमाण नहीं मिलता जब मानव संगठन विहीन अवस्था में रहता है।

३.इतिहास के अनुसार राज्य तथा इसी प्रकार की मानवीय संस्थाओं का विकास हुआ है, निर्माण नहीं। ला-फर ने कहा है कि परिवार की भाँति ही राज्य समाज के लिए आवश्यक है और वह समझौते का नहीं वरन् मानवीय प्रकृति का परिणाम है।

2.दार्शनिक आधार

इस समझौते की आलोचना के दार्शनिक आधार इस प्रकार हैं:-

१. इस सिद्धान्त के अन्तर्गत राज्य को एक ऐसे संगठन के रूप में चिन्हित किया गया है जिसकी सदस्यता ऐच्छिक हो, परन्तु राज्य की सदस्यता ऐच्छिक नहीं होती वरन् अनिवार्य होती है। व्यक्ति उसी प्रकार राज्य के सदस्य होते हैं जैसे परिवार के क्योंकि राज्य एक प्राकृतिक संस्था है।

२. मनुष्य तथा राज्य के सम्बन्धों की व्याख्या समझौते के आधार पर किया जाना अनुचित है क्योंकि मनुष्य एवं राज्य का सम्बन्ध मानव की प्रकृति पर आधारित है।

३. यह सिद्धान्त राज्य को कृत्रीम तथा मानवीय कृति मानता है जबकि राज्य मानव स्वभाव पर आधारित प्राकृतिक संस्था है। यह मनुष्य की स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्ति का परिणाम है।

४. समझौता सिद्धान्त राज्य को व्यक्तिगत सनक का परिणाम बताकर क्रांति एवं अराजकता को प्रोत्साहित करता है और नागरिकों के व्यवस्थित जीवन के लिए चुनौती प्रस्तुत करता है।

५. जान लॉक के मतानुसार मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक अधिकारों का उपभोग करता था। परन्तु यह धारणा नितान्त भ्रमपूर्ण है क्योंकि अधिकारों का उदय समाज में ही होता है तथा एक राज्य के अन्तर्गत रहकर ही अधिकारों का उपभोग किया जा सकता है।

3. तार्किक आधार

यह सिद्धान्त तर्क की कसौटी पर भी खरा नहीं उतरता क्योंकि प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले व्यक्तियों में एकाएक ही राजनीतिक चेतना का उदय कैसे हो गया। वास्तविकता यह है कि राजनीतिक चेतना सामाजिक जीवन में उत्पन्न होती है। सामाजिक जीवन के अभाव में राजनीतिक चेतना का उदय सम्भव नहीं है।

4. वैधानिक आधार

वैधानिक आधार पर इस सिद्धान्त की आलोचना के आधार पर निम्नलिखित है -

१. प्राकृतिक अवस्था में किये गये किसी भी समझौते का वैधानिक दृष्टि से कोई महत्व नहीं है क्योंकि किसी भी समझौते की स्वीकृति का आधार राज्य की शक्ति होती है। परन्तु प्राकृतिक अवस्था में राज्य का अस्तित्व न होने के कारण सामाजिक समझौते के पीछे इस प्रकार की शक्ति नहीं थी।

२. कोई भी समझौता जिन निश्चित लोगों के मध्य होता है, उन्हीं पर लागू होता है अतः किसी अज्ञात समय में अज्ञात व्यक्तियों द्वारा किया गया समझौता उसके बाद के समय एवं वर्तमान लोगों पर लागू हो, यह कानूनी दृष्टि से अमान्य है।

5.3.5 सिद्धान्त की उपयोगिता

समस्त आलोचनाओं के बावजूद सामाजिक समझौता उपयोगी माना गया है और इसके प्रमुख कारण हैं-

१. इस सिद्धान्त के द्वारा राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का खण्डन किया गया जिसके अन्तर्गत राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना गया था और जिसने राजा को निरंकुश बनाया था।

२. इस सिद्धान्त ने यह प्रमाणित कर दिया कि राजा की शक्ति या व्यक्तिगत इच्छा नहीं बल्कि जनसहमति ही राज्य का आधार है।

३. इस सिद्धान्त से सम्प्रभुता के सिद्धान्त का विकास हुआ। हाब्स ने 'वैधानिक सम्प्रभुता' लोक ने 'राजनीतिक प्रभुता' तथा रूसो ने 'लोकप्रिय सम्प्रभुता' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

5.4 राज्य की उत्पत्ति का विकासवादी सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति के अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया जिनमें दैवी सिद्धान्त, सामाजिक समझौता सिद्धान्त, शक्ति सिद्धान्त, पितृसत्तात्मक एवं मातृसत्तात्मक सिद्धान्त प्रमुख हैं। इन सिद्धान्तों से प्रायः यही निष्कर्ष निकलता है कि राज्य का निर्माण एक निश्चित समय पर किया गया या किसी एक तत्व का इसके पीछे योगदान रहा है। गहराई से देखने पर यह अनुभव होता है कि राज्य का निर्माण नहीं किया गया। यह तो निरन्तर विकास का परिणाम है। डा० गार्नर का यह कथन सर्वथा उपयोगी है कि 'राज्य का न तो ईश्वर की सृष्टि है, न ही वह उच्चकोटि के शारीरिक बल का परिणाम है, न किसी प्रस्ताव या समझौते की कृति है और न परिवार का ही विस्तृत रूप है। यह क्रमिक विकास से उदित एक ऐतिहासिक संस्था है।'

राज्य विकास का परिणाम है तथा राज्य की उत्पत्ति की सही व्याख्या ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त द्वारा ही की गई है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य का विकास लम्बे समय से चला आ रहा है तथा आदिकालीन समाज से क्रमिक विकास करते करते इसने वर्तमान राष्ट्रीय स्वरूप को प्राप्त किया है।

5.5 राज्य के विकास में सहायक तत्व:

यह बताना कि कब एवं किस प्रकार राज्य अस्तित्व में आया, अत्यधिक कठिन है। गेटेल के अनुसार 'अन्य सामाजिक संस्था की भाँति ही राज्य का उदय अनेक स्रोतों से तथा अनेक प्रकार की स्थितियों के अधीन हुआ और वह लगभग अदृश्य रूप से उभरा है।' प्रकृति परिस्थिति तथा स्वभाव के भेदों

के कारण विभिन्न समयों, अवस्थाओं एवं स्थानों में राज्यों के विकास का क्रम भी विभिन्न रहा है और उसके अर्न्तगत निम्न तत्वों का योगदान प्रमुख रूप से रहा है- (1) रक्त सम्बन्ध (2) मानव की स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्तियाँ (3) धर्म (4) शक्ति (5) आर्थिक गतिविधियाँ (6) राजनीतिक चेतना।

1.रक्त सम्बन्ध - यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि सामाजिक संगठन का प्राचीनतम् रूप रक्त सम्बन्ध पर आधारित था तथा रक्त सम्बन्ध एकता का प्रथम तथा दृढ़तम बन्धन रहा है। आंग्ल भाषा की कहावत है कि- खून पानी से गाढ़ा होता है। इसके अर्न्तगत पुरुष नारी तथा बच्चों से युक्त परिवार संगठित जीवन की प्रथम इकाई बना। हर परिवार का मुखिया होता था और उसे परिवार के सदस्यों पर किसी न किसी प्रकार से नियंत्रण प्राप्त था। मूल परिवारों में से कई परिवार विकसित हुए जिसके परिणाम स्वरूप एक नई इकाई जाति, कबीला या कुटुम्ब का जन्म हुआ। परिवार के मुखिया की ही भाँति बड़ी इकाई कबीले का भी एक मुखिया बन गया। परिवारों से कबीला तथा कबीले से अन्ततः राज्य बन गये। हेनरी मेन ने उचित ही कहा है, “प्राथमिक संवर्ग परिवार है। परिवारों का योग कुलों या घरानों का गठन करता है। घरानों के योग से कबीला बनता है। कबीलों के योग से राज्य बनता है।” मैकाइबर के अनुसार - “जैसे-जैसे पीढ़ियों के विकास के साथ संवर्ग विशाल होता गया, रक्त सम्बन्धों का भाव और अधिकार पुष्ट होता गया। रक्त सम्बन्ध ने समाज का निर्माण किया है तथा समाज ने आगे चलकर राज्य का निर्माण किया है।”

2.मनुष्य की स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्तियाँ

मनुष्य स्वभाव से ही एक सामाजिक तथा राजनीतिक प्राणी है तथा समूह में रहने की मानव की प्रवृत्ति ने ही राज्य को जन्म दिया है। समाज में साथ-साथ रहते हुए जब विभिन्न व्यक्तियों के स्वभाव तथा स्वार्थगत भेदों के कारण विभिन्न प्रकार के विवाद उत्पन्न हुए तो इन विवादों को दूर करने के लिए एक सम्प्रभुता सम्पन्न राजनीतिक संस्था की आवश्यकता समझी गयी तथा राज्य का उदय हुआ। इस प्रकार राज्य को बहुत अधिक सीमा तक मानव की स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्ति का परिणाम कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में जॉन मार्ले ने उचित ही कहा है “राज्य के विकास का वास्तविक आधार मनुष्य के जीवन में विद्यमान अन्तर्जात प्रवृत्ति रही है।”

3.धर्म

रक्त सम्बन्ध की भाँति ही धर्म का राज्य की स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वस्तुतः प्रारम्भिक समाज में रक्त सम्बन्ध एवं धर्म एक ही वस्तु के दो पहलू थे तथा दोनों की परिवार तथा कबीलों को परस्पर जोड़ने का कार्य साथ ही करते थे। विल्सन के अनुसार “प्रारम्भिक समाज में धर्म समान रक्त का प्रतीक, उसकी एकता, पवित्रता तथा दायित्व की अभिव्यक्ति था।” गेटेल ने तो यहाँ तक लिखा

है कि रक्त सम्बन्ध तथा धर्म एक ही वस्तु के दो रूप थे तथा समूह की एकता एवं उनके कर्तव्यों को धार्मिक मान्यता प्राप्त थी।

वस्तुतः धर्म का उदय परिवारों एवं कबीलों में रहने वाले लोगों की जीवन शैली में से हुआ। प्रारम्भिक समाज में धर्म के दो रूप प्रचलित थे पितृ पूजा तथा प्राकृतिक शक्तियों की पूजा। व्यक्ति अपने परिवार के वृद्ध व्यक्तियों के मृत हो जाने पर भी उनके प्रति ऋद्धा रखते थे तथा उनका विचार था कि शरीर के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा शेष रहती है, अतः इस आत्मा को प्रसन्न करने के लिए उन्होंने पितृ पूजा आरम्भ कर दी। धर्म के इस बहुप्रचलित रूप ने परिवारों को एकता के सूत्र में बाँधा। जो एक ही वंश या रक्त से सम्बन्धित होते थे, उनके कुल देवता या पूर्वज भी एक ही हुआ करते थे।

उस समय धर्म का एक दूसरा प्रचलित रूप प्राकृतिक शक्तियों की पूजा थी। प्रारम्भिक समाज में बुद्धि के विकास के अभाव में व्यक्ति प्राकृतिक परिवर्तनों को समझने में असमर्थ थे। उन्होंने बादल की गड़गड़ाहट, बिजली की चमक, वायु की गति तथा वस्तुओं के परिवर्तन में ईश्वर की शक्ति का अनुभव किया तथा प्रकृति की प्रत्येक वस्तु उनके लिए देवता बन गई। व्यक्ति पृथ्वी सूर्य, अग्नि, इन्द्र तथा वरुण की उपासना करने लगे तथा एक ही शक्ति के उपासकों में परस्पर घनिष्ठ मैत्री भाव उत्पन्न हुआ जो राज्य का आधार बना।

प्रारम्भिक समाज में विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों को देवता या भूत-प्रेत समझा जाता था तथा जब कोई व्यक्ति यह सिद्ध कर देता था कि वह प्राकृतिक शक्तियों को नियंत्रित रख सकता है, तब उसे समाज में असाधारण शक्ति तथा सम्मान प्राप्त हो जाता था तथा अनेक बार वे तांत्रिक कहे जाने वाले व्यक्ति राजा बन जाते थे। यूनानी नरार राज्य में ऐसा ही हुआ था। धर्म ने एक से अधिक रूप में राज्य के विकास में अपना योगदान दिया है।

4. शक्ति

राज्य संस्था के विकास में शक्ति या युद्ध का स्थान भी विशेष महत्वपूर्ण रहा है। जैक्स के अनुसार “युद्ध ने सम्राट को जन्म दिया” अन्य मनुष्यों पर आधिपत्य स्थापित करने तथा संघर्ष एवं आक्रमण की प्रवृत्ति भी मानव की मूल प्रवृत्तियों में से एक है। मानवीय विकास के प्रारम्भिक काल में ये प्रवृत्तियाँ बहुत अधिक सक्रिय थीं। कृषि तथा व्यवसाय की उन्नति ने निजी सम्पत्ति की धारणा को बढ़ावा दिया। ऐसी स्थिति में निवास स्थान तथा सम्पत्ति की रक्षा के लिए युद्ध होने लगे। लोग सुरक्षा प्रदान करने की क्षमता रखने वाले शक्तिशाली व्यक्ति के नेतृत्व को स्वीकार करने लगे। इस नेता की अधीनता में एक कबीला दूसरे कबीले पर आधिपत्य जमाने की चेष्टा में संलग्न रहा तथा संघर्ष की इस प्रक्रिया में विजयी कबीले का सैनिक सरदार राजा बन बैठा। बलपूर्वक शक्ति ने प्रभुसत्ता का रूप धारण किया तथा शासक के प्रति भक्ति एवं निष्ठा की भावना का जन्म हुआ।

आत्म रक्षा तथा विस्तारवादी प्रवृत्ति ने भी राज्य के विकास में अपना योगदान दिया है। उदाहरण स्वरूप, अमेरिका के कई उपनिवेश ब्रिटिश सम्राट जार्ज तृतीय के विरुद्ध संगठित हो गये तथा उन्होंने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी क्योंकि उन्हें अंग्रेजों के आक्रमण तथा शोषण का खतरा था। प्राचीनकाल में विजयों के द्वारा छोटे राज्यों से बड़े राज्यों तथा बड़े से विशाल साम्राज्यों का उत्थान तथा पतन इसी प्रकार हुआ। भारत में चन्द्रगुप्त मौर्य ने मगध के शासक नन्द को परास्त करके अपने विशाल साम्राज्य की नींव रखी तथा धीरे-धीरे उसका विस्तार किया। इसी प्रकार यूरोप में भी रोम के सम्राटों ने दूर-दूर के प्रदेशों को जीतकर रोम साम्राज्य का निर्माण किया जिसका कालान्तर में पतन भी हो गया। मैकाइबर का कहना सर्वथा सत्य है कि राज्य का उदय शक्ति के द्वारा नहीं हुआ है यद्यपि शक्ति ने राज्य विस्तार में महत्वपूर्ण भाग लिया है।

5. आर्थिक गतिविधियाँ

आर्थिक गतिविधियों ने भी राज्य की उत्पत्ति एवं विकास में अपना योगदान दिया है। सबसे पहले मनुष्य शिकार के द्वारा अपना जीवनयापन करता था, तदोपरान्त पशुपालन की अवस्था आ गई। शिकार अवस्था में धनवान एवं निर्धन का भेद न था, परन्तु पशुपालन अवस्था में यह भेद उभरकर सामने आ गया। जिसमें पास अधिक पशु होते थे, वह धनवान समझा जाता था तथा जिसके पास कम होते थे या बिलकुल नहीं होते थे वह निर्धन समझा जाता था। पशुपालन के युग में मनुष्य की आवश्यकतायें बढ़ गई तथा धीरे-धीरे कृषि का रिवाज आरम्भ हुआ। कृषि के आरम्भ होने से मनुष्य का एक स्थान से दूसरे पर भोजन की तलाश में घूमना फिरना बन्द हो गया तथा वह एक स्थान पर बस गया। इस प्रकार से ग्रामों तथा नगरों की उत्पत्ति हुई। कृषि के आरम्भ होने से उद्योगों एवं व्यापार की भी उन्नति हुई तथा सम्पत्ति की परम्परा ने जन्म लिया। सम्पत्ति के कारण अनेक वर्ग उत्पन्न हुए तथा उनमें संघर्ष बढ़ा। अतः इन संघर्षों को नियंत्रित करने के लिए कानून की आवश्यकता महसूस हुई। गेटेल के अनुसार, “आर्थिक सेवायें, जिनके द्वारा मनुष्य ने मौलिक अपेक्षाओं की संतुष्टि की तथा बाद में सम्पत्ति एवं धन का संचय किया, राज्य निर्माण में आवश्यक तत्व रही है।”

प्लेटो, मैकियावेली हाब्स, लोक, आडम स्मिथ तथा मांटेस्क्यू जैसे विचारकों ने भी राज्य की उत्पत्ति तथा विकास में आर्थिक तत्वों के योग को स्वीकार किया है। आगे चलकर कार्ल मार्क्स ने तो इस विचार को प्रकट करते हुए लिखा है कि, “राज्य आर्थिक परिस्थिति की ही अभिव्यक्ति है।”

6. राजनीतिक चेतना

राज्य की स्थापना में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान राजनीतिक चेतना का माना जाता है। जब लोगों ने यह अनुभव करना आरम्भ किया कि वे किसी जंगली संगठित होकर ही कर सकते हैं तो उनमें राजनीतिक संगठन की भावना उत्पन्न हुई तथा उसी के परिणाम स्वरूप राज्य का जन्म हुआ। जनसंख्या

वृद्धि मानव जाति सम्बन्धों को नियमित करने तथा सम्पत्ति का वृद्धि के साथ भी राज्य की आवश्यकता अनुभव की गई। इसके अतिरिक्त शान्ति-व्यवस्था की स्थापना तथा आर्थिक उन्नति के लिए भी राज्य की अनिवार्यता बढ़ती गई। यह आवश्यकता इसलिए और भी बढ़ जाती थी क्योंकि एक समुदाय के दूसरे समुदाय पर आक्रमण से रक्षा की आवश्यकता अनुभव की गई। इस आवश्यकता की पूर्ति केवल एक अच्छा योद्धा तथा कुशल नेता ही कर सकता था। यही नेता आगे चलकर राजा बन गया। गिलक्राइस्ट के अनुसार, “राज्य निर्माण के सभी तत्वों की तह में, जिनमें रक्त सम्बन्ध एवं धर्म भी सम्मिलित है, राजनीतिक चेतना है, जो सबसे प्रमुख तत्त्व है।” अतएव यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि राजनीतिक चेतना ही मनुष्य को राज्य के रूप में संगठित करती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्य की उत्पत्ति तथा विकास में अनेक तत्वों ने अपना योगदान दिया है, जिनमें रक्त सम्बन्ध धर्म, शक्ति सामाजिक प्रवृत्ति, आर्थिक गतिविधियों तथा राजनीतिक चेतना महत्वपूर्ण है। इन सभी तत्वों ने राज्य के विकास में अपना अभीष्ट योगदान दिया है इस सन्दर्भ में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जितने सिद्धान्त उभरकर सामने आये हैं उनमें यही सिद्धान्त सबसे वास्तविक तथा सर्वमान्य प्रतीत होता है।

अभ्यास प्रश्न

१. सामाजिक समझौता सिद्धान्त १९ वीं एवं २० वीं सदी में लोकप्रिय हुआ असत्य/ सत्य.
२. प्राकृतिक अवस्था के मनुष्य को आदर्श बर्बर किसने कहा है.
३. सामाजिक समझौता सिद्धान्त के मुख्य प्रतिपादक कौन हैं?
४. सोशल कांटेक्ट पुस्तक का लेखक कौन है.
५. लोकप्रिय संप्रभुता के लिए किसे जाना जाता है ?

5.5 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत हम यह जान सके हैं कि राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्तों में दैवीय और सामाजिक समझौता का सिद्धान्त कितना महत्वपूर्ण है . जहां राज्य की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त ने राजा को ईश्वरीय प्रतिनिधि बतलाकर जनता को राजभक्ति एवं आज्ञापालन का पाठ पढ़ाया जो आधुनिक राज्य का एक आवश्यक गुण माना जाता है।

तो सामाजिक समझौता का सिद्धांत के द्वारा राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का खण्डन किया गया जिसके अन्तर्गत राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना गया था और जिसने राजा को निरंकुश बनाया था। इस सिद्धान्त ने यह प्रमाणित कर दिया कि राजा की शक्ति या व्यक्तिगत इच्छा नहीं बल्कि जनसहमति ही राज्य का आधार है।

राज्य की उत्पत्ति का विकासवादी सिद्धान्त सर्वाधिक मान्य सिद्धान्त है जो स्वीकार करता है कि राज्य विकास का परिणाम है, निर्माण का नहीं। इसमें अनेक तत्वों का योगदान रहा है जिनमें रक्त सम्बन्ध, मानव की स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्तियाँ, धर्म, शक्ति, आर्थिक गतिविधियाँ और राजनीतिक चेतना।

5.6 शब्दावली

१. प्राकृतिक अवस्था - राज्य एवं समाज के पूर्व की काल्पनिक अवस्था।
२. Commonwealth - राज्य समाज शासन का सम्बन्धित रूप
३. प्राकृतिक अधिकार - ऐसे अधिकार जो मानव को स्वाभाविक रूप से प्राप्त होते हैं या होने चाहिए।
४. आदर्श बर्बर - भला इंसान परन्तु सभ्यता एवं संस्कृति से दूर
५. सामान्य इच्छा - समाज एवं राज्य के हित में संचालित सामान्य धारणा जो किसी प्रकार की दुर्भावना से प्रेरित नहीं होती।
६. राजनीतिक चेतना - राज्य से जुड़ने वाली भावना जिसमें कुछ अधिकार शामिल हैं।
७. लोकप्रिय संप्रभुता - ऐसी संप्रभुता जो जनसहमति पर आधारित हो।
1. स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्ति - मानव का वह गुण जो उसे एकाकी जीवन नहीं व्यतीत करने देता तथा अन्य व्यक्तियों से सहयोग करने तथा सम्पर्क करने के लिए प्रेरित करता है।
2. राजनीतिक चेतना - मानव की वह प्रवृत्ति जो उसे राज्य के साथ जोड़ती है।

5.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

१. असत्य २. रूसो ३. हाब्स, लाक, रूसो ४. रूसो ५. रूसो

5.8 सन्दर्भ ग्रंथ

१. डॉ० ओ० पी० गावा: राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त
२. डॉ० इकबाल नारायण: राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त
३. डॉ० जे० सी० जौहरी: आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त।

5.9 सहायक /उपयोगी सामग्री

- (i) J. W. Garner : Political Science and Government.
- (ii) E. Ashirvtham : Political Theory

5.10 निबंधात्मक प्रश्न

- १. सामाजिक समझौता सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं, इसके प्रमुख पक्ष क्या हैं?
- २. हॉब्स द्वारा वर्णित सामाजिक समझौता सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये।
- ३. लॉक का समझौता सिद्धान्त हाब्स के सिद्धान्त से किस प्रकार भिन्न है?
- ४. रूसो के सामाजिक समझौता सिद्धान्त की क्या महत्ता है?
- ५. सामाजिक समझौता सिद्धान्त की किन आधारों पर आलोचना की जाती है

इकाई 6. सम्प्रभुता की संकल्पना

इकाई की संरचना

- 6 .0 प्रस्तावना
- 6 .1 उद्देश्य
- 6 .2 सम्प्रभुता का अर्थ
 - 6 .2.1 सम्प्रभुता की परिभाषाएं
 - 6 .2.2 सम्प्रभुता का विकास
 - 6 .2.3 सम्प्रभुता के पहलू
 - 6 .2.3.1 आन्तरिक सम्प्रभुता
 - 6 .2.3.2 बाह्य सम्प्रभुता
 - 6 .2.4 सम्प्रभुता के लक्षण
 - 6 .2.5 सम्प्रभुता के विविध रूप
 - 6 .2.5.1 नाममात्र की सम्प्रभुता और वास्तविक सम्प्रभुता
 - 6 .2.5.2 विधिक व राजनीतिक सम्प्रभुता
 - 6 .2.5.3 विधितः और वस्तुतः सम्प्रभुता
 - 6 .2.5.4 लौकिक सम्प्रभुता
 - 6 .2.6 सम्प्रभुता का अधिवास
 - 6 .2.6 1 सम्प्रभुता का अधिवास राज्य में है।
 - 6 .2.6 2 सम्प्रभुता का अधिवास जनता में है।
 - 6 .2.6 3 सविधान बनाने तथा उसमें संशोधन करने वाली संस्था में है।
 - 6 .2.6 4 सम्प्रभुता का निवास विधि निर्माण करने वाली समस्त संस्थाओं के योग में है।
- 6 .3 सारांश
- 6 .4 शब्दावली
- 6 .5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 6 .6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 6 .7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 6 .8 निबन्धात्मक प्रश्न

6.0 प्रस्तावना

आमतौर पर यह माना जाता है कि राज्य लोगो को शान्ति व सद्जीवन प्रदान करता है। जिससे लोग सुख व समृद्धि प्राप्त कर सकें। इसके लिए प्रत्येक राज्य का अपना एक संविधान होता है। जिसमें नागरिकों के अधिकारों के साथ-साथ राज्य के कर्तव्यों का उल्लेख होता है। जिसका सम्मान किया जाना सरकार के लिए आवश्यक होता है। यदि राज्य के प्राधिकारी नागरिकों के अधिकारों का अतिक्रमण करते हैं तो नागरिक उनकी सुरक्षा के लिए न्यायालय की शरण लेता है और न्यायालय अधिकारों की रक्षा करता है। ऐसा इसलिए क्योंकि हमें ज्ञात है कि यह हमारा मौलिक अधिकार है। जिसके कारण सरकार हमारे हित में कार्य करने के लिए बाध्य है। प्रश्न यह उठता है कि राज्य किस प्राधिकार से ऐसा करता है ? वह शक्ति क्या है ? उसकी प्रकृति क्या है ? उसके आधार क्या है ? वह वर्तमान विवादग्रस्त समाजिक समस्याओं का समाधान कैसे करता है ? क्या ये सारी शक्तियां राज्य के पास होनी चाहिए ? इन सभी समस्याओं ; प्रश्नों का समाधान तब तक नहीं हो सकता जब तक कि राज्य की सर्वोच्चता ; सर्वोच्च शक्ति को स्वीकार न कर लिया जाय। राज्य की यह सर्वोच्च शक्ति ही आधुनिक युग में सम्प्रभुता के नाम से सम्बोधित की जाती है। सम्प्रभुता के कारण ही राज्य कानूनों का निर्माण व उनका पालन करवाता है इसी के बल वह सुकरात को जहर पीने के लिए बाध्य कर सकता है तथा कानूनो का पालन न करने वालों को वह जेल के मजबूत सीखचों में बन्द करके अपनी सम्प्रभुता का एहसास करा सकता है।

आधुनिक युग में राज्य के चार आवश्यक तत्व माने जाते हैं निश्चित - भूभाग, जनसंख्या, सरकार और सम्प्रभुता। इनमें सम्प्रभुता सबसे महत्वपूर्ण है। जिसे राज्य शक्ति का प्राण या आत्मा कहा जा सकता है। जिस प्रकार आत्मा के बिना शरीर का अस्तित्व सम्भव नहीं होता है उसी प्रकार सम्प्रभुता के बिना राज्य के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती है। सी०एल० ओ०ए० ; ने लिखा है कि “प्रभुसत्ता को राज्य से कदापि अलग नहीं किया सकता यदि राज्य को इससे बंचित कर दिया जाय तो राज्य कदापि नहीं रहेगा और जिसके पास यह सत्ता होगी, वही राज्य का स्वामी होगा क्योंकि उसके पास सार्वभौम सत्ता (सर्वोच्च सत्ता) होगी। प्रभुसत्ता ही वह शक्ति है जो राज्य के अस्तित्व को बनाये रखती है। अतः निःसन्देह अपने मूर्त रूप में राज्य व प्रभुसत्ता पर्यायवाची है। प्रभुसत्ता प्राधिकार का सर्वोच्च शिखर है। जिसके माध्यम से राज्य की रचना होती है और वह बना रहता है।

सम्प्रभुता ही राज्य को समाज के अन्य समुदायों यथा सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, व्यावसायिक आदि से पृथक करती है। लास्की के शब्दों में “सम्प्रभुता के कारण ही राज्य अन्य सभी प्रकार के समुदायों से भिन्न है।” इससे स्पष्ट है कि सम्प्रभुता राज्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण भौतिक तत्व है। इसलिए विभिन्न राजनीतिक सिद्धान्तों का अध्ययन करते समय हमारे लिए सम्प्रभुता का

विस्तृत और सुस्पष्ट अध्ययन आवश्यक हो जाता है। यह राज्य का मूल आधार है अतः हम सम्प्रभुता के माध्यम से राज्य और राज्य के माध्यम से राजनीतिक सिद्धान्त से भली भाँति परिचित हो सकते हैं जो हमारे अध्ययन विषय का मूल उद्देश्य है।

6.1 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य सम्प्रभुता के बारे में जानकारी प्राप्त करना है। इसका अध्ययन करने के उपरान्त आप समझ सकेंगे कि:

1. राज्य के चार आवश्यक तत्वों - जनसंख्या, निश्चित भू-भाग, सरकार और सम्प्रभुता में सबसे महत्वपूर्ण आवश्यक तत्व कौन है .
2. सम्प्रभुता का अस्तित्व राज्य में क्यों आवश्यक है .
3. इस अवधारणा का विकास कैसे हुआ.
4. सम्प्रभुता के लक्षण क्या है .
5. इसके विविध रूप कौन-कौन से हैं .
6. राज्य में इसका निवास कहा है .

6.2 सम्प्रभुता का अर्थ

सम्प्रभुता शब्द आंग्ल भाषा के सावरनिटी शब्द का हिन्दी अनुवाद है। जिसकी उत्पत्ति लैटिन भाषा के शब्द सुपरएनस् ; से हुई है। जिसका अर्थ है 'सर्वोच्च शक्ति ; इस प्रकार समाज की सर्वोच्च शक्ति को ही सम्प्रभुता कहा जाता है अर्थात् यह वह सत्ता है जिसके ऊपर अन्य कोई सत्ता नहीं होती है। प्रत्येक समाज में विभिन्न प्रकार के वर्ग, संस्थाएं, समुदाय तथा शक्तियां होती हैं। इन सब में जो सर्वोच्च शक्ति रखता है उसे ही सम्प्रभु सत्ताधारी कहा जाता है। वर्तमान समय में यह शक्ति आवश्यक रूप से राज्य के पास होती है। जिसके आधार पर वह अन्य समुदायों, संस्थाओं तथा सामान्य जनता से अपने आदेशों का पालन कराता है। राज्य की इच्छा (आदेश) कानून के रूप में व्यक्त होते हैं। यदि कोई इसका का उल्लंघन करता है तो राज्य उसे कठोर से कठोर दण्ड दे सकता है। इस सर्वोच्च सत्ता को ही सम्प्रभुता, राज्य की सर्वोच्च इच्छा, या कानून के रूप में सम्बोधित किया जाता है अर्थात् ये तीनों शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची हैं।

6.2.1 सम्प्रभुता की परिभाषाएं

जीन बोदां “ सम्प्रभुता नागरिक व प्रजाननों के ऊपर वह सर्वोच्च शक्ति है जिस पर कानून का कोई बन्धन नहीं होता है। ”

“**ग्रोषियस** -सम्प्रभुता उस व्यक्ति की सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति है जिसके कार्य किसी अन्य के अधीन नहीं होते और जिसकी इच्छा का उल्लंघन न किया जा सके। ”

“**बर्गोष**----सम्प्रभुता सभी व्यक्तियों तथा संस्थाओं पर मौलिक , निरंकुश तथा असीमित शक्ति है। ”

“**ब्लैकस्टोन** --सम्प्रभुता वह सर्वोच्च अनिवार्य व अनियन्त्रित सत्ता है जिसमें सर्वाच्च विधित शक्ति होती है।

जेलीनेक -“ सम्प्रभुता राज्य का गुण है जिसके कारण वह अपनी इच्छा के अतिरिक्त किसी दूसरे की इच्छा या किसी बाहरी शक्ति के आदेशों से बाध्य नहीं है।”

“**विलोबी**--सम्प्रभुता राज्य की सर्वोच्च इच्छा है।”

“**ड्यूग्वी** --सम्प्रभुता राज्य की शासन शक्ति या आज्ञा देने की शक्ति है, वह राष्ट्र की इच्छा है जिसका संगठन राज्य के रूप में हुआ है उसे राज्य की सीमा के भीतर सब व्यक्तियों को आदेश देने का अधिकार है। ”

पोलॉक “ सम्प्रभुता वह शक्ति है जो न तो अस्थायी है न किसी दूसरे के द्वारा दी गयी है न ही ऐसे नियम के अधीन है जिन्हे वह स्वयं बदल सके और न ही पृथ्वी पर किसी अन्य शक्ति के प्रति उत्तरदायी है। ”

वुडरो विल्सन “ वह शक्ति जो सदा क्रियाशील रहकर कानून बनाती है और उनका पालन कराती है प्रभुसत्ता कहलाती है।”

क्रेनेनवर्ग“ सम्प्रभुता राज्य का एक प्राकृतिक गुण है जिससे वह अपनी इच्छा दूसरों पर विना किसी शर्त के लागू कर सकता है। शासन की यही परिभाषा है, और यह राज्य का मौलिक तत्व है कि वह शासन करे। ”

लास्की “ सम्प्रभुता कानूनी तौर पर व्यक्तियों तथा समूहों पर सर्वोच्च होती है और उसके पास सर्वोच्च बाध्यकारी शक्ति होती है। ”

इस प्रकार कहा जा सकता है कि राज्य की सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, असीमित तथा अविभाज्य शक्ति है। इसलिए इस पर आन्तरिक तथा बाह्य दोनों क्षेत्रों में कोई नियंत्रण या कानूनी बन्धन नहीं होता है।

6.2.2 सम्प्रभुता का विकास

सम्प्रभुता अपने वर्तमान स्वरूप में आधुनिक युग की एक प्रमुख राजनीतिक अवधारणा है परन्तु इसके विकास का एक लम्बा इतिहास रहा है। प्राचीन काल से लेकर अब तक प्रायः सभी विचारकों ने सम्प्रभुता के सम्बन्ध में अपने मत प्रकट किये हैं। यद्यपि प्राचीन काल के विद्वान सम्प्रभुता के विचार से पूर्णपरिचित नहीं थे तथापि राजनीति विज्ञान के जनक अरस्तू के द्वारा अपनी पुस्तक 'पालिटिक्स' में राज्य के लिए एक सर्वोच्च शक्ति की आवश्यकता महसूस की गयी थी। प्राचीन रोमन विचारकों ने भी अपने विचारों में एक सर्वोच्च सत्ता का उल्लेख किया है। जिसे 'समा पोटेस्टास' अर्थात् सर्वोच्च सत्ता और 'प्लेनीच्यूडो पोटेस्टैटिस' अर्थात् 'सम्पूर्ण सत्ता' कहा जाता था। इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन रोमन विचारक सम्प्रभुता के आधुनिक विचार के काफी निकट पहुँच चुके थे। गैटिल के शब्दों में "रोमन वकीलो ने राज्य की शक्ति की पूर्णता को व्यक्त किया था।"

मध्य युग जिसे कई बार 'अंधेरा युग' भी कहा जाता है, में सम्प्रभुता का विचार क्षिणित पड़ गया। अर्थात् कहा जा सकता है कि इस युग में सम्प्रभुता सम्बन्धी रोमन साम्राज्य की उपलब्धियाँ धूल धूसित हो गयी। फिगिस ने लिखा है कि "आधुनिक अर्थ में राज्य प्रभुता की कोई वस्तु मध्य युग में नहीं थी।" मध्य युग में सम्प्रभुता के विकास में कई कठिनाइयाँ थी। इस युग को धर्म युग की भी संज्ञा दी जाती है। जिसमें सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्थापर धर्म का प्रभाव स्वीकार कर लिया गया था। राजषाही, पोपषाही, तथा सामन्तवाद ने सम्प्रभुता के रथ को आगे बढ़ने से रोक दिया था। जिसके प्रतिक्रिया स्वरूप 10वीं शताब्दी में सम्प्रभुता के आधुनिक धारणा का उदय हुआ। जिसका अस्पष्ट रूप से ही सही सर्वप्रथम दर्शन इटली के प्रसिद्ध विज्ञान मैकियावेली के विचारों में होता है।

सम्प्रभुता की आधुनिक संकल्पना सर्वप्रथम जीन बोंदा की पुस्तक **Six Books on The Republic** में देखने को मिलती है। इसे व्यक्त करते हुए उसने लिखा कि "सम्प्रभुता नागरिक व प्रजानों के ऊपर वह सर्वोच्च शक्ति है जिस पर कानून का कोई बन्धन नहीं होता है।" इस प्रकार बोंदा ही आधुनिक सम्प्रभुता के सिद्धान्त का जनक कहा जाता है। बोंदा ने सम्प्रभुता को कानूनी दृष्टि से सर्वोच्च मानते हुए भी उस पर प्राकृतिक कानून, ईश्वरीय कानून, सां विधानिक कानून और व्यक्तिगत सम्पत्ति की सीमाएं आरोपित कर दी जिससे सम्प्रभुता की सर्वोच्चता बाधित हो गयी। ग्रीषियस सम्प्रभुता के बाह्य पक्ष का निरूपण करते हुए सभी राष्ट्रों को स्वतन्त्र तथा समस्तरी बतलाया परन्तु उन्होने भी उस पर अन्तर्राष्ट्रीय विधि की सीमा आरोपित कर दी।

सम्प्रभुता का स्पष्ट, तर्क संगत और वैज्ञानिक विप्लेषण करने का श्रेय इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध दार्शनिक थामस हॉब्स को दिया जाता है। उनके अनुसार सम्प्रभुता सामाजिक संविदा का सृजन है। जिसके माध्यम से लोगों ने अपने समस्त अधिकार उस व्यक्ति या सभा को सौंप दिया। जिसे लोगों के द्वारा अपने जीवन रक्षा का दायित्व सौंपा गया। यह सम्प्रभुता निरंकुष, असीमित तथा अमर्यादित है। किन्तु वह भी जीवन को संकट उत्पन्न होने की स्थिति में सम्प्रभुता पर 'आत्म रक्षा' का प्रतिबन्ध आरोपित करता है। वह इस सम्बन्ध में कहता है कि यदि राजा किसी को अन्न, जल, वायु तथा औषधि ग्रहण करने से रोकता है तो उस स्थिति में व्यक्ति राज्याज्ञा का उल्लंघन कर सकता है क्योंकि इससे व्यक्ति के जीवन को संकट उत्पन्न हो जाता है।

हाब्स के बाद लॉक ने इंग्लैण्ड के 1088 की गौरव पूर्ण क्रान्ति को उचित ठहराने के लिए संवैधानिक सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तथा राज्य और राजा के सम्प्रभुता को अमान्य करार दिया। तत्पश्चात जीन जैक्स रूसों ने लोकप्रिय सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर इसे आधुनिक प्रजातांत्रिक स्वरूप प्रदान किया। उसने हॉब्स तथा लॉक के विचारों में सुन्दर समन्वय स्थापित करते हुए एक तरफ सम्प्रभुता को निरंकुष, अविभाज्य, अपरित्याज्य बताया तो दूसरी ओर लोकहितकारी स्वरूप प्रदान करते हुए जनता में निहित कर दिया। उसके अनुसार सम्प्रभुता का निवास सामान्य इच्छा में होता है। रूसों के बाद बेंथम ने सम्प्रभुता का उल्लेख कानून बनाने वाली सर्वोच्च सत्ता के रूप में किया और बताया कि कानून का स्रोत प्राकृतिक नियम आदि नहीं है बल्कि सम्प्रभुता है।

आधुनिक सम्प्रभुता के अवधारणा के विकास में फ्रांसिसी राज्य क्रान्ति मील का पत्थर साबित हुई। इस क्रान्ति ने सम्प्रभुता के निरपेक्षता और निरंकुषता का समर्थन इस आधार पर किया कि सम्प्रभु शक्ति जनता में निहित है। अतः इसे प्रतिबंधित करने की आवश्यकता नहीं है। दुनिया के नवोदित राष्ट्रीय राज्यों ने भी आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार के समग्र सम्प्रभुता का दावा किया। औद्योगिक क्रान्ति तथा लोक कल्याणकारी राज्य के विचार ने राज्य के कार्य क्षेत्र में आषाढीत वृद्धि की। जिससे निरपेक्ष सम्प्रभुता की धारणा प्रबल हुई। जिसके परिणामस्वरूप ब्रिटीश संसद को सम्प्रभुता प्राप्त हुई जो असीमित है।

13वीं एवं 19वीं शताब्दी में सम्प्रभुता को बलशाली समर्थक मिले। इनमें आदर्शवादी हीगल, ग्रीन व बोसांके का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। हीगल ने राज्य को विश्वात्मा का सर्वोत्तम रूप माना। हीगल का कथन है कि "राज्य पृथ्वी पर ईश्वर का अवतरण है।" उन्होंने व्यक्ति को पूर्णतः राज्य के अधीन कर दिया। आगे वह कहते कि व्यक्ति को स्वतन्त्रता तभी प्राप्त हो सकती है जबकि वह राज्य के कानूनों का अक्षरसः पालन करे। राज्य आन्तरिक और बाह्य दोनों रूपों में सर्वोच्च होता है। इसलिए हीगल ने राज्यको युद्ध करने का पूर्ण अधिकार दिया और बताया कि जिस प्रकार समुद्र में शान्ति के

समय इकट्ठा गन्दगी तुफान आने पर समाप्त हो जाती है ठीक उसी प्रकार समाज की गन्दगी युद्धों के समय समाप्त हो जाती है। इस प्रकार हीगल की सम्प्रभुता निरपेक्ष एवं असीम थी उसपर नैतिकता एवं अन्तराष्ट्रीय कानून का भी कोई नियंत्रण नहीं था। ग्रीन और बोसाके ने भी दार्शनिक आधारों पर राज्य के सर्वोच्च सत्ता का समर्थन किया।

ऑस्टिन ने अपनी पुस्तक 'लेक्चर्स आन जुरिसप्रुडेंस ' 1332 में सम्प्रभुता को आधुनिक गुणों से सम्पन्न किया। जिसे सम्प्रभुता का अद्वैतवादी, एकल या कानूनी सिद्धान्त कहा जाता है। ऑस्टिन के विचारों ने सम्प्रभुता को सर्वोच्च शिखर पर पहुँच दिया। क्योंकि उन्होंने सम्प्रभुता को निरपेक्ष, असीमित, असंक्राम्य और अखण्ड माना।

20वीं सदी के प्रारम्भ से ही राज्य के सर्वोच्च शक्ति अर्थात् सम्प्रभुता के विरुद्ध आवाजे उठने लगीं। एक तरफ अराजकतावादियों ने इसे व्यर्थ घोषित किया तो दूसरी ओर बहुलवादियों ने इसे मानव समुदाय के लिए अहितकर माना। उनका तर्क था कि सम्प्रभुता निरकुषता का प्रतीक है , युद्ध को प्रोत्साहन देती है तथा विष्वषान्ति का शत्रु है। इसलिए सम्प्रभु शक्ति को समाज के विभिन्न समुदायों व संस्थाओं में विभाजित करने का इन लोगों ने प्रबल पक्षपोषण किया।

6.2.3 सम्प्रभुता के पहलू

उपरोक्त विप्लेषण के आधार पर सम्प्रभुता के दो प्रमुख पहलू दृष्टिगोचर होते हैं:

6.2.3.1 आन्तरिक सम्प्रभुता

आन्तरिक सम्प्रभुता का आषय है कि राज्य अपनी सीमाओं के भीतर व्यक्तियों, समुदायों, संस्थाओं, वर्गों, दलों आदि से श्रेष्ठ है अर्थात् इन्हे राज्य के कानून और आदेशों के अधीन कार्य करना पड़ता है। राजाज्ञा का उल्लंघन करने पर राज्य सत्ता द्वारा कोई भी दण्ड दिया जा सकता है। कोई भी राज्य से अधिक श्रेष्ठता अर्थात् इसके प्रति निरापदता का दावा नहीं कर सकता है। इनके ऊपर राज्य की शक्ति मौलिक, सार्वभौम, असीमित और पूर्णतः व्यापक होती है। लास्की ने आन्तरिक सम्प्रभुता की व्याख्या करते हुए कहा है कि "राज्य अपने क्षेत्र के अन्तर्गत सभी मनुष्यों तथा समुदायों को आज्ञा प्रदान करता है और स्वयं उनमें से किसी की भी आज्ञा नहीं मानता है। उसकी इच्छा पर किसी प्रकार का कानूनी बन्धन नहीं है। किसी विषय में केवल अपनी इच्छा के अभिव्यक्ति मात्र से ही उसे वह सब अधिकार मिल जाता है जिसे वह करना चाहता है।"

6.2.3.2 वाह्य सम्प्रभुता

वाह्य सम्प्रभुता का आषय है कि राष्ट्र मण्डलो के बीच प्रत्येक राज्य सर्वोच्च होता है और वह अपनी इच्छानुसार दूसरे राज्यों के साथ सम्बन्ध रखने के लिए स्वतन्त्र होता है। कोई अन्य राज्य या अन्तर्राष्ट्रीय संगठन किसी राज्य से श्रेष्ठ होने का दावा नहीं कर सकता है। राज्य कतिपय सन्धियों अथवा वचनवद्धताओं के अधीन हो सकता है। परन्तु ये स्वतः प्रसूत होती हैं। इसलिए उनसे उनकी सम्प्रभुता पर कोई असर नहीं पड़ता है। कोई भी राज्य के ऊपर ऐसी बाध्यता लागू नहीं कर सकता है या विवश नहीं कर सकता जो उसे स्वीकार्य न हो।

6.2.4 सम्प्रभुता के लक्षण

विभिन्न परिभाषाओं का विप्लेषण करने से सम्प्रभुता की निम्नलिखित विशेषताएं परिलक्षित होती हैं:

6.2.4.1 निरंकुशता

इसका अर्थ है कि सम्प्रभुता सर्वोच्च, सम्पूर्ण, निरंकुश तथा असीमित होती है। इसकी असीमितता के दो पहलू हैं - आन्तरिक और वाह्य। आन्तरिक क्षेत्र में राज्य की सत्ता सर्वोपरि और पूर्ण रूप से अमर्यादित है। इसलिए राज्य आन्तरिक क्षेत्र के लिए कोई भी कानून बना सकता है किसी भी कानून को बदल सकता है तथा उनका पालन न करने वालों को कोई भी दण्ड दे सकता है। वाह्य दृष्टि से भी प्रभुसत्ता स्वतन्त्र होती है। इसलिए वह विदेश नीति का निर्धारण स्वतन्त्रता पूर्वक कर सकता है। युद्ध व सन्धि के सम्बन्ध में भी उसका निर्णय अन्तिम होता है। न तो कोई दूसरा राज्य और न ही कोई अन्तर्राष्ट्रीय संगठन इस सन्दर्भ में कोई दबाव डाल सकता है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से सम्प्रभुता असीम व निरंकुशता होती है लेकिन व्यवहार में परम्पराएं, रीति-रीवाज, जनमत, नैतिक व प्राकृतिक नियम तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून सम्प्रभुता पर प्रतिबन्ध आरोपित करते हैं। बलन्तश्ली का कथन है कि “ संसार में पूर्ण स्वतन्त्रता जैसी कोई वस्तु नहीं है यहाँ तक कि राज्य भी सर्वशक्तिमान नहीं है क्योंकि वाह्य रूप से यह दूसरे राज्यों के अधिकारों से सीमित है और अन्दर से स्वयं अपने स्वभाव और सदस्यों के अधिकारों द्वारा मर्यादित है।

6.2.4.2 सर्वव्यापकता

सर्वव्यापकता का आषय है कि राज्य अपने निश्चित भौगोलिक सीमा के अर्न्तगत सभी व्यक्तियों, संस्थाओं, संघों, तथा अन्य व्यवस्थाओं पर अपना पूर्ण अधिकार रखता है। उस सीमा में रहने वाले सभी लोग राज्य निर्मित कानून को मानने के बाध्य होते हैं। सम्प्रभुता से मुक्त होने का दावा कोई भी नहीं कर सकता है। लेकिन इसके अपवाद स्वरूप गिलक्राइस्ट ने ‘ राज्येत्तर सम्प्रभुता के सिद्धान्त की

तरफ संकेत किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी राज्य में जो दूसरे राज्यों के राजदूत व दूतावास होते हैं उन पर उसी राज्य के कानून व सम्प्रभुता लागू होती है जिस राज्य के वे होते हैं।

6.2.4.3 अदेयता

सम्प्रभुता सदैव राज्य से संलिप्त रहती है। अतः राज्य इसे किसी दूसरे को नहीं दे सकता है। इसे दूसरे को देने का अर्थ है कि राज्य का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा। अर्थात् राज्य आत्महत्या की कीमत पर ही इसे किसी दूसरे को दे सकता है। लाइबर के शब्दों में “ जैसे एक बृक्ष अपने उगने, पनपने, और फल ने फूल ने के अधिकार को नहीं छोड़ सकता है अथवा एक व्यक्ति विना अपना विनाश किए अपने जीवन व व्यक्तित्व को अपने से अलग नहीं कर सकता है ठीक उसी प्रकार राज्य से सम्प्रभुता को अलग नहीं किया जा सकता है।

6.2.4.4 स्थायित्व

जिस प्रकार राज्य स्थायी होता है उसी प्रकार सम्प्रभुता भी स्थायी होती है। जबतक राज्य कायम रहेगा तबतक सम्प्रभुता भी कायम रहेगी। सम्प्रभुता का अन्त राज्य का अन्त होगा। कई बार यह मान लिया जाता है कि राज्य में एक शासन या सरकार का अन्त होने या शासक की मृत्यु होने पर सम्प्रभुता का अन्त हो जाता है लेकिन यह एक भ्रम मात्र है। ब्रिटेन के बारे में यह कहावत प्रसिद्ध है कि “ राजा मृत है राजा चिरंजीवी हो।” इसका भाव यह है कि राजा की मृत्यु से भी राजपद (सम्प्रभुता) का अन्त नहीं होता है।

6.2.4.5 अविभाज्यता

सम्प्रभुता पूर्ण होती है इसलिए इसे विभाजित भी नहीं किया जा सकता है। सके विभाजन का अर्थ होगा एक से अधिक राज्यों का निर्माण करना। उदाहरण स्वरूप 1971 ई0 के भारत-पाक युद्ध द्वारा पाकिस्तानी सत्ता दो टुकड़ों में विभाजित हो गयी जिससे एक नये राज्य बांग्लादेश का सृजन हुआ। कालहन ने लिखा है कि “ सम्प्रभुता एक या सप्रग वस्तु है उसके विभाजन का अर्थ उसे नष्ट करना होगा वह राज्य में सर्वोत्तम सत्ता है और आधी सम्प्रभुता कहना उतना ही असंगत है जितना आधा वर्ग या आधा त्रिभुज कहना।

6.2.4.6 मौलिकता

मौलिकता का अर्थ है सम्प्रभुता अपनी स्थिति का आधार स्वयं होती है। उसे न तो किसी ने पैदा किया है न तो बनाया है। बल्कि यह राज्य में जन्मजात होती है। अगर यह मान लिया जाय कि सम्प्रभुता राज्य को किसी द्वारा दी गयी है तो ऐसी स्थिति में यह स्वीकार करना होगा कि उसे देने वाला उसे

वापस ले सकता है। जिस प्रकार किसी अमानत को रखने वाला उसका स्वामी नहीं होता उसी प्रकार किसी द्वारा प्रदत्त शक्ति सम्प्रभु नहीं हो सकती है।

अभ्यास प्रश्न 1

निर्देश -

नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपना उत्तर लिखें।

अ . इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कर अपने उत्तर की त्रुटियों को दूर करें।

1. “सम्प्रभुता राज्य की सर्वोच्च इच्छा है।” यह कथन है-

(क) वर्गेष (ख) ऑस्टिन (ग) बिलोवी (घ) बोदां

2. सम्प्रभुता के आन्तरिक तथा वाह्य दो पक्ष माने जाते हैं- सत्य है / असत्य है।

3. राज्य के सम्प्रभुता का सिद्धान्त किसने प्रतिपादित किया है ?

4. सम्प्रभुता एक आवश्यक लक्षण है-

(क) सरकार का (ख) राज्य का (ग) समाज का (घ) समुदाय का

6.2.5 सम्प्रभुता के विविध रूप

सम्प्रभुता के रूपों को लेकर राजनीति विज्ञान के विद्वानों में पर्याप्त मतभेद देखने को मिलता है। इस मतवैभिन्नता का आधार सम्प्रभुता की प्रकृति व उसका केन्द्र बिन्दु रहा है। सम्प्रभुता का वास्तव में केवल एक ही रूप हो सकता है। जिसे राज्य शक्ति कहा जाता है।

मैकाइबर ने कहा है कि “ जिन लोगो ने राज्य की सम्प्रभुता को लेकर शब्दों का भ्रमजाल रखा उनके उद्देश्य पवित्र नहीं है बल्कि वे केवल आदर्शवादी प्रचारक हैं।” इस सन्दर्भ में भ्रम को दूर करने के लिए सम्प्रभुता के कुछ प्रचलित रूपों की व्याख्या निम्न प्रकार से की जा सकती है।

6.2.5.1 नाममात्र की सम्प्रभुता और वास्तविक सम्प्रभुता

नाममात्र और वास्तविक सम्प्रभुता का अन्तर प्रायः संसदीय शासन व्यवस्थाओं में देखने में मिलता है। जहाँ संविधान सारी शक्तियां नाममात्र के सम्प्रभु (औपचारिक सम्प्रभु) को देता है। जबकि व्यवहार में उन शक्तियों का प्रयोग वह नहीं बल्कि वास्तविक सम्प्रभु करता है। इस व्यवस्था का विकास सर्वप्रथम ब्रिटीश शासन व्यवस्था में हुआ जहाँ सम्राट सम्पूर्ण सत्ता का वाहक होता है किन्तु लोकतन्त्र

के विकास के साथ-साथ उसकी सम्पूर्ण शक्तियों का प्रयोग जनता के प्रतिनिधियों द्वारा किया जाने लगा है। इस प्रकार वहां यह देखने को मिलता है कि आज भी ब्रिटीश शासन में सारी शक्तियों को स्रोत सिद्धान्तः सम्राट ही है किन्तु व्यवहार में इन सारी शक्तियों का प्रयोग ब्रिटीश प्रधानमंत्री, मंत्रिमण्डल व संसद द्वारा किया जाता है और वह केवल नाममात्र का सम्प्रभु रह गया जबकि वास्तविक सम्प्रभु मंत्रिमण्डल व संसद है। यह अन्तर भारतीय शासन में भी देखने को मिलता है जहाँ संविधान सारी शक्तियां राष्ट्रपति को देता है जैसा कि संविधान के अनु0 53 में कहा गया है कि संघ की समस्त कार्यपालिका शक्तियां राष्ट्रपति में निहित है। जिसका प्रयोग वह स्वयं या अपने अधीनस्थों के माध्यम से करेगा। लेकिन व्यवहार में इन सभी शक्तियों का प्रयोग भारतीय प्रधानमंत्री व उसका मंत्रीमण्डल ही करता है। इस प्रकार राष्ट्रपति नाममात्र का सम्प्रभु है जबकि और प्रधानमंत्री सहित मंत्रिमण्डल वास्तविक सम्प्रभु है।

6.2.5.2 विधिक व राजनीतिक सम्प्रभुता

विधिक सम्प्रभुता एक सवैधानिक संकल्पना है जिसका आशय है कि वैधानिक सम्प्रभु को कानून बनाने की सर्वोच्च शक्ति प्राप्त है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि उसके आदेश ही कानून है अर्थात् राज्य के सभी कानून उसी के द्वारा निर्मित किये जाते हैं। इस प्रकार कानूनों का निर्माण करने वाली सत्ता ही कानूनी सम्प्रभु कहलाती है। विधिक सम्प्रभु का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण ब्रिटीश संसद है जो किसी भी विषय पर कोई कानून बना सकती है। इसलिए कहा जाता है कि ब्रिटीश संसद ब्रिटेन में केवल स्त्री को पुरुष और पुरुष को स्त्री बनाने के अतिरिक्त अन्य कोई भी कार्य कर सकती है यद्यपि कानूनी तौर पर वह इसे भी कर सकती है। इस प्रकार विधिक सम्प्रभु की शक्ति निरपेक्ष, असीमित, तथा अप्रतिबन्धित होती है। इसके विपरीत राजनीतिक सम्प्रभुता की संकल्पना अस्पष्ट और भ्रमित करने वाली है। इस सन्दर्भ में कहा जाता है कि प्रत्येक विधिक सम्प्रभु के पीछे एक राजनीतिक सम्प्रभु होता है। जिसके समक्ष समय-समय पर विधिक सम्प्रभु को झुकना पड़ता है। डायसी ने लिखा है कि "जिस सम्प्रभुता को वकील लोग स्वीकार करते हैं उसके पीछे एक दूसरा सम्प्रभु रहता है। जिसके समक्ष वैधानिक सम्प्रभु को सिर झुकाना पड़ता है।

राजनीतिक सम्प्रभुता निर्वाचक मण्डल या मतदाताओं में अवस्थित होती है। प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र में जहाँ जनता स्वयं शासन संचालन करती है वहाँ विधिक और राजनीतिक सम्प्रभु का अन्तर धुंधला होता है लेकिन अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (प्रतिनिध्यात्मक शासन) में जहाँ शासन कार्य जनता के द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि करते हैं वहाँ राजनीतिक सम्प्रभुता मतदाताओं में निहित होती है। जिसका दर्शन नियमित अन्तराल के बाद होने वाले चुनावों में होता है। जिससे सरकारों का निर्माण होता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि चुनाव ही वह श्रेष्ठ तरीका है जिसमें राजनीतिक सम्प्रभु की इच्छा व्यक्त होती है।

6.2.5.3 विधितः और वस्तुतः सम्प्रभुता

सामान्य रूप से विधितः और वस्तुतः सम्प्रभुता एक ही होती है क्योंकि प्रायः सत्ता प्राप्त व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह कानून द्वारा मान्यता प्राप्त या स्थापित होता है। इन दोनों के मध्य अन्तर आपातकालीन स्थितियों में उत्पन्न होता है। विधितः सम्प्रभु वह होता है जो राज्य के संविधान, सुस्थापित कानून व परम्पराओं के अनुरूप पद पर आसीन होता है। इसलिए उसके पास आदेश देने तथा उसका पालन कराने का वैध अधिकार होता है। जबकि वस्तुतः सम्प्रभु वह होता है जो राज्य के सर्वोच्च पद पर गैर कानूनी अथवा असंवैधानिक ढंग से आसीन हो जाता है तत्पश्चात् अपनी इच्छा को बल पूर्वक राज्य के सभी लोगों पर लागू करने लगता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि वैधानिक सम्प्रभुता का आधार कानून होता है। जबकि वास्तविक सम्प्रभुता का आधार शक्ति होती है। वह अपने शक्ति के बल पर जनता से अपनी आज्ञाओं का पालन करवाती है। भले ही उसे शासन करने या आज्ञा पालन कराने का कानूनी अधिकार नहीं है। इतिहास में ऐसे कई उदाहरण देखने को मिलते हैं जहाँ कानूनी सम्प्रभु को अपदस्थ कर कोई व्यक्ति या समुदाय सत्ता हथिया लेता है। जैसे रूस में बोल्शेविकों द्वारा जार को अपदस्थ कर लेनिन के नेतृत्व में सत्ता पर नियंत्रण कर लिया गया। इस तरह विधितः सम्प्रभु जार थे जबकि वस्तुतः सम्प्रभुता लेनिन के हाथों में आ गयी। लेकिन यही सम्प्रभुता जब दीर्घकाल तक बनी रह जाती है तो धीरे-धीरे वह जन सहमति प्राप्त कर वैधानिक बन जाती है। क्योंकि कोई भी सम्प्रभु केवल शक्ति के आधार पर अधिक दिनों तक अपना अस्तित्व बनाये रखने में सफल नहीं हो सकता है।

6.2.5.4 लौकिक सम्प्रभुता

लौकिक सम्प्रभुता का आशय है कि शासन की अन्तिम और सर्वोच्च शक्ति का स्रोत एवं स्वामिनी जनता ही है। आधुनिक लोकतन्त्र की धारणा लोकप्रिय सम्प्रभुता पर ही आधारित है। इसकी आवाज सर्वप्रथम कौंसिलियर आन्दोलन के समर्थकों ने पन्द्रहवीं शताब्दी में चर्च की शक्ति के खिलाफ उठायी लेकिन आधुनिक युग में इसे इसे सर्वप्रथम स्थापित करने श्रेय संविदावादी विचारक जीन जैक्स रूसों को दिया जाता है। जिन्होंने सामान्य इच्छा के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर इसका प्रबल पक्षपोषण किया। रूसों के अनुसार कोई भी प्रशासक अपनी इच्छा को आज्ञा के रूप में व्यक्त तो कर सकता है परन्तु कानून सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति होता है। लोकप्रिय सम्प्रभुता लोकमत की शक्ति में सार्थक होती है। चूंकि शासक वर्ग को निश्चित अन्तराल के बाद फिर से सर्वसाधारण का विश्वास प्राप्त करने के लिए चुनाव का सामना करना पड़ता है अतः वह लोकमत की उपेक्षा नहीं कर सकता है। लोकप्रिय सम्प्रभुता की मूल मान्यता यह है कि शासक वर्ग के द्वारा शासन कार्य सदैव

जनहित को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए क्योंकि उसका अस्तित्व तभी तक बना रहेगा जबतक उसे जनसामान्य के बहुमत का समर्थन (विश्वास) हासिल है। गिलक्राइस्ट के अनुसार “ लोकप्रिय सम्प्रभुता सामान्यतया किसी व्यक्तिगत शासक या वर्ग की अपेक्षा लोगों की शक्ति है। ”

यह लोकप्रिय सम्प्रभुता की धारणा ही आगे चलकर अमेरिकी और फ्रांसीसी क्रान्ति का आधार बनी। अमेरिका के स्वतन्त्रता आन्दोलन में स्पष्ट रूप से घोषित किया गया था कि प्रत्येक मानव जन्म से ही समान रूप से जीवन, स्वतन्त्रता और प्रसन्नता प्राप्त करने का अधिकारी होता है। फ्रांसिसी क्रान्ति में घोषित किया गया कि प्रत्येक मनुष्य जन्म से स्वतन्त्रता और अधिकार में समान हैं यदि किसी राजनीतिक व्यवस्था के द्वारा स्वाधीनता, सुरक्षा और सम्पत्ति का दमन किया जाता है तो राजनीतिक संगठन का यह दायित्व होता है कि वह संगठित रूप से उसका विरोध करे।

लोकप्रिय सम्प्रभुता का विचार भले ही लोकलुभावना तथा जनसम्मान से ओत-प्रोत प्रतीत हो किन्तु इसका अर्थ अनिश्चितता से आच्छादित है अर्थात् इसकी व्याख्या करना दुष्कर हो गया है। यद्यपि यह कहना अच्छा लगता है कि किसी भी राजनीतिक व्यवस्था का मूल आधार जनता है। इसलिए शासन उसकी इच्छा के अनुरूप ही होना चाहिए परन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि जनता का अर्थ क्या है। गार्नर लिखते हैं कि जनता के दो अर्थ हैं- प्रथम राज्य में रहनेवाला सम्पूर्ण असंगठित तथा अनिश्चित जन समुदाय जिसमें बच्चे, बूढ़े, अपराधी, दिवालिया, तथा विदेशी आदि सम्मिलित हैं जिनका राजनीतिक व्यवस्था के संचालन में कोई योगदान नहीं है। यदि वे जनता के द्योतक हैं तो कुल मिलाकर इस धारणा का कोई अर्थ नहीं है। द्वितीय निर्वाचक मण्डल अर्थात् जनता का केवल वह भाग जिसे वयस्क मताधिकार प्राप्त है किन्तु इन्हें भी जनता नहीं कहा जा सकता क्योंकि किसी भी राज्य में मतदाताओं की संख्या कुल जनसंख्या से काफी कम होती है। इसके अतिरिक्त चुवान बहुमत के आधार पर होता है जो सम्पूर्ण जनता का अल्पमत हो सकता है। जिसे वैधानिक दृष्टि से सम्प्रभु नहीं कहा जा सकता है। सत्य तो यह है कि वर्तमान असमानता पूर्ण समाज में सम्प्रभुता कुछ साधन सम्पन्न लोगों के हाथ की कठपुतली मात्र बनकर रह गयी है।

डा० आशीर्वादम के अनुसार लोकप्रिय सम्प्रभुता का अपना कुछ विशेष गुण होता है जिसका उल्लेख निम्नरूपों में किया सकता है:

(१) शासन शासक वर्ग का हित करने वाला नहीं बल्कि अनिवार्य रूप से जनता के हितों की साधना करने वाला होना चाहिए।

(२) यदि शासक जान बूझकर जनता की इच्छाओं का दमन करता है तो जन क्रान्ति की सम्भावना प्रबल हो जाती है।

(३) जनमत की अभिव्यक्ति सरल वैधानिक साधनों के माध्यम से होनी चाहिए।

(४) सरकार को जनता के प्रति उत्तरदायी बनाये रखने हेतु समयानुसार चुनाव, स्थानीय स्वायत्त शासन, लोकनिर्णय, आरम्भक, प्रत्याह्वान आदि की व्यवस्था सुनिश्चित की जाय।

(५) शासन के द्वारा अपनी शक्तियों का प्रयोग सविधान के अनुरूप किया जाय स्वेच्छाचारी ढंग से नहीं।

इस प्रकार यह देखने को मिलता है कि लौकिक सम्प्रभुता की धारणा सम्प्रभुता का आधार जनता की शक्ति को मानती है। इस विचारधारा ने प्राचीन निरंकुष राजतन्त्रों की चूले तो हिला दी किन्तु राजतन्त्र के खात्मों के बाद यह सिद्धान्त मार्ग भटक गया और आज यह अस्पष्टता के गर्त में धसा पड़ा है। वर्तमान में लौकिक सम्प्रभुता की धारणा भले ही भ्रम उत्पन्न करने वाली प्रतीत हो किन्तु इसकी लोकप्रियता को नजरअदाज नहीं किया सकता। इसकी सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि यह शासन का आधार जनता या जनसहमति को मानती है। यह राज्य के अस्तित्व को जनहित में स्वीकार करती है। यदि कोई राज्य अपने जनता के हितों की लगातार अवहेलना करता है तो शासन के विरुद्ध क्रान्ति का सम्भावना बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त इस तथ्य को भी उजागर करता है कि सरकार को अपनी शक्ति का प्रयोग वैध कानूनों के आधार पर ही करना चाहिए मनमाने तरीके से नहीं।

अभ्यास प्रश्न 2

नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपना उत्तर लिखें।

अ. इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कर अपने उत्तर की त्रुटियों को दूर करें।

1. लौकिक सम्प्रभुता की अवधारणा का प्रतिपादन किसने किया है ? .

.....
.....

2. सम्प्रभुता का निवास अन्तिम रूप से कहाँ होता है ?

.....
.....

3. कानूनी सम्प्रभु को प्रायः किसके आगे झुकना पड़ता है-

(क) राजनैतिक सम्प्रभुता (ख) लौकिक सम्प्रभुता (ग) समूह (घ) संघ

6.2.6 सम्प्रभुता का अधिवास

सम्प्रभुता के अधिवास की खोज राजनीति विज्ञान का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण और जटिल प्रश्न है। सम्प्रभुता के अधिवास का अर्थ है कि यह राज्य में कहा निवास करती है अर्थात् राज्य में कौन व्यक्ति या समूह राज्य की इच्छा को अभिव्यक्त करता है। इस सन्दर्भ में विद्वानों ने अलग-अलग विचार व्यक्त किये हैं अर्थात् अलग-अलग केन्द्र विन्दु बतलाये हैं जिनका उल्लेख प्रमुख रूप से निम्न रूपों में किया जा सकता है:

6.2.6 1 सम्प्रभुता का अधिवास राज्य में है।

सम्प्रभुता के सिद्धान्त का उदय सोलहवीं शताब्दी में हुआ तब यह कहा गया कि सम्प्रभुता राजा का गुण है। इसलिए उस समय तक उसके निवास स्थान के सम्बन्ध में कोई भी सन्देह नहीं था। उस समय फ्रांस के न्यायविदों ने फ्रांस के राजा को ही फ्रांस का सम्प्रभु कहा। सम्प्रभुता को राजा का गुण समझना उचित भी था क्योंकि उस समय राजा ही समस्त शक्तियों का स्रोत था। फ्रांस का शासक लुई चौदहवां कहता था कि मैं ही राज्य हूँ मैं ही शासक हूँ। इसी कारण उस समय कहा गया कि राजा नागरिक तथा प्रजाजनों के ऊपर परम शक्ति है जो विधि द्वारा मर्यादित नहीं है।

6.2.6 2 सम्प्रभुता का अधिवास जनता में है:

लोकतन्त्रवादी विचारको का मानना है कि सम्प्रभुता का निवास जनता में होता है। सर्वप्रथम इस विचार का पक्षपोषण रोमन विचारक सिसरो के द्वारा किया गया किन्तु तत्कालीन प्रवृत्तियों के अनुकूल न होने के कारण उसके विचार को अस्वीकार कर दिया गया। तदुपरान्त इस विचार का प्रतिपादन लॉक एंड रूसों ने किया कि शासन जनसहमति पर आधारित होता है तथा सम्प्रभुता जनता में निहित होती है। वर्तमान में यह धारणा अत्यन्त लोकप्रिय है किन्तु यह कहने में कि जनता सम्प्रभु है सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि स्वयं जनता शब्द का अर्थ ही अस्पष्ट है। कुछ लोग जनता का अर्थ समस्त जनसमूह अर्थात् बच्चे, बूढ़े और नौजवान से लगाते हैं तो कुछ लोग केवल निर्वाचको या मतदाताओं को इसमें शामिल करने की वकालत करते हैं।

6.2.6 3 संविधान बनाने तथा उसमें संशोधन करने वाली संस्था में है

इस धारणा के प्रतिपादको का मानना है कि सम्प्रभुता संविधान निर्मात्री संस्था में निहित होती है अर्थात् संविधान का निर्माण और उसका संशोधन करने वाली सभा को ही सम्प्रभु कहा जा सकता है। कुछ राज्यों में तो व्यवस्थापिका सामान्य विधि बनाने की प्रक्रिया से ही संविधान में संशोधन कर सकती है जैसे- इंग्लैण्ड, लेकिन कुछ राज्यों में संविधान संशोधन हेतु विशेष प्रक्रिया अपनायी जाती है जैसे-

अमेरिका। परन्तु इस सिद्धान्त की दो प्रमुख कठिनाइयां हैं। प्रथम संशो धनकारी सत्ता प्रायः सुषुप्तावस्था में रहती है अर्थात् यह केवल कभी-कभी क्रियासही ल होती है। जबकि सम्प्रभुता के सुषुप्त मानना राज्य हित में नहीं है। द्वितीयतः यह विचार सम्प्रभुता की एक प्रमुख विशेषता निरंकुशता को भी ठेस पहुँचाता है। क्योंकि संसोधनकारी शक्ति व्यवहारतः सरकार के नियन्त्रण में रहती है।

6.2.6 4 सम्प्रभुता का निवास विधि निर्माण करने वाली समस्त संस्थाओं के योग में है

इस दृष्टिकोण के समर्थको का मत है कि सम्प्रभुता का निवास विधि निर्मित करने वाली संस्थाओं में होता है। वुडरो विल्सन ने कहा है कि सम्प्रभुता विधि निर्मातृ संस्थाओं में निवास करती है। इसी बात का समर्थन करते हुए गेटिल ने लिखा है कि वे सभी संस्थायें जो राज्य के इच्छा की अभिव्यक्ति करती हैं सम्प्रभुता का प्रयोग कर रही हैं। इन संस्थाओं में विधानमण्डल, न्यायालय, कार्यपालिका अधिकारी, अधिवेशन व निर्वाचक शामिल किये जा सकते हैं। जहाँ अलिखित व लचीला संविधान होता है वहाँ विधानमण्डल निश्चित रूप से सम्प्रभु कहा जा सकता है जैसे ब्रिटेन में सम्राट सहित संसद कानूनी सम्प्रभु है लेकिन उन देशों में जहाँ संविधान लिखित एवं कठोर है उनके सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती है। इसके अलावा जहाँ संघात्मक व्यवस्था का प्रावधान है। वहाँ भी विधि निर्माण की शक्ति केन्द्रीय तथा राज्य विधानमण्डल के बीच विभाजित होती है तथा दोनों की शक्तियाँ एक-दूसरे को नियन्त्रित करती हैं। इसलिए ऐसे राज्यों में विधानमण्डल को सम्प्रभु नहीं कहा जा सकता है। न्यायालयी आदेश भी विधि के रूप में प्रभाव रखते हैं। कार्यपालिका के अधिकारी अध्यादेश की घोषणा द्वारा विधि का निर्माण करते हैं। उदाहरण स्वरूप भारत में राष्ट्रपति को संज्ञ की सूची के विषयों तथा राज्यों के राज्यपालों को राज्य की सूची के विषय पर उस समय अध्यादेश के रूप में विधि की घोषणा करने का अधिकार दिया गया है। जबकि संसद या राज्य विधानमण्डल का अधिवेशन न चल रहा हो और राष्ट्र या राज्य हित में किसी कानून का बनाया जाना आवश्यक हो ये अध्यादेश छः महीने तक विधि के रूप में प्रभाव रखते हैं और यदि उसी अवधि में इन्हे संसद या विधानमण्डल के बहुमत की स्वीकृति प्राप्त हो जाय तो ये स्थायी विधि के रूप में स्थापित हो जाते हैं। निर्वाचक भी जब निर्वाचन या जनमत संग्रह द्वारा किसी विषय पर निर्णय करते हैं तो वे विधि निर्माण में सहायक होते हैं। इस प्रकार इस मत के समर्थको का कहना है कि सम्प्रभु शक्ति राज्य में निहित होती है तथा इसका प्रयोग सरकार द्वारा किया जाता है किन्तु यह धारणा सतोषजनक नहीं है क्योंकि सम्प्रभुता की धारणा की मूल मान्यता यह है कि इसकी इच्छा की अभिव्यक्ति ही विधि है। इसलिए वह विधि द्वारा अमर्यादित है।

इस प्रकार अन्ततः कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण राज्य की आज्ञा में सम्प्रभुता समाहित होती है अर्थात् सम्पूर्ण राज्य ही इसका निवास स्थान है। यदि इस प्रश्न का जबाब इससे आगे ढूँढ़ने का प्रयास किया जाय तो हम पायेंगे कि हम एक ऐसे भूल भुलैया में प्रवेश कर लेंगे जिसमें से बाहर निकलना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य होगा।

6.3 सारांश

सम्प्रभुता राज्य की सर्वोच्च शक्ति होने के साथ-साथ उसके अस्तित्व का आधार भी है। अपने इसी शक्ति के आधार पर वह राज्य के लोगो के लिए कानून का निर्माण तथा उनका पालन सुनिश्चित करती है और उल्लंघन करने वालो को कठोर से कठोर दण्ड देती है। सम्प्रभुता के सम्बन्ध में एक ध्यान देने योग्य तथ्य यह भी है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से यह भले ही निरंकुष, अमर्यादित व अदेय है लेकिन व्यवहार में उस पर अनेक नियन्त्रण व सीमाएं होती हैं। इसके अतिरिक्त यह कुछ संघो के अलग-अलग व्यक्तित्व को भी स्वीकार करती है। वर्तमान युग प्रजातन्त्र व अन्तर्राष्ट्रीयता का युग है जिसमें सम्प्रभुता के उस रूप को स्वीकार नहीं किया जा सकता है जिस रूप में इसके प्राचीन समर्थको बोदां, हॉब्स, हीगल व ऑस्टिन ने स्वीकार किया है।

6.4 शब्दावली

संविधान - राज्य की मूल विधि जो राज्य और सरकार का आधार होती है।

सम्प्रभुता - राज्य को प्राप्त सर्वोच्च शक्ति जिसके कारण वह अपने आन्तरिक तथा बाह्य दोनो मामलों में पूर्णतः स्वतन्त्र होता है।

पोपशाही - जीवन के सभी पहलुओं पर धर्म अर्थात् इसाईयत का प्रभाव स्थापित होना।

सामन्तवाद - ऐसा वर्ग जिसका अधिकांश पूंजी पर स्वामित्व हो।

लौकिक सम्प्रभुता - सम्प्रभुता जनता में निहित होती हैं।

अराजकतावाद - ऐसी विचार परम्परा जो राज्य के अस्तित्व का विरोध करती है।

विधितः - सम्प्रभुता प्रभुसत्ताधारी धारी के शक्ति का वैध आधार है।

वस्तुतः - किसी व्यक्ति या व्यक्ति समूह द्वारा शक्ति का वास्तविक प्रयोग।

6.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1. (ग) विलोबी
2. सत्य है
3. गिलक्राईस्ट
4. (ख) राज्य का

अभ्यास प्रश्न 2

1. रूसो
2. राज्य में
3. (क) राजनैतिक संप्रभुता के

6.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- 1- ओपी0गाबा राजनीति सिद्धान्त का रूपरेखा मयूर पेपर वैक्स , नोयडा
- 2- एडी0 आशिर्वादम तथा कृष्णकान्त मिश्रा , राजनीति विज्ञान, एस0 चन्द्र एण्ड कम्पनी लि0 नयी दिल्ली
- 3- एम0 पी0 जैन , आधुनिक राजनीति के सिद्धान्त , आथर्स गिल्ड पब्लिकेशन दिल्ली
- 4- ए0 अप्पादोराई आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस दिल्ली
- 5- डा0 एन0 डी0 अरोरा एंव ए0 के0 आनन्द, राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त , साहित्य भवन आगरा
- 6- हैराल्ड जोसेफ लास्की , ए0 ग्रामर आफ पालिटिक्स

6.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

- 1- ज्ञान सिंह सन्धु, राजनीतिक सिद्धान्त, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय
- 2- जे0 सी0 जौहरी एंव सीमा जौहरी, आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, स्टर्लिंग पब्लिकेशन प्रा0 लि0 नयी दिल्ली
- 3- वीरकेश्वर प्रसाद, राजनीतिशास्त्र के मूल सिद्धान्त, ज्ञानदा पब्लिकेशन नयी दिल्ली
- 4- डी0डी0 राफेल, राजनीतिक दर्शन की समस्याएं मैकमिलन लन्दन

6.8 निबन्धात्मक प्रश्न

- 1- सम्प्रभुता को परिभाषित करते हुए इसकी प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
- 2- सम्प्रभुता के सिद्धान्त के विकास की व्याख्या प्रस्तुत करें।
- 3- आन्तरिक तथा बाह्य सम्प्रभुता की विस्तृत व्याख्या करें।
- 4- विधितः और वस्तुतः सम्प्रभुता तथा कानूनी और राजनीतिक सम्प्रभुता के मध्य भेद करो।
- 5- सम्प्रभुता सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण करें।
- 6- सम्प्रभुता क्या है ? यह राज्य कहा अवस्थित होती है ?
- 7- 'सम्प्रभुता का विभाजन उसका विनाश करना है।' व्याख्या करें।

इकाई 7 स्वतंत्रता

इकाई संरचना

7.0 प्रस्तावना

7.1 उद्देश्य

7.2 स्वतंत्रता: अर्थ, परिभाषा

7.3 स्वतंत्रता का नकारात्मक दृष्टिकोण

7.4 स्वतंत्रता का सकारात्मक दृष्टिकोण

7.5 स्वतंत्रता पर समकालीन बहस

7.6 स्वतंत्रता के विविध रूप

7.7 सारांश

7.8 शब्दावली

7.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

7.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

7.11 निबंधात्मक प्रश्न

7.0 प्रस्तावना:

स्वतंत्रता, जिसे अक्सर आजादी कहा जाता है, राजनीतिक दर्शन और सामाजिक विमर्श में एक मौलिक अवधारणा है। इसमें व्यक्तिगत स्वायत्तता और बाहरी ताकतों द्वारा जबरदस्ती या उत्पीड़न की अनुपस्थिति का विचार शामिल है। स्वतंत्रता व्यक्तियों को सरकार, समाज या अन्य संस्थाओं के अनुचित हस्तक्षेप के बिना विकल्प चुनने, अपने लक्ष्यों का पीछा करने और अपनी मान्यताओं को व्यक्त करने का अधिकार देती है।

स्वतंत्रता की अवधारणा पूरे इतिहास में लोकतांत्रिक समाजों और मानवाधिकार आंदोलनों की आधारशिला रही है। इसे मानवीय गरिमा और एक न्यायपूर्ण एवं न्यायसंगत समाज की नींव का एक अनिवार्य पहलू माना जाता है। स्वतंत्रता के विभिन्न रूप, जैसे राजनीतिक स्वतंत्रता (सरकार में भाग लेने और निर्णय लेने में अपनी बात रखने का अधिकार), आर्थिक स्वतंत्रता (अत्यधिक नियमों के बिना व्यापार और वाणिज्य में संलग्न होने की स्वतंत्रता), और नागरिक स्वतंत्रता (व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर अनुचित सरकारी हस्तक्षेप के खिलाफ सुरक्षा), मानव अधिकारों और व्यक्तिगत कल्याण की सुरक्षा के लिए केंद्रीय हैं।

7.1 उद्देश्य

1. स्वतंत्रता के अर्थ और परिभाषा को जान पायेंगे।
2. स्वतंत्रता के विविध रूपों को समझ पायेंगे।
3. स्वतंत्रता के दृष्टिकोण सकारात्मक और नकारात्मक स्वतंत्रता को जान पायेंगे।

7.2 स्वतंत्रता: अर्थ, परिभाषा

स्वतंत्रता का अंग्रेजी रूपान्तर 'लिबर्टी' लैटिन भाषा के 'लिबर' शब्द से निकला है जिसका अर्थ होता है 'बन्धनों का अभाव'। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज में रहते हुए मनुष्य असीमित स्वतंत्रता का उपभोग कर ही नहीं सकता। उसे सामाजिक नियमों की मर्यादा के अन्तर्गत रहना होता है। अतः राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत स्वतंत्रता की जिस रूप में कल्पना की जाती है, उस रूप में स्वतंत्रता मानवीय प्रकृति और सामाजिक जीवन के इन दो विरोधी तत्वों (बन्धनों व अभाव और नियमों के पालन) में सामंजस्य का नाम है। और इनकी परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि 'स्वतंत्रता व्यक्ति की अपनी इच्छानुसार कार्य करने की शक्ति का नाम है बशर्ते कि इनसे दूसरे व्यक्ति की इसी प्रकार की स्वतंत्रता में कोई बाधा न पहुँचे।

शीले के अनुसार - "स्वतन्त्रता अति शासन की विरोधी है"

प्रो० लास्की के शब्दों में, "स्वतन्त्रता मेरा अभिप्राय यह है कि उन सामाजिक परिस्थितियों के अस्तित्व पर प्रतिबन्ध न हो, जो आधुनिक सभ्यता में मनुष्य के सुख के लिए नितान्त आवश्यक है।

गैटल ने कहा है, "स्वतन्त्रता का समाज में केवल नकारात्मक स्वरूप ही नहीं है, वरन् सकारात्मक स्वरूप भी है। स्वतन्त्रता के सकारात्मक या वास्तविक स्वरूप की नकारात्मक स्वरूप ही नहीं, वरन् सकारात्मक स्वरूप भी है।" स्वतन्त्रता के सकारात्मक या वास्तविक स्वरूप की नकारात्मक स्वरूप से भिन्नता बताते हुए टी०एस० ग्रीन ने लिखा है कि "जिस प्रकार सौन्दर्य कुरूपता के अभाव का नाम ही नहीं होता, उसी प्रकार स्वतन्त्रता प्रतिबन्धों के अभाव का नाम नहीं है। आगे चलकर ग्रीन ही स्वतन्त्रता के सकारात्मक रूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि "स्वतन्त्रता ऐसे कार्य करने और उपयोग करने की शक्ति का नाम जो करने योग्य या उपभोग के के योग्य हो।"

अतः स्वतन्त्रता की परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि "स्वतन्त्रता जीवन की ऐसी अवस्था का नाम है जिसमें व्यक्ति के जीवन पर न्यूनतम प्रतिबन्ध हों और व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास हेतु अधिकतम सुविधाएं प्राप्त हों।"

7.3 स्वतन्त्रता का नकारात्मक दृष्टिकोण

स्वतन्त्रता की नकारात्मक धारणा का सूत्रपात उन्नीसवीं शताब्दी के उदारवादी दर्शन के साथ हुआ। नकारात्मक स्वतन्त्रता मुख्यतः दो पूर्व मान्यताओं पर आधारित है: (1) हर व्यक्ति बेहतर तरीके से अपना हित जानता है। यह सूत्र इस मान्यता पर टिका है कि वह एक विवेकशील प्राणी है। (2) राज्य की भूमिका बहुत ही सीमित है। व्यक्ति अपना सर्वश्रेष्ठ निर्णायक है और राज्य व्यक्ति के लक्ष्यों और उद्देश्यों के बारे में फैसला नहीं कर सकता।

उदारवादी विचारकों के अनुसार नकारात्मक स्वतन्त्रता बाहरी बाधाओं या हस्तक्षेप की अनुपस्थिति है। दूसरे शब्दों में, किसी व्यक्ति को तब नकारात्मक रूप से मुक्त माना जाता है जब कोई बाहरी बाधाएं, प्रतिबंध या दबाव उसे वह करने से नहीं रोकता जो वह चाहता है। नकारात्मक स्वतन्त्रता गैर-हस्तक्षेप पर जोर देती है, और यह अक्सर सीमित सरकार के विचार और व्यक्तिगत अधिकारों की सुरक्षा से जुड़ी होती है। नकारात्मक स्वतन्त्र के समर्थक प्राकृतिक दशा में विश्वास रखते हैं जिसमें व्यक्ति को असीमित प्राकृतिक स्वतन्त्रता का अधिकार प्राप्त है। लॉक के अनुसार " सामाजिक समझौते के उपरान्त राज्य की उत्पत्ति का उद्देश्य मनुष्यों के प्राकृतिक अधिकारों का संरक्षण करना है।

इस विचार के समर्थक जॉन लॉक, डेविड ह्यूम, आदम स्मिथ, थॉमस पेन, हर्बर्ट स्पेंसर, बेन्थम, जे.एस.मिल थे. 20 वीं शताब्दी में इसयाह बर्लिन, मिल्टन फ्रीडमैन, हेयक, नौजिक आदि रहे हैं।

स्वतंत्रता की धारणा को नकारात्मक स्वतंत्रता और सकारात्मक स्वतंत्रता में वर्गीकरण का श्रेय इसयाह बर्लिन को जाता है। बर्लिन ने 1958 में अपनी प्रसिद्ध एवं विख्यात पुस्तक “Two Concepts on Liberty” प्रकाशित की। उन्होंने 1969 में इस पुस्तक का संशोधन किया और इस पुस्तक को “Four Essays on Liberty” के नाम से प्रकाशित किया।

स्वतंत्रता के नकारात्मक दृष्टिकोण का सबसे अधिक प्रमुख रूप में प्रतिपादन **जे0एस0 मिल** के द्वारा 1859 ई0 में प्रकाशित अपने निबन्ध ‘स्वतन्त्रता’ में किया गया है। मिल का कथन है कि व्यक्ति का उद्देश्य अपने व्यक्तित्व का उच्चतम एवं अधिकतम विकास है और यह विकास केवल स्वतन्त्रता के वातावरण में ही सम्भव है। यदि व्यक्ति को यह स्वाधीनता न दी जाए तो मानव जीवन का मूल लक्ष्य ही विफल हो जाएगा। समाज की उन्नति और विकास के लिए भी व्यक्ति को अधिकतम स्वाधीनता देना आवश्यक है। इस प्रकार मिल के अनुसार, “व्यक्ति के जीवन में राज्य का न्यूनतम हस्तक्षेप और अधिकतम सम्भव सीमा तक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार जीवन व्यतीत करने की छूट ही स्वतन्त्रता है और वह इस अपनाने पर बल देता है”। मिल व्यक्ति-स्वतंत्रता की प्रबलतम समर्थक है।

मिल व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के दो पहलुओं पर बल देता है- विचार स्वतन्त्रता और कार्य स्वतन्त्रता।

मिल के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को विचार और अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए तथा राज्य के द्वारा किसी भी प्रकार की विचारधारा या भावभिव्याप्ति पर बन्धन नहीं लगाया जाना चाहिए।

कार्य स्वतन्त्रता के विषय में, मिल मानव कार्यों को दो भागों में विभाजित करता है - (1) स्व-विषयक (2) पर-विषयक। स्व-विषयक अर्थात् व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित (2) पर-विषयक अर्थात् ऐसे कार्य, जिनका प्रभाव समाज के अन्य व्यक्तियों के जीवन पर पड़ता है।

मिल का कथन है कि स्व-विषयक कार्यों में व्यक्ति को पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त होनी चाहिए, लेकिन पर-विषयक कार्यों में व्यक्ति की स्वतन्त्रता सीमित होती है, विशेषकर जबकि उसके कार्यों से समाज के अन्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता में बाधा पहुंचती हो।

मिल व्यक्ति के जीवन पर ‘न्यूनतम प्रतिबन्धों की स्थिति’ को स्वतन्त्रता का नाम देते हुए स्वतन्त्रता के नकारात्मक दृष्टिकोण का प्रतिपादन करता है। आज की परिस्थितियों में मिल की इस स्वतन्त्रता को वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं कहा जा सकता है।

फ्रेडरिक हेयक नकारात्मक स्वतंत्रता के समर्थक रहे हैं। हेयक के अनुसार कोई भी व्यक्ति तभी स्वतंत्र है जब वह किसी और व्यक्ति की मनमानी इच्छा के दमन के अधीन नहीं है।

7.4 स्वतंत्रता का सकारात्मक दृष्टिकोण

सकारात्मक स्वतंत्रता, स्वयं को नियंत्रित करने और अपने तर्कसंगत हितों के अनुरूप कार्य करने में सक्षम होने का विचार शामिल है। यह बाहरी बाधाओं की अनुपस्थिति से परे है और व्यक्ति की जिम्मेदार विकल्प चुनने और अपने जीवन का स्वामी बनने की क्षमता पर जोर देता है। जबकि नकारात्मक स्वतंत्रता बाहरी हस्तक्षेप से मुक्त होने के बारे में है, सकारात्मक स्वतंत्रता स्व-निर्देशित, सार्थक और तर्कसंगत जीवन जीने के लिए स्वतंत्र होने के बारे में है। नकारात्मक स्वतंत्रता के समर्थक उन विशिष्ट क्षेत्रों की सुरक्षा पर ध्यान केंद्रित करते हैं जहां कोई व्यक्ति स्वतंत्र रूप से कार्य कर सकता है, सकारात्मक स्वतंत्रता के समर्थकों का लक्ष्य अधिक महत्वाकांक्षी है: उनका लक्ष्य स्व-निर्धारित कार्रवाई के दायरे को उसकी पूर्ण सीमा तक विस्तारित करना है। वे दो अलग-अलग दृष्टिकोणों के माध्यम से इस उद्देश्य को आगे बढ़ाते हैं।

सबसे पहले, सकारात्मक स्वतंत्रता के समर्थक आंतरिक प्रतिबंधों को कार्रवाई में बाधा मानते हैं। उदाहरण के लिए, रूसो का मानना था कि इच्छाओं या जुनून के आगे झुकना स्वतंत्रता के विपरीत है। उनके अनुसार, इच्छाएँ अक्सर पर्यावरण और पालन-पोषण जैसे बाहरी कारकों से प्रभावित होती हैं। रूसो के अनुसार, सच्ची स्वतंत्रता सचेतन और तर्कसंगत रूप से उन इच्छाओं को पूरा करने का चयन करने में निहित है जो वास्तव में किसी के स्वयं को प्रतिबिंबित करती हैं, न कि केवल भूख के आगे झुकना। कांत ने एक समान दृष्टिकोण साझा किया, जिसमें कहा गया कि वास्तविक स्वतंत्रता में तर्कसंगत सिद्धांतों के आधार पर इच्छाओं का चयन करना शामिल है जिनका किसी ने समर्थन किया है।

दूसरे, सकारात्मक स्वतंत्रता के समर्थक लोकतांत्रिक निर्णय लेने वाले तंत्र के माध्यम से स्व-निर्धारित कार्रवाई का विस्तार करना चाहते हैं। केवल व्यक्तिगत जीवन पर कानूनों के प्रभाव को कम करने पर ध्यान केंद्रित करने के विपरीत, सकारात्मक स्वतंत्रता लोकतांत्रिक भागीदारी द्वारा परिभाषित स्व-निर्मित कानूनों के तहत रहने पर जोर देती है। रूसो की लोकतंत्र की वकालत इस दृष्टिकोण का उदाहरण देती है, जिसमें कहा गया है कि सच्ची स्वतंत्रता के लिए कार्यों को नियंत्रित करने वाले नियमों को आकार देने में अपनी बात कहने की आवश्यकता होती है। रूसो के लिए, नागरिक स्वतंत्रता में सामूहिक कानून में भाग लेना शामिल है जो सामान्य हित के साथ सरेखित होता है, जिससे व्यक्तियों को अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण रखने की अनुमति मिलती है। वां। ग्रीन ने सकारात्मक स्वतंत्रता का भी समर्थन किया, इसे एक सकारात्मक शक्ति या दूसरों के साथ साझा की गई क्षमता के रूप में

परिभाषित किया, जो व्यक्तियों को कुछ सार्थक करने या आनंद लेने और खुद को सर्वश्रेष्ठ बनाने में सक्षम बनाता है।

दोनों जे.एस. मिल और टी.एच. ग्रीन ने व्यक्तियों को उनकी क्षमता तक पहुंचने में सक्षम बनाने में स्वतंत्रता के मूल्य को पहचाना, फिर भी वे इसकी परिभाषा पर असहमत थे। इससे एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है: व्यक्तिगत स्वतंत्रता क्यों आवश्यक है, और इसके मूल्य पर आम सहमति अलग-अलग व्याख्याओं को क्यों जन्म देती है? स्वतंत्रता को परिभाषित करने में यह विचलन अवधारणा की सूक्ष्म और बहुआयामी प्रकृति को रेखांकित करता है, जो व्यक्तिगत एजेंसी, सामाजिक भागीदारी और एक सार्थक और पूर्ण जीवन की खोज के बीच जटिल परस्पर क्रिया को दर्शाता है।

सकारात्मक स्वतंत्रता की अवधारणा में बुनियादी विचार यह है कि हर व्यक्ति के आत्मभाग के दो भाग होते हैं-उच्चतर आत्म और निम्नतर आत्म। व्यक्ति का उच्चतर आत्म उसका तार्किक आत्म होता है और व्यक्ति के निम्नतर आत्म पर उसका प्रभुत्व होना चाहिए। सकारात्मक स्वतंत्रता का अर्थ सिर्फ यह नहीं है कि किसी तरह की दखलंदाजी न हो बल्कि इसमें यह विचार भी शामिल है कि व्यक्ति अपना मालिक हो और उसके उच्चतर आत्म का निम्नतर आत्म पर प्रभुत्व हो।

इस अवधारणा के समर्थक टी.एच.ग्रीन, बोसांके, हौबहाउस,लिंगसे, बार्कर, लास्की, मैकाइवर आदि थे।

मैक्फर्सन ने अपनी पुस्तक Democratic Theory में सकारात्मक स्वतंत्रता का समर्थन किया है। मैक्फर्सन के अनुसार सकारात्मक स्वतंत्रता मानव के पूर्ण रूप में कार्य करने की स्वतंत्रता है। किसी व्यक्ति की सकारात्मक स्वतंत्रता वास्तव में विकासशील अर्थ में व्यक्ति की शक्ति है। मैक्फर्सन के अनुसार मनुष्य की विकासात्मक शक्ति का अधिकतम विस्तार ही उसकी “सृजनात्मक स्वतंत्रता की कुंजी है”।

स्वतंत्रता की दो प्रचलित धारणाओं की सीमाओं को चुनौती देते हुए, समकालीन स्वतंत्रता सिद्धांतकार स्वतंत्रता के लिए आवश्यक सामाजिक पूर्वापेक्षाओं के निर्माण से जूझ रहे हैं। ये पूर्वापेक्षाएँ भौतिक और कानूनी प्रतिबंधों से कुछ डोमेन की पारंपरिक सुरक्षा के साथ-साथ व्यक्तियों को शिक्षा, आय और स्वास्थ्य देखभाल जैसे संसाधनों के न्यायसंगत प्रावधान से भी आगे जाती हैं। इन पहलुओं के साथ-साथ, दो अतिरिक्त प्रावधानों को स्वतंत्रता के लिए महत्वपूर्ण माना जाता है, हालांकि वे कम सर्वसम्मत सहमति प्राप्त करते हैं।

स्वतंत्रता की तीसरी सामाजिक स्थिति किसी व्यक्ति के समाज के भीतर उसके सांस्कृतिक संदर्भ की मान्यता और मूल्यांकन के इर्द-गिर्द घूमती है। यह सांस्कृतिक पृष्ठभूमि स्वायत्त प्राथमिकताओं के

निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। सांस्कृतिक संदर्भ पर यह जोर सांस्कृतिक अधिकारों की वकालत के महत्व को रेखांकित करता है, जिसका अर्थ है कि यदि किसी समाज के भीतर विविध संस्कृतियों को समान रूप से सम्मान नहीं दिया जाता है तो सच्ची स्वतंत्रता से समझौता किया जाता है। संक्षेप में, यह स्थिति यह तर्क देती है कि विभिन्न संस्कृतियों का असमान मूल्यांकन उस समाज के भीतर व्यक्तियों की समग्र स्वतंत्रता को कम कर देता है।

स्वतंत्रता की चौथी सामाजिक स्थिति सामूहिक स्वतंत्रता की अवधारणा पर केंद्रित है, जो सार्वभौमिक मताधिकार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता जैसी मात्र राजनीतिक स्वतंत्रता से परे फैली हुई है। यह स्थिति उस चिंता को संबोधित करती है जो तब उत्पन्न होती है जब स्वतंत्रता को कुछ व्यक्तियों द्वारा दूसरों पर हावी होने की क्षमता के रूप में देखा जाता है। इस आपत्ति का प्रतिकार करने के लिए, उन तर्कों का पता लगाना आवश्यक हो जाता है जो एक व्यक्ति की स्वतंत्रता और दूसरों की स्वतंत्रता के बीच पारस्परिक संबंध स्थापित करते हैं। दूसरे शब्दों में, सच्ची स्वतंत्रता में यह मान्यता शामिल है कि प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता दूसरों की स्वतंत्रता से जुड़ी हुई है और उस पर निर्भर है।

7.5 स्वतंत्रता पर समकालीन बहस

नकारात्मक और सकारात्मक स्वतंत्रता के आसपास के पारंपरिक विमर्श से आगे बढ़ते हुए, हम इस बात पर गौर करते हैं कि नारीवाद स्वतंत्रता की अवधारणा से कैसे जुड़ रहा है। स्वतंत्रता की धारणा, ऐतिहासिक रूप से, महिलाओं की चेतना में अपनी उत्पत्ति पाती है, विशेष रूप से प्राचीन ग्रीस में स्पष्ट है। ग्रीस में राज्य गठन के शुरुआती चरणों के दौरान, महिलाएं, जो सबसे पहले गुलाम थीं, स्वतंत्रता की एक अलग धारणा रखती थीं। यह धारणा, जिसे "व्यक्तिगत स्वतंत्रता" कहा जाता है, नकारात्मक स्वतंत्रता की आधुनिक अवधारणा से भिन्न थी। यह केवल बाहरी बाधाओं का अभाव नहीं था, जैसा कि नकारात्मक स्वतंत्रता से पता चलता है, बल्कि यह प्रेम, रिश्तेदारों की बहाली और साझा अस्तित्व के साथ जुड़ा हुआ एक दृष्टिकोण था।

स्वतंत्रता की इस वैकल्पिक समझ को पश्चिमी दुनिया में 1960 के दशक के बाद के महिला आंदोलन साहित्य में प्रमुखता मिली। इस परिप्रेक्ष्य पर विशेष रूप से महिला मनोविश्लेषणात्मक विचारकों द्वारा जोर दिया गया, जिन्होंने पता लगाया कि माँ-प्रधान पालन-पोषण का लड़कों और लड़कियों पर अलग-अलग प्रभाव कैसे पड़ता है। माँ के साथ प्रारंभिक संबंध बाहरी दुनिया के प्रति बच्चे की प्रतिक्रियाओं को आकार देता है, और यह प्रक्रिया सहजीवन, अलगाव और व्यक्तिगतकरण के चरणों के माध्यम से सामने आती है। पितृसत्तात्मक समाजों में, लड़के और लड़कियाँ अपनी माताओं की अलग-अलग प्रतिक्रियाओं के कारण इन चरणों को विशिष्ट तरीकों से अनुभव करते हैं।

7.6 स्वतन्त्रता के विविध रूप

फ्रांसीसी विद्वान मॉण्टेस्क्यू ने एक स्थान पर कहा है कि स्वतन्त्रता के अतिरिक्त शायद ही कोई ऐसा शब्द हो जिसके इतने अधिक अर्थ होते हैं और जिसके नागरिकों के मस्तिष्क पर इतना अधिक प्रभाव डाला हो। मॉण्टेस्क्यू के इस कथन का कारण यह है कि राजनीति विज्ञान में स्वतन्त्रता के विविध रूप प्रचलित हैं, जिसमें अग्रलिखित प्रमुख हैं:-

1. प्राकृतिक स्वतन्त्रता:- इस धारणा के अनुसार प्रकृति की देन है और मनुष्य जन्म से ही स्वतन्त्रता होता है। इसी विचार को व्यक्त करते हुए केसो ने लिखा है कि “मनुष्य स्वतन्त्रत उत्पन्न होता है, किन्तु सर्वत्र यह बन्धनों में बंधा हुआ है”।

प्राकृतिक स्वतन्त्रता का आशय मनुष्यों की अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता से है। संविदावादी विचारकों का मत है कि राज्य की उत्पत्ति के पूर्व व्यक्तियों को इसी प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त थी। संयुक्त राज्य अमरका की ‘स्वाधीनता घोषणा’ और फ्रांस की ‘राज्यक्रान्ति’ में इसी प्रकार की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया गया है। प्राकृतिक स्वतन्त्रता की इस धारणा के अनुसार स्वतन्त्रता प्रकृति प्रदत्त और निरपेक्ष होती है अर्थात् समाज या राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता को किसी भी प्रकार से सीमित या प्रतिबन्धित नहीं कर सकता है।

परन्तु प्राकृतिक स्वतन्त्रता की यह धारणा पूर्णतया भ्रमात्मक है। प्राकृतिक स्वतन्त्रता की स्थिति में तो ‘मत्स्य न्याय’ का व्यवहार प्रचलित होगा और परिणामतः समाज में केवल कुछ ही व्यक्ति अस्थायी रूप से स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकेंगे। व्यवहार में प्राकृतिक स्वतन्त्रता का अर्थ है। केवल शक्तिशाली व्यक्तियों की स्वतन्त्रता।

2. व्यक्तिगत स्वतन्त्रता:- इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के उन कार्यों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए, जिनका सम्बन्ध केवल उसके ही अस्तित्व से हो। इस प्रकार के व्यक्तिगत कार्यों में भोजन, वस्त्र धर्म और पारिवारिक जीवन को सम्मिलित किया जा सकता है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के समर्थकों के अनुसार इनसे सम्बन्धित कार्यों में व्यक्तियों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। व्यक्तिवादी और कुछ सीमा तक बहुलवादी विचारकों ने इस स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थन किया है। मिल व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का समर्थन करते हुए ही कहते हैं कि “मानव समाज को केवल आत्मरक्षा के उद्देश्य से ही किसी व्यक्ति की स्वतन्त्रता में व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से हस्तक्षेप करने का अधिकार हो सकता है। अपने ऊपर, अपने शरीर, मस्तिष्क और आत्मा परा व्यक्ति सम्प्रभु हैं।

3. नागरिक स्वतन्त्रता:- नागरिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय व्यक्ति की उन स्वतन्त्रताओं से है जो व्यक्ति या राज्य का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है। नागरिक स्वतन्त्रता का उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति को

समान अवसर और अधिकार प्रदान करना होता है। अतः स्वभाव से ही यह स्वतन्त्रता असीमित या निरंकुश नहीं हो सकती है।

नागरिक स्वतन्त्रता के दो प्रकार होते हैं - (1) शासन के विरोध की स्वतन्त्रता (2) व्यक्ति को व्यक्ति और व्यक्तियों के समुदाय से स्वतन्त्रता। शासन के विरुद्ध व्यक्ति की स्वतन्त्रता लिखित या अलिखित संविधान द्वारा मौलिक अधिकारों के माध्यम से या अन्य किसी प्रकार से स्वीकृत की जाती है। नागरिक स्वतन्त्रता का दूसरा रूप मनुष्य के वे अधिकार हैं जिन्हें वह राज्य के अन्य समुदायों और मनुष्यों के विरुद्ध प्राप्त करता है।

4. राजनीतिक स्वतन्त्रता:- अपने राज्य के कार्यों में स्वतन्त्रतापूर्वक सक्रिय भाग लेने की स्वतन्त्रता को राजनीतिक स्वतन्त्रता कहा जाता है। लास्की के अनुसार, “राज्य के कार्यों में सक्रिय भाग लेने की शक्ति ही राजनीतिक स्वतन्त्रता है”।

राजनीतिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत व्यक्ति को ये अधिकार प्राप्त होते हैं -

- (1) मतदान देने का अधिकार
- (2) निर्वाचित होने का अधिकार
- (3) उचित योग्यता होने पर सार्वजनिक पद प्राप्त करने का अधिकार और
- (4) सरकार के कार्यों की आलोचना का अधिकार। इन अधिकारों से यह स्पष्ट है कि राजनीतिक स्वतन्त्रता केवल एक प्रजातन्त्रात्मक देश में ही प्राप्त की जा सकती है।

5. आर्थिक स्वतन्त्रता:- वर्तमान समय में आर्थिक स्वतन्त्रता का तात्पर्य व्यक्ति की ऐसी स्थिति से जिसमें व्यक्ति अपने आर्थिक प्रयत्नों का लाभ स्वयं प्राप्त करने की स्थिति में हो तथा किसी प्रकार उसके श्रम का दूसरे के द्वारा शोषण न किया जा सके। लास्की के अनुसार, “आर्थिक स्वतन्त्रता की अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जीविका कमाने की समुचित सुरक्षा तथा सुविधा प्राप्त हो। व्यक्ति को बेरोजगारी और अपर्याप्ता के निरन्तर भय से मुक्त रखा जाना चाहिए जो कि अन्य किसी भी अपर्याप्ता की अपेक्षा व्यक्तित्व की समस्त शक्ति को बहुत अधिक आघात पहुंचाती है। व्यक्ति को कल को आवश्यकताओं से मुक्त रखा जाना चाहिए।”

6. नैतिक स्वतन्त्रता:- व्यक्ति को अन्य प्रकार की सभी स्वतन्त्रताएं प्राप्त होने पर भी यदि वह नैतिक दृष्टि से परतंत्र हो, तो उसे स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता। नैतिक स्वतन्त्रता ही वास्तविक स्वतन्त्रता एवं

महान स्वतन्त्रता है। नैतिक स्वतन्त्रता का अर्थ व्यक्ति की उस मानसिक स्थिति से है जिसमें वह अनुचित लोभ-लालच के बिना अपना सामाजिक जीवन व्यतीत करने की योग्यता रखता हो।

काम्टे के विचार में व्यक्ति की विवेकपूर्ण इच्छा शक्ति ही उसकी वास्तविक स्वतन्त्रता है।

अभ्यास प्रश्न

1. स्वतंत्रता की कौन सी अवधारणा किसी व्यक्ति के कार्यों में बाहरी हस्तक्षेप या बाधाओं की अनुपस्थिति पर जोर देती है?
 (अ) नकारात्मक स्वतंत्रता (ब) सकारात्मक स्वतंत्रता (स) सामाजिक स्वतंत्रता
 (द) आर्थिक स्वतंत्रता
2. बाहरी बाधाओं की अनुपस्थिति से परे, सकारात्मक स्वतंत्रता किस पर ध्यान केंद्रित करती है?
 (अ) उत्पीड़न से मुक्ति (ब) आत्मनिर्णय और अपनी क्षमता को प्राप्त करना
 (स) आर्थिक समृद्धि (द) व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा करना
3. नकारात्मक और सकारात्मक स्वतंत्रता के बीच संतुलन हासिल करने में मुख्य चुनौती क्या है?
 (अ) सामाजिक मानदंडों को संबोधित करना
 (ब) व्यक्तिगत स्वतंत्रता के साथ आर्थिक समृद्धि को संतुलित करना
 (स) आत्म-नियंत्रण के लिए आंतरिक बाधाओं पर काबू पाना
 (द) जीवन के सभी क्षेत्रों में सरकारी हस्तक्षेप को प्रोत्साहित करना

7.7 सारांश

स्वतंत्रता की अवधारणा मानव अधिकारों और राजनीतिक दर्शन की आधारशिला है, जो व्यक्तिगत स्वायत्तता और दमनकारी बाधाओं से मुक्ति की मौलिक आकांक्षा को दर्शाती है। इसमें नकारात्मक स्वतंत्रता शामिल है, जिसमें बाहरी हस्तक्षेप की अनुपस्थिति और सकारात्मक स्वतंत्रता शामिल है, जिसमें आत्मनिर्णय करने और किसी की वास्तविक क्षमता का पीछा करने की क्षमता शामिल है। स्वतंत्रता की बहुमुखी प्रकृति के कारण व्यक्तिगत अधिकारों की सुरक्षा और आम भलाई को बढ़ावा देने के बीच एक नाजुक संतुलन की आवश्यकता होती है। इस संतुलन को बनाए रखना समाजों के

लिए एक जटिल और निरंतर चुनौती बनी हुई है, क्योंकि वे नकारात्मक स्वतंत्रता की रक्षा करने और सकारात्मक स्वतंत्रता के लिए संसाधनों और अवसरों के साथ व्यक्तियों को सशक्त बनाने के बीच नेविगेट करते हैं।

स्वतंत्रता की अवधारणा राजनीतिक विचारधाराओं को आकार देती है, शासन सिद्धांतों का मार्गदर्शन करती है और दुनिया भर में न्याय और समानता के लिए आंदोलनों को प्रेरित करती है। जैसे-जैसे हम अपने बदलते सामाजिक परिदृश्य में स्वतंत्रता की खोज और व्याख्या करते हैं, विचारशील संवाद, सहानुभूति और एक ऐसे समाज को बढ़ावा देने की प्रतिबद्धता में शामिल होना आवश्यक है जहां सभी व्यक्ति आत्म-शासित और स्वतंत्र प्राणी के रूप में अपनी पूरी क्षमता का एहसास कर सकें।

7.8 शब्दावली

स्वायत्तता- स्वशासन और निर्णय लेने में स्वतंत्रता,

स्वतंत्र इच्छा- बाहरी दबाव के बिना चुनाव करने की क्षमता,

स्वतंत्रता- दबाव या प्रतिबंध से मुक्त होने की अवस्था।

7.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. अ 2. ब 3. स

7.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. राजनीतिक सिद्धांत अवधारणाएँ एवं विमर्श- संपादक बलवान गौतम, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय
2. जैन, पुखराज- राजनीति विज्ञान, एस0बी0पी0जी0 पब्लिकेशन, आगरा
3. सिंहल, एस0सी0- राजनीतिक सिद्धान्त, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा
4. आर्शीवादम, ए0डी0 तथा मिश्र, कृष्णकान्त- राजनीति विज्ञान, एस0 चॉद कम्पनी लि0, नई दिल्ली
5. गाबा, ओमप्रकाश- राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा, मयूर पेपर बैक्स, नोयडा
6. जौहरी, जे0सी0 एवं सीमा- आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, स्टर्लिंग पब्लिकेशन प्रा0 लि0, नई दिल्ली
7. वर्मा, एस0पी0- मार्डन पालिटिकल थ्योरी, विकास प्रकाशन, नई दिल्ली
8. दास, पी0जी0- मार्डन पालिटिकल थ्योरी, न्यू सेंटरल बुक एजेंसी, कलकत्ता

7.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

9. जैन, एम0पी0- पालिटिकल थ्योरी, आर्थस गिल्ड पब्लिकेशन, दिल्ली
10. संधु, ज्ञान सिंह- राजनीतिक सिद्धान्त, दिल्ली विश्वविद्यालय
11. वर्मा, एस0एल0-एडवांसड मॉडर्न पालिटिकल थ्योरी, नेशनल पब्लिकेशन हाउस, नई दिल्ली

7.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. स्वतंत्रता का अर्थ बताते हुए इसके विविध रूपों की विवेचना कीजिये।
2. स्वतंत्रता को परिभाषित करते हुए सकारात्मक और नकारात्मक स्वतंत्रता की चर्चा कीजिये।

इकाई 8 समानता

इकाई संरचना

8.0 प्रस्तावना

8.1 उद्देश्य

8.2 समानता के बुनियादी सिद्धांत

8.3 समानता के अर्थ के सम्बन्ध में इसके दो पहलू

8.8.1 समानता का नकारात्मक पहलू

8.8.2 समानता का सकारात्मक पहलू

8.4 समानता के विभिन्न प्रकार

8.4.1 औपचारिक समानता

8.4.2 अवसर की समानता

8.4.3 परिणामों की समानता

8.5 समानता और नारीवाद

8.6 स्वतंत्रता और समानता में सम्बन्ध

8.7 सारांश

8.8 शब्दावली

8.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

8.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

8.11 सहायक उपयोगी सामग्री

8.12 निबंधात्मक प्रश्न

8.0 प्रस्तावना

समानता एक मौलिक और सार्वभौमिक अवधारणा है जो मानव अधिकारों, सामाजिक न्याय और नैतिक सिद्धांतों के केंद्र में स्थित है। यह सभी व्यक्तियों के साथ उनकी जाति, लिंग, धर्म, सामाजिक आर्थिक स्थिति या किसी अन्य विशेषता की परवाह किए बिना निष्पक्षता के साथ व्यवहार करने के विचार का प्रतीक है। समानता की अवधारणा एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहती है जहां सभी को समान अवसर, अधिकार और संसाधनों तक पहुंच प्राप्त हो, जिससे प्रत्येक व्यक्ति को अपनी पूरी क्षमता तक पहुंचने और सम्मानजनक जीवन जीने की अनुमति मिले।

समानता की अवधारणा आधुनिक राजनीतिक विमर्श और विचार में एक केंद्रीय केंद्र बिंदु के रूप में उभरी है, जो जन्म के आधार पर सामाजिक पदानुक्रम की ऐतिहासिक स्वीकृति से एक महत्वपूर्ण प्रस्थान का प्रतीक है। अतीत में, प्राकृतिक पदानुक्रम की धारणाएँ प्रचलित थीं, लेकिन समकालीन राजनीतिक सोच मूल रूप से सभी मनुष्यों की अंतर्निहित समानता में मूलभूत विश्वास पर टिकी हुई है। इस बदलाव को 1789 में फ्रांसीसी क्रांति और अमेरिकी गृहयुद्ध जैसी महत्वपूर्ण घटनाओं के माध्यम से प्रमुखता से प्रदर्शित किया गया, जिसने लोकतंत्र, समानता और स्वतंत्रता के सिद्धांतों को रेखांकित किया। फ्रांसीसी क्रांति ने मध्ययुगीन पदानुक्रम को चुनौती दी, जबकि अमेरिकी गृहयुद्ध ने नस्लीय असमानताओं पर प्रकाश डाला। फिर भी, समानता के विचार को अपना बाधाओं से रहित नहीं था।

20वीं सदी की शुरुआत में, आर.एच. टावनी ने ब्रिटिश समाज में प्रचलित "असमानता के धर्म" के बारे में चिंता व्यक्त की। उन्होंने न केवल असमानताओं के अस्तित्व पर बल्कि ऐसी असमानताओं के खतरनाक सामान्यीकरण पर भी अफसोस जताया। हालाँकि, समय के साथ, समानता की धारणा को व्यापक स्वीकृति मिली, जो द्वितीय विश्व युद्ध के बाद हुए परिवर्तनों से उत्प्रेरित हुई और उपनिवेशवाद और महिला आंदोलन से प्रेरित हुई। आज, समानता मानव समाज की संरचना के लिए आधारशिला के रूप में खड़ी है, फिर भी विवादास्पद बहस इसके दायरे और अनुप्रयोग के इर्द-गिर्द घूमती है। विशेष रूप से विवादास्पद धन और आय वितरण में समानता का अनुप्रयोग है, जिसमें समता-विरोधी विचार पुनरुत्थान का अनुभव कर रहे हैं। इसे राजनीतिक अर्थव्यवस्था की एक धारा द्वारा बढ़ावा दिया गया है, जिसमें कहा गया है कि समतावादी उपाय बाजार की दक्षता में बाधा डालते हैं और अंततः सभी के लिए नकारात्मक परिणाम पैदा करते हैं।

8.1 उद्देश्य

इस इकाई के माध्यम से आप जान पाएंगे:

1. समानता के विभिन्न प्रकारों को जान पायेंगे।
2. समानता के बुनियादी सिद्धांतों को जान पायेंगे।
3. समानता और स्वतंत्रता के मध्य सम्बन्ध को जान पायेंगे।

8.2 समानता के कुछ बुनियादी सिद्धांत

समतावादी समानता पर एक सूक्ष्म दृष्टिकोण रखते हैं जो हर किसी के समान होने या समान बनने की धारणा से परे है। यह केवल गणितीय अवधारणा नहीं है, और कई मूल सिद्धांत समतावादी रुख को रेखांकित करते हैं। आइए इनमें से कुछ मूलभूत सिद्धांतों पर गौर करें:

बुनियादी जरूरतें और जीवन स्तर: समतावादी इस बात पर जोर देते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी बुनियादी जरूरतों को पूरा करने का मौलिक अधिकार है। वे जीवन स्तर में महत्वपूर्ण असमानताओं से चिह्नित समाज को अस्वीकार करते हैं, इसके बजाय एक ऐसी सामाजिक संरचना की वकालत करते हैं जहां रहने की स्थिति न केवल न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करती है बल्कि सभी के लिए एक पूर्ण और संतोषजनक जीवन में भी योगदान देती है।

समान सम्मान और गरिमा: समतावादी दृष्टिकोण का केंद्र समान सम्मान का सिद्धांत है। समतावादी किसी भी प्रकार के अपमानजनक व्यवहार या मानवीय गरिमा को कमजोर करने वाली परिस्थितियों का विरोध करते हैं। वे जिस आदर्श समाज की कल्पना करते हैं वह आपसी सहानुभूति और समझ में निहित है, जो साझा मानवता के माहौल को बढ़ावा देता है।

आर्थिक समानता: समतावादी न केवल व्यक्तिगत स्तर पर बल्कि राष्ट्रों के बीच भी विशाल आय और धन असमानताओं के आलोचक हैं। वे एक ऐसी प्रणाली की वकालत करते हैं जो संसाधनों का अधिक न्यायसंगत वितरण सुनिश्चित करे। इसमें आर्थिक संस्थानों और कार्यस्थलों पर लोकतांत्रिक नियंत्रण, सभी के लिए सुलभ गरिमापूर्ण और सार्थक कार्य अवसरों को बढ़ावा देना शामिल हो सकता है।

राजनीतिक समानता: वोट देने या पद के लिए चुनाव लड़ने के मूल अधिकार से परे, समतावादियों के अनुसार, राजनीतिक समानता में नागरिक अधिकारों और सक्रिय लोकतांत्रिक भागीदारी की एक विस्तृत श्रृंखला शामिल है। समतावादी आदर्शों का उद्देश्य व्यक्तियों को अपने जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रभाव डालने, नियंत्रण और एजेंसी की अधिक महत्वपूर्ण भावना को बढ़ावा देने के लिए सशक्त बनाना है।

सामाजिक समानता: समतावाद का विस्तार लिंग, जाति, जातीयता और धर्म जैसे कारकों के आधार पर सामाजिक असमानताओं को संबोधित करने तक है। समतावादी भेदभाव को खत्म करने और इन आयामों में निष्पक्षता और समावेशिता को बढ़ावा देने का प्रयास करते हैं।

यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि हालांकि ये सिद्धांत समानता के प्रमुख पहलुओं को शामिल करते हैं, लेकिन ये संपूर्ण नहीं हैं। समतावाद की ताकत असमानता और अन्याय के उभरते रूपों को संबोधित करने के लिए चल रहे सुधार और अनुकूलन की क्षमता में निहित है। मूल सिद्धांत मार्गदर्शक रोशनी के रूप में कार्य करते हैं, एक ऐसे समाज की दृष्टि को आकार देने में मदद करते हैं जहां व्यक्तियों को महत्व दिया जाता है, सम्मान दिया जाता है, और समान स्तर पर पूर्ण जीवन जीने में सक्षम किया जाता है।

8.8 समानता के अर्थ के सम्बन्ध में इसके दो पहलू

8.1 समानता का नकारात्मक पहलू:

नकारात्मक समानता, जिसे अक्सर औपचारिक समानता कहा जाता है, कानून के तहत समान व्यवहार सुनिश्चित करने और कुछ विशेषताओं के आधार पर भेदभाव की अनुपस्थिति पर केंद्रित है। यह अवधारणा इस बात पर जोर देती है कि व्यक्तियों के साथ उनके मतभेदों की परवाह किए बिना निष्पक्ष और बिना पक्षपात के व्यवहार किया जाना चाहिए। यहाँ नकारात्मक समानता के प्रमुख पहलू हैं:

समान अधिकार और सुरक्षा: नकारात्मक समानता यह सुनिश्चित करती है कि सभी व्यक्तियों को समान कानूनी अधिकार, सुरक्षा और अवसर प्राप्त हों। यह गारंटी देता है कि जाति, लिंग, धर्म या सामाजिक स्थिति जैसे कारकों के आधार पर किसी के साथ अनुचित व्यवहार या भेदभाव नहीं किया जाएगा।

सार्वभौमिक अनुप्रयोग: नकारात्मक समानता का सिद्धांत सार्वभौमिक रूप से सभी व्यक्तियों पर लागू होता है, चाहे उनकी पृष्ठभूमि कुछ भी हो। इसका उद्देश्य एक समान अवसर स्थापित करना है जहां हर कोई समान नियमों और मानकों के अधीन हो।

कानूनी ढाँचा: नकारात्मक समानता अक्सर कानूनों, संविधानों और भेदभाव-विरोधी कानूनों में निहित होती है। यह भेदभावपूर्ण प्रथाओं को चुनौती देने और कानूनी रास्तों के माध्यम से उपचार खोजने के लिए एक आधार प्रदान करता है।

समान अवसर: समान व्यवहार पर ध्यान केंद्रित करने का उद्देश्य व्यक्तियों को अपने लक्ष्यों और आकांक्षाओं को आगे बढ़ाने के लिए समान अवसर प्रदान करना है। यह योग्यता और इस विचार को बढ़ावा देता है कि सफलता व्यक्तिगत प्रयास और क्षमताओं पर आधारित होनी चाहिए।

8.2 समानता का सकारात्मक पहलू:

सकारात्मक समानता, जिसे वास्तविक या भौतिक समानता के रूप में भी जाना जाता है, औपचारिक समानता से परे जाती है और अंतर्निहित संरचनात्मक और प्रणालीगत कारकों को संबोधित करने पर ध्यान केंद्रित करती है जो असमानताओं में योगदान करते हैं। इसका उद्देश्य ऐसी स्थितियाँ बनाना है जहाँ सभी को आवश्यक संसाधनों, अवसरों और कल्याण तक समान पहुंच प्राप्त हो। यहाँ सकारात्मक समानता के प्रमुख पहलू हैं:

संसाधनों का पुनर्वितरण: सकारात्मक समानता असमानताओं को कम करने के लिए संसाधनों और अवसरों के पुनर्वितरण की वकालत करती है। इसमें प्रगतिशील कराधान, सामाजिक कल्याण कार्यक्रम और हाशिए पर रहने वाले समूहों के उत्थान के लिए सकारात्मक कार्रवाई पहल शामिल हो सकती है।

न्यायसंगत परिणाम: सकारात्मक समानता का लक्ष्य न्यायसंगत परिणाम प्राप्त करना है, न कि केवल समान व्यवहार। इसका उद्देश्य यह सुनिश्चित करके विशेषाधिकार प्राप्त और वंचितों के बीच अंतर को कम करना है कि हर किसी को सम्मानजनक और पूर्ण जीवन जीने का उचित मौका मिले।

संरचनात्मक अन्याय को संबोधित करना: सकारात्मक समानता उन ऐतिहासिक अन्यायों और प्रणालीगत बाधाओं को दूर करने का प्रयास करती है जिन्होंने असमानता में योगदान दिया है। यह स्वीकार करता है कि कुछ समूह वंचित स्थिति से शुरू कर सकते हैं और सच्ची समानता प्राप्त करने के लिए अतिरिक्त समर्थन की आवश्यकता है।

सामाजिक समावेशन: कानूनी अधिकारों से परे, सकारात्मक समानता सामाजिक समावेशन और भागीदारी पर केंद्रित है। इसका उद्देश्य एक ऐसे समाज का निर्माण करना है जहाँ हर कोई मूल्यवान महसूस करे और उनके जीवन को प्रभावित करने वाले निर्णयों को आकार देने में उनकी आवाज हो।

समग्र दृष्टिकोण: सकारात्मक समानता शिक्षा, स्वास्थ्य देखभाल, आवास और आर्थिक अवसरों जैसे कारकों पर विचार करते हुए कल्याण के लिए एक समग्र दृष्टिकोण अपनाती है। यह मानता है कि सच्ची समानता के लिए जीवन के कई आयामों को संबोधित करने की आवश्यकता है।

संक्षेप में, नकारात्मक समानता कानून के तहत समान व्यवहार और भेदभाव की अनुपस्थिति पर जोर देती है, जबकि सकारात्मक समानता संसाधन पुनर्वितरण के माध्यम से संरचनात्मक असमानताओं को संबोधित करने और न्यायसंगत परिणाम बनाने पर केंद्रित है। न्यायसंगत और निष्पक्ष समाज की खोज में दोनों पहलू महत्वपूर्ण हैं, और वे व्यापक समानता प्राप्त करने के प्रयासों में एक-दूसरे के पूरक हो सकते हैं।

8.4 समानता के विभिन्न प्रकार

8.4.1 औपचारिक समानता

जॉन लॉक, एक प्रमुख अंग्रेजी दार्शनिक, ने पुरुषों की प्राकृतिक समानता में निहित समानता की अवधारणा की दृढ़ता से वकालत की, हालांकि महिलाओं को उनके ढांचे से विशेष रूप से बाहर रखा गया। इमैनुएल कांट ने साझा मानवता के परिणामस्वरूप सार्वभौमिकता और समानता पर जोर देकर इस परिप्रेक्ष्य को और मजबूत किया। इसने औपचारिक समानता की अवधारणा को जन्म दिया, जिसमें कहा गया कि सभी व्यक्तियों के साथ उनकी सामान्य मानवीय स्थिति के आधार पर समान व्यवहार किया जाना चाहिए।

औपचारिक समानता की एक महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति कानूनी समानता के सिद्धांत में निहित है, जो यह निर्देश देती है कि कानून को सभी व्यक्तियों के साथ जाति, नस्ल, लिंग, धर्म या सामाजिक पृष्ठभूमि जैसे कारकों के आधार पर भेदभाव किए बिना व्यवहार करना चाहिए। हालांकि यह सिद्धांत नस्ल, लिंग और सामाजिक स्थिति में निहित विशेषाधिकारों को चुनौती देने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम का प्रतिनिधित्व करता है, लेकिन इसकी सीमाएँ हैं। यह इस तथ्य की उपेक्षा करता है कि कुछ व्यक्तियों को जाति, लिंग या सामाजिक पृष्ठभूमि के कारण भारी बाधाओं का सामना करना पड़ सकता है, जिससे उनके लिए कानून द्वारा घोषित औपचारिक समानता से पूरी तरह से लाभ उठाना असंभव हो जाता है।

मार्क्स ने इस अपर्याप्तता को पहचानते हुए अपने निबंध 'यहूदी प्रश्न पर' में इस मुद्दे पर गहराई से विचार किया। उन्होंने तर्क दिया कि यद्यपि औपचारिक समानता प्रगति को चिह्नित करती है, लेकिन यह वास्तव में मानव मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकती है। बाजार की गतिशीलता कुछ सामाजिक बाधाओं को खत्म कर सकती है, लेकिन साथ ही उन्होंने निजी संपत्ति के अस्तित्व द्वारा समर्थित वर्ग-आधारित असमानताएँ भी पैदा की हैं। मार्क्सवादियों ने समानता के इस रूप को "बाजार समानता" का नाम दिया है, यह दावा करते हुए कि यह केवल समाज की गहरी असमान संरचना को छुपाता है।

समकालीन समय में, समतावादी विचार इस धारणा से परे विकसित हुआ है कि सभी मनुष्य स्वाभाविक रूप से समान हैं और इसलिए उनके पास समान अधिकार होने चाहिए। समझ "समानता" शब्द के अधिक निर्देशात्मक उपयोग की ओर स्थानांतरित हो गई है। समतावादी आज उन नीतियों का समर्थन करते हैं जो केवल व्यक्तियों की वर्णनात्मक विशेषताओं पर भरोसा किए बिना समानता के आदर्श को बढ़ावा देते हैं, यह मानते हुए कि कई महत्वपूर्ण पहलुओं में मनुष्यों के बीच पर्याप्त अंतर मौजूद हैं।

8.4.2 अवसर की समानता

अवसर की समानता एक अवधारणा है जो व्यक्तिगत आत्म-विकास में बाधा डालने वाली बाधाओं को हटाने में निहित है। इसमें यह सुनिश्चित करना शामिल है कि व्यक्तियों को स्थिति, पारिवारिक या सामाजिक पृष्ठभूमि जैसे कारकों के बजाय अपनी प्रतिभा और क्षमताओं के आधार पर करियर बनाने का मौका मिले। मुख्य विचार एक समान अवसर स्थापित करना है, विशेषकर जीवन के शुरुआती बिंदु पर। हालाँकि, अवसर की समानता के निहितार्थ जटिल हो सकते हैं। इसका उद्देश्य प्रतिस्पर्धा करने के लिए समान अवसर प्रदान करना है, लेकिन यह जरूरी नहीं कि समग्र समानता की ओर ले जाए। असमान परिणामों को स्वीकार्य माना जाता है क्योंकि उनका श्रेय अलग-अलग प्राकृतिक प्रतिभाओं, कड़ी मेहनत या भाग्य को दिया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह निर्माण योग्यता आधारित आदर्श द्वारा छिपी एक पदानुक्रमित प्रणाली का समर्थन करता है।

प्रकृति और परंपरा के बीच का अंतर, जिस पर यह अवधारणा आधारित है, हमेशा स्पष्ट नहीं होती है। अवसर की समानता के संस्थागतकरण में करियर को प्रतिभा के लिए खुला रखना और सकारात्मक भेदभाव लागू करना जैसे उपाय शामिल हैं। ये उपाय उचित प्रतिस्पर्धा के परिणामस्वरूप होने वाले असमान परिणामों को वैध बनाते हैं।

हालाँकि, अवसर पर यह जोर व्यक्तियों को समुदाय की भावना से अलग कर सकता है, प्रतिस्पर्धी मानसिकता को बढ़ावा दे सकता है। इसके अलावा, यह पीढ़ियों के बीच असमानताओं को कायम रख सकता है, जिससे सफलता और विफलता के बीच कृत्रिम अलगाव हो सकता है।

समतावादी अवसर की समानता को अस्वीकार नहीं करते हैं, लेकिन वे व्यापक समझ की वकालत करते हैं। वे हर किसी को सार्थक और संतोषजनक तरीके से अपनी क्षमताओं को विकसित करने के साधन प्रदान करना चाहते हैं। केवल प्रक्रियाओं पर ध्यान केंद्रित करने के बजाय, उनके लिए अवसर की वास्तविक समानता का अर्थ ऐसी सामाजिक परिस्थितियाँ बनाना है जो सभी व्यक्तियों को पूर्ण जीवन जीने में सक्षम बनाती हैं। लक्ष्य यह सुनिश्चित करना नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति एक सार्थक जीवन

प्राप्त करे, बल्कि एक ऐसा ढाँचा स्थापित करना है जहाँ ऐसे जीवन का अवसर सभी के लिए सुलभ हो।

8.4.3 परिणामों की समानता

समानता की अवधारणा पर एक और दृष्टिकोण परिणामों की समानता पर केंद्रित है, जो जीवन के शुरुआती बिंदु से अंतिम परिणाम पर ध्यान केंद्रित करता है। उल्लेखनीय रूप से, मार्क्स जैसे लोगों ने तर्क दिया कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था द्वारा बाधित समानता की कोई भी धारणा स्वाभाविक रूप से सीमित है। मार्क्स ने पूर्ण सामाजिक समानता की वकालत की, एक ऐसी दृष्टि जिसे केवल निजी संपत्ति के उन्मूलन के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। परिणामों की समानता के समर्थकों का तर्क है कि जब तक समान परिणामों का आश्वासन नहीं होता, समानता के अन्य रूपों की गारंटी अपर्याप्त रहती है।

परिणामों की समानता के विरोधियों का दावा है कि इसके अनुसरण से गतिरोध, अन्याय और यहाँ तक कि अत्याचार भी हो सकता है। उदाहरण के लिए, हेयक का मानना है कि चूंकि व्यक्तियों की अलग-अलग आकांक्षाएं और लक्ष्य होते हैं, इसलिए उनके साथ समान व्यवहार करने से असमानता हो सकती है। आलोचकों का तर्क है कि समानता की मुहिम व्यक्तिगत स्वतंत्रता की कीमत पर आ सकती है। उनका तर्क है कि समाजवादी समतावादी उपायों का कार्यान्वयन व्यक्तिगत गरिमा और आत्म-सम्मान को कमजोर करता है, और इसके साथ जुड़ा पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण व्यक्तियों को तर्कसंगत विकल्प बनाने की क्षमता से वंचित करता है।

8.5 समानता और नारीवाद

नारीवादी समानता के मुद्दे को लैंगिक दृष्टिकोण से देखते हैं। इस संदर्भ में एक प्रभावशाली कृति सुजैन ओकिन की पुस्तक "जस्टिस, जेंडर एंड द फैमिली" (1980) है। विभिन्न क्षेत्रों में समानता के सिद्धांतों का विस्तार करके समान अवसर या पुनर्वितरणात्मक न्याय को बढ़ावा देने वाले कानून वास्तव में समानता स्थापित नहीं कर सकते हैं। ऐसा इसलिए है क्योंकि ये नियम और सिद्धांत ऐसे माहौल में काम करते हैं जो पहले से ही लैंगिक असमानता, सामाजिक मानदंडों द्वारा कायम असमानता से दूषित है। इनमें से कई मानदंड महिलाओं के खिलाफ खुले तौर पर भेदभाव नहीं कर सकते हैं, लेकिन उनका संचयी प्रभाव असमानता को सुदृढ़ और वैध बनाना है। नतीजतन, भले ही कानून स्पष्ट रूप से लिंग के बीच अंतर नहीं करता है, फिर भी महिलाएं अक्सर खुद को विशिष्ट व्यवसायों तक ही सीमित पाती हैं। करियर बनाने वाली विवाहित महिलाओं को लैंगिक पूर्वाग्रहों से प्रभावित समाज में विशेष नुकसान का सामना करना पड़ सकता है।

नारीवादी विश्लेषण इस बात पर जोर देता है कि महिलाओं द्वारा सामना की जाने वाली वास्तविक असमानता, जैसे कि पारिवारिक निर्णय लेने में उनका सीमित प्रभाव, बच्चों की देखभाल के लिए उनकी जिम्मेदारी, और बाद में कार्यबल में कम भागीदारी, प्राकृतिक या सहज विकल्पों से नहीं, बल्कि सामाजिक रूप से निर्मित भूमिकाओं से उत्पन्न होती है।

फिर भी, यह एक जटिल मामला है, और नारीवादी लिंग भेद को खत्म करने के लिए, विशेष रूप से पारिवारिक मामलों में, राज्य को शामिल करने में संकोच कर सकते हैं। हालांकि सामाजिक प्रथाओं और निर्मित भूमिकाओं में लैंगिक असमानता को पहचानना और जिम्मेदार ठहराना अपेक्षाकृत सरल है, लेकिन प्रभावी उपायों को लागू करना चुनौतीपूर्ण है। लैंगिक समानता की दिशा में सार्थक प्रगति इस बात पर निर्भर करती है कि महिलाएं स्वयं अपनी असमान स्थिति और अपनी अधीनस्थ पारिवारिक भूमिकाओं के प्रति जागरूक हों। जब महिलाएं इन सामाजिक संरचनाओं को नया आकार देने में सक्रिय रूप से भाग लेती हैं तभी लैंगिक समानता हासिल करने में महत्वपूर्ण प्रगति हासिल की जा सकती है।

8.6 स्वतन्त्रता और समानता में सम्बन्ध

स्वतंत्रता और समानता के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय पर राजनीतिशास्त्रियों में पर्याप्त मतभेद है। उनके अनुसार स्वतन्त्रता अपनी इच्छानुसार कार्य करने की शक्ति का नाम है जबकि समानता का तात्पर्य प्रत्येक प्रकार के सभी व्यक्तियों को समान समझने से है। इन व्यक्तियों का विचार है कि यदि सभी व्यक्तियों को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जाती है तो जीवन के परिणाम नितान्त असमान होंगे और शक्ति के आधार पर सभी व्यक्तियों को समान कर दिया जाए तो यह समानता व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को नष्ट कर देगी।

राजनीतिक विज्ञान में स्वतन्त्रता और समानता का जो तात्पर्य लिया जाता है, उस अर्थ में स्वतन्त्रता और परस्पर विरोधी नहीं वरन् पूरक है। स्वतन्त्रता की ठीक परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि "स्वतन्त्रता जीवन की ऐसी व्यवस्था का नाम है जिसमें व्यक्ति के जीवन पर न्यूनतम प्रतिबंध हों, विशेषाधिकार का नितान्त अभाव हो और व्यक्तियों को अपने व्यक्तित्व के विकास हेतु अधिकतम सुविधाएं प्राप्त हो।" इसी प्रकार समानता की सही रूप में परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि "समानता का तात्पर्य ऐसी परिस्थितियों के अस्तित्व से होता है जिनके अन्तर्गत सभी व्यक्तियों को व्यक्तित्व के विकास हेतु समान अवसर प्राप्त हो और इस प्रकार उस असमानता का अन्त हो सके जिसका मूल सामाजिक वैषम्य है।"

स्वतंत्रता और समानता की इन परिभाषा के अनुसार स्वतन्त्रता और समानता दोनों का ही उद्देश्य मानवीय व्यक्तित्व का उच्चतम विकास है और इस प्रकार स्वतन्त्रता और समानता एकदूसरे के सहायक और पूरक हैं, परस्पर विरोधी नहीं। इस संबंध में एक्टन ने लिखा है कि "विरोधाभास यह है कि समानता और स्वतन्त्रता जो कि परस्पर विरोधी विचार के रूप में प्रारम्भ होते हैं, विश्लेषण करने पर एक दूसरे के लिए आवश्यक हो जाती सकती है।" यदि समान अवसरों के द्वारा सबके लिए खुले रहते हैं तो व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार अपनी शक्तियों का विकास करने की यथार्थ स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है। जिस समाज में किसी एक वर्ग को विशेषाधिकार प्राप्त रहते हैं और सामाजिक तथा आर्थिक अन्तर पाये जाते हैं, वहां वह वर्ण अन्य वर्गों पर दबाव डालने की अनुचित शक्ति प्राप्त कर लेता है और निम्न वर्गों को केवल नाम मात्र की ही स्वतन्त्रता प्राप्त होती है।

वास्तव में, समानता के द्वारा स्वतन्त्रता के आधार के रूप में कार्य किया जाता है। एक ऐसा राज्य में जिसमें समानता नहीं है, स्वतन्त्रता ही नहीं सकती। इस बात को निम्नलिखित रूपों में स्पष्ट किया जा सकता है:-

1. यदि राजनीतिक समानता नहीं होगी, तो स्वतन्त्रता व्यर्थ हो जाएगी और जनता के एक बहुत बड़े भाग को शासन में कोई भाग प्राप्त नहीं होगा।
2. यदि नागरिक समानता नहीं होगी, तो जो व्यक्ति नागरिक अयोग्यताओं से पीड़ित है, उन्हें स्वतन्त्रता उपलब्ध नहीं होगी।
3. यदि सामाजिक समानता नहीं होगी, तो स्वतन्त्रता पर कुछ ही व्यक्तियों का विशेषाधिकार हो जाएगा।
4. यदि आर्थिक समानता नहीं होगी, तो धन कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित हो जाएगा और केवल वही वर्ग स्वतन्त्रता का लाभ उठा सकेगा।

ऐसी स्थिति में डा० आर्शीवादम् ने ठीक ही कहा है कि "फ्रांस के क्रान्तिकारी न तो पागल थे और न मूर्ख, जब उन्होंने स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व का नारा लगाया था।

अभ्यास प्रश्न

1. समानता की अवधारणा क्या हासिल करना चाहती है?
 - क) व्यक्तियों के बीच विभाजन और भेदभाव
 - ख) सभी के लिए उचित व्यवहार और निष्पक्षता

ग) सामाजिक आर्थिक असमानताएँ और असमानताएँ

घ) सीमित अवसर और संसाधनों तक पहुंच

2. समानता के संदर्भ में, "समान अवसर" से क्या तात्पर्य है?

क) कुछ समूहों को प्राथमिकता देना

ख) व्यक्तियों के साथ उनकी पृष्ठभूमि के आधार पर अलग-अलग व्यवहार करना

ग) यह सुनिश्चित करना कि सभी को सफलता और उन्नति की समान संभावना मिले

घ) संसाधनों और अवसरों तक पहुंच को प्रतिबंधित करना

3. कौन सा शब्द व्यक्तियों की जाति, लिंग या अन्य विशेषताओं के आधार पर उनके साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार को संदर्भित करता है?

क) समानता ब) भेदभाव स) निष्पक्षता द) व्यक्तिवाद

4. समानता की खोज सामाजिक कल्याण नीतियों को कैसे प्रभावित करती है?

अ) यह सामाजिक कल्याण कार्यक्रमों के महत्व को कम करता है

ब) इससे सामाजिक सुरक्षा जाल खत्म हो जाता है

स) यह उन नीतियों के कार्यान्वयन को प्रोत्साहित करता है जो सामाजिक असमानताओं को संबोधित करती हैं

द) यह कुछ सामाजिक समूहों के लिए अधिमान्य उपचार को बढ़ावा देता है

8.7 सारांश

समानता की अवधारणा आधुनिक समाज के एक शक्तिशाली और आवश्यक स्तंभ के रूप में खड़ी है, जो सभी व्यक्तियों के लिए निष्पक्षता, न्याय और मानवीय गरिमा की वकालत करती है। यह एक ऐसी दुनिया के दृष्टिकोण का प्रतीक है जहां प्रत्येक व्यक्ति को, उनकी पृष्ठभूमि या विशेषताओं के बावजूद, समान अवसर, अधिकार और संसाधनों तक पहुंच प्रदान की जाती है। समानता की खोज ने

ऐतिहासिक आंदोलनों को बढ़ावा दिया है, विधायी सुधारों को आकार दिया है, और भेदभाव का मुकाबला करने और समावेशी समाज बनाने के लिए अथक सक्रियता को प्रेरित किया है।

हालाँकि प्रगति हुई है, सच्ची समानता प्राप्त करना एक सतत और जटिल प्रयास बना हुआ है, जिसके लिए गहरी जड़ें जमा चुकी सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक असमानताओं को दूर करने के लिए निरंतर प्रयासों की आवश्यकता है। जैसे ही हम अपने समय की चुनौतियों से निपटते हैं, समानता की अवधारणा एक मार्गदर्शक प्रकाशस्तंभ के रूप में कार्य करती है, जो हमें अधिक दयालु, न्यायपूर्ण और सामंजस्यपूर्ण दुनिया के लिए प्रयास करने के लिए प्रोत्साहित करती है, जहां हर किसी की क्षमता का पोषण और जश्न मनाया जाता है। समानता के प्रति प्रतिबद्धता न केवल समाज के ताने-बाने को समृद्ध करती है बल्कि यह भी सुनिश्चित करती है कि प्रत्येक व्यक्ति सम्मान के साथ जी सके और मानवता की भलाई में अपने अद्वितीय योगदान दे सके।

8.8 शब्दावली

समानता- सभी के लिए निष्पक्षता और भेदभावरहित व्यवहार, समान अवसर-सभी को सफलता और उन्नति के समान अवसर प्रदान करना, असमानता- अवसरों और संसाधनों में असमानताएं और अंतर।

8.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. ख
2. ग
3. ब
4. स

8.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. राजनीतिक सिद्धांत अवधारणाएँ एवं विमर्श- संपादक बलवान गौतम, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय
2. आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत- डॉ. पुखराज जैन, डॉ बी. एल. फड़िया
3. डॉ0 गार्नर - पॉलिटिकल साइंस एण्ड गवर्नमेंट
4. ऑस्टिन- लेक्चर्स ऑन जुरिसप्रुडेंस
5. गेटिल-पोलिटिकल साइंस
6. डॉ. पुखराज जैन -- राजनीतिक सिद्धान्त

7.एस.सी. सिंघल--- राजनीतिक सिद्धान्त

8.ओ.पी.गाबा - राजनीतिक सिद्धान्त

9.जे.सी.जौहरी -- राजनीतिक सिद्धान्त

8.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.वीरकेश्वर प्रसाद -राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त, ज्ञानदा पब्लिकेशन, नयी दिल्ली

2 .डी0डी0 राफेल - राजनीतिक दर्शन की समस्यायें, मैकमिलन लन्दन

8.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. समानता का अर्थ और परिभाषा बताते हुए समानता के विविध रूपों की चर्चा कीजिये।
2. स्वतंत्रता और समानता के मध्य सम्बन्ध पर चर्चा कीजिये।

इकाई 9 अधिकार

इकाई संरचना

9.0 प्रस्तावना

9.1 उद्देश्य

9.2 अधिकार: अर्थ, परिभाषा

9.3 अधिकारों का वर्गीकरण

9.4 अधिकारों के विभिन्न सिद्धांत

9.5 सारांश

9.6 शब्दावली

9.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

9.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

9.9 सहायक उपयोगी सामग्री

9.10 निबधात्मक प्रश्न

9.0 प्रस्तावना

गुणवत्ता एक मूलभूत सिद्धांत है जो आधुनिक समाजों और राजनीतिक विचारों के केंद्र में है। यह इस विचार का प्रतीक है कि सभी व्यक्तियों के साथ, उनकी पृष्ठभूमि, पहचान या विशेषताओं की परवाह किए बिना, भेदभाव रहित और निष्पक्षता से व्यवहार किया जाना चाहिए। यह अवधारणा लोगों के बीच भेदभाव, विशेषाधिकार और अन्यायपूर्ण असमानताओं को खत्म करने, एक ऐसे समाज को बढ़ावा देने का प्रयास करती है जहां सभी को अवसरों, अधिकारों और संसाधनों तक समान पहुंच प्राप्त हो।

समानता की धारणा पूरे इतिहास में सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों के पीछे एक प्रेरक शक्ति रही है। नागरिक अधिकारों और लैंगिक समानता की वकालत से लेकर आर्थिक असमानताओं और सामाजिक पदानुक्रमों को चुनौती देने तक, समानता की खोज प्रगतिशील परिवर्तन को आकार देने और सामाजिक न्याय को बढ़ावा देने में सहायक रही है।

समानता के इस परिचयात्मक अन्वेषण में, हम इसके विभिन्न आयामों, जैसे सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और कानूनी समानता, पर गहराई से विचार करेंगे। हम समानता और व्यक्तिगत स्वतंत्रता और योग्यता जैसे अन्य मूल्यों के बीच तनाव की भी जांच करेंगे। समानता की जटिलताओं और निहितार्थों को समझकर, हम सभी के लिए अधिक समावेशी और न्यायपूर्ण समाज बनाने की दिशा में प्रयास कर सकते हैं।

9.1 उद्देश्य

1. अधिकार के अर्थ और परिभाषा को जान पायेंगे।
2. अधिकारों के वर्गीकरण का अध्ययन कर पायेंगे।

9.2 अधिकार: अर्थ, परिभाषा

मूल अधिकार हमारे नैसर्गिक अधिकार हैं, जो कि एक मानव जीवन को संरक्षित, सवर्धित तथा विकसित होने के अवसर प्रदान करते हैं। यदि कोई भी समाज अपने नैतिक व अवधराणात्मक मूल्यों के स्तर पर इनके लिए तैयार नहीं होता है तो कानूनी कितना भी कठोरता हो उनका उपयोग सम्भव नहीं होगा। मूल अधिकार किसी भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता, उसके इन्सान होने की रक्षा के लिए बने हैं और इसीलिए समाज में प्रत्येक व्यक्ति के पास यह मूल्य होने चाहिए कि वह सामाजिक, आर्थिक व

राजनीतिक न्याय के लिए इनका उपयोग अपने हित में कर सके और दूसरे व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा अधिकारों में बाधा न पहुंचाये।

"अधिकार" की अवधारणा एक नैतिक या कानूनी अधिकार या दावे को संदर्भित करती है जो किसी व्यक्ति के पास है, जो उन्हें विशिष्ट तरीके से कार्य करने या व्यवहार करने की स्वतंत्रता देता है। अधिकार मनुष्यों में अंतर्निहित हैं और अक्सर उनकी गरिमा, स्वायत्तता और कल्याण सुनिश्चित करने के लिए मौलिक माने जाते हैं।

प्रकृति के द्वारा मनुष्य को विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ प्रदान की गयी है, लेकिन इन शक्तियों का स्वयं अपने ओर समाज के हित के रूप में उचित प्रयोग करने के लिए कुछ बाहरी सुविधाओं की आवश्यकता होती है। राज्य का सर्वोत्तम लक्ष्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास है अतः राज्य के द्वारा व्यक्ति को प्रदान की जाने वाली इन बाहरी सुविधाओं का नाम ही अधिकार है।

अधिकार राज्य के अंतर्गत व्यक्ति को प्राप्त होने वाली ऐसी अनुकूल परिस्थितियां और अवसर हैं जिनसे आत्म-विकास में सहायता मिलती है।

अधिकारों की अवधारणा को अक्सर "नकारात्मक" और "सकारात्मक" अधिकारों के संदर्भ में तैयार किया जाता है। नकारात्मक अधिकार हस्तक्षेप या हानि से मुक्ति को संदर्भित करते हैं, जिसका अर्थ है कि दूसरों को इन अधिकारों में बाधा या उल्लंघन नहीं करना चाहिए। दूसरी ओर, सकारात्मक अधिकारों का तात्पर्य यह है कि उन अधिकारों को पूरा करने के लिए दूसरों को कुछ सामान या सेवाएँ प्रदान करने का दायित्व है।

लोकतांत्रिक समाजों में, अधिकारों की सुरक्षा और संवर्धन आमतौर पर कानूनी ढांचे, संविधान और अंतर्राष्ट्रीय संधियों के माध्यम से सुरक्षित किया जाता है। मानवीय गरिमा को बनाए रखने, सामाजिक सद्भाव को बढ़ावा देने और एक न्यायसंगत और न्यायसंगत समाज को प्राप्त करने के लिए अधिकारों का सम्मान आवश्यक माना जाता है।

प्रमुख विद्वानों द्वारा अधिकार की निम्नलिखित शब्दों में परिभाषाएं की गयी हैं:-

बोसांके के अनुसार, "अधिकार वह मांग है जिसे समाज स्वीकार करता और राज्य लागू करता है।"

लास्की के अनुसार, "अधिकार सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियां हैं जिनके अभाव में सामान्यता कोई भी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर पाता है।"

बार्कर क अनुसार “ अधिकार न्याय की उस सामान्य व्यवस्था का परिणाम हैं जिस पर राज्य के कानून आधारित है।”

अधिकार सामान्यतया व्यक्ति की उन मांगों में से है जिन्हें समाज स्वीकार करता है व राज्य संरक्षित करता है। वे अधिकार जो व्यक्ति के जीवन के लिए मौलिक तथा अनिवार्य होने के कारण संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदान किये जाते हैं और जिन अधिकारों में राज्य द्वारा भी हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता है, मूल अधिकार कहलाते हैं। मूल अधिकार न्याय योग्य होते हैं अर्थात न्यायपालिका इन अधिकारों की रक्षा के लिए सभी आवश्यक कदम उठा सकती है।

अधिकार व कर्तव्य आपस में नजदीकी से जुड़े हुए हैं मतलब हर अधिकार के साथ कर्तव्य भी होता है। अधिकार को कानूनी मंजूरी के साथ समाज की मंजूरी भी जरूरी है। पहले समाज में आम नागरिक के अधिकारों को कोई मान्यता नहीं दी जाती थी। अधिकार आधुनिक युग की देन हैं। अधिकारों की प्राप्ति के लिए लम्बा संघर्ष करना पड़ा है। फ्रांस की क्रांति, अमेरिकी क्रांति, के बाद अधिकारों को व्यापक रूप में स्वीकृत किया गया। सबसे पहले अमेरिकी संविधान में मूल अधिकारों को स्थान मिला। रूसी क्रांति ने सामाजिक- आर्थिक अधिकारों को बढ़ावा दिया।

अधिकारों की प्रकृति

1 अधिकार किसी व्यक्ति के भले के लिए आवश्यक हैं। अधिकार एक निष्पक्ष इच्छा है जो स्वार्थरहित होता है। अधिकार वह हैं जो हम किसी से उम्मीद करते हैं और लोग जो हमसे चाहते हैं अधिकार में समाज कल्याण की भावना छुपी होती है। व्यक्ति की निष्पक्ष इच्छा प्रत्येक के हित के लिए होती है।

2 अधिकारों को केवल समाज में ही प्रयोग किया जा सकता है।

3 अधिकार राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त दावे हैं।

4 हर अधिकार के पीछे कर्तव्य छिपा होता है। अधिकार और कर्तव्य एक सिक्के के दो पहलुओं की तरह हैं।

5 कोई भी अधिकार असीमित नहीं होता उसकी अपनी सीमायें होती हैं।

6 समय के साथ अधिकारों में भी परिवर्तन आता है।

7 लोकतंत्र अधिकारों को कायम रखता है। लोकतंत्र में ही अधिकारों का आनंद उठाया जा सकता है।

9.3 अधिकारों का वर्गीकरण

साधारणतया अधिकार दो प्रकार के होते हैं - (1) नैतिक अधिकार और (2) कानूनी अधिकार

(1) नैतिक अधिकार:- नैतिक अधिकार वे अधिकार होते हैं जिनका सम्बन्ध मानव के नैतिक आचरण से होता है। अनेक विचारकों के द्वारा इन्हें अधिकार के रूप में ही स्वीकार नहीं किया जाता है, क्योंकि वे अधिकार राज्य द्वारा रक्षित नहीं होते हैं। इन्हें धर्मशास्त्र, जनमत या आत्मिक चेतना द्वारा स्वीकृत किया जाता है और राज्य के कानूनों से इनका कोई सम्बन्ध नहीं होता।

(2) कानूनी अधिकार:- ये वे अधिकार हैं जिनकी व्यवस्था राज्य द्वारा की जाती है और जिनका उल्लंघन कानून से दण्डनीय होता है। कानून का संरक्षण प्राप्त होने के कारण इन अधिकारों को लागू करने के लिए राज्य द्वारा आवश्यक कार्यवाही की जाती है।

कानूनी अधिकार के दो भेद किये जा सकते हैं:

1. सामाजिक या नागरिक अधिकार,

2. राजनैतिक अधिकार

1. सामाजिक या नागरिक अधिकार:- प्रमुख सामाजिक या नागरिक अधिकार निम्नलिखित हैं –

नागरिक अधिकार वे आधारभूत विधायी अधिकार हैं जो किसी उदार लोकतान्त्रिक राज्य में समान नागरिकता की स्थिति को सुरक्षित रखने के लिए प्रत्येक व्यक्ति के पास होने चाहिए। 1950 और 1960 के दशक में “नागरिक अधिकार” नामक शब्दावली अफ्रीकी-अमेरिकियों की समानता के लिए किये जाने वाले संघर्ष से जुड़ी है जिनका उद्देश्य समान नागरिकता की यह स्थिति प्राप्त करना था।

1. समानता का अधिकार:- समानता का अधिकार एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अधिकार है और जिसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक क्षेत्र में व्यक्ति को व्यक्ति होने के नाते सम्मान और महत्व प्राप्त होना चाहिए और जाति धर्म व आर्थिक स्थिति के भेद के बिना सभी व्यक्तियों को अपने जीवन का विकास करने के लिए सुविधाएं प्राप्त होनी चाहिए। समानता का अधिकार प्रजातंत्र की आत्मा है और इसके अग्र भेद हैं:-

a. राजनीतिक समानता का अधिकार:- इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यतानुसार बिना किसी पक्षपात के देश के शासन में भाग लेने का अवसर प्राप्त होना चाहिए।

b. सामाजिक समानता का अधिकार:- इसका तात्पर्य यह है कि समाज में धर्म, जाति, भाषा, सम्पत्ति या लिंग के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए।

c. आर्थिक समानता का अधिकार:- वर्तमान समय में आर्थिक समानता का तात्पर्य यह लिखा जाता है कि मानव के आर्थिक स्तर में गम्भीर विषमताएँ नहीं होनी चाहिए और सम्पत्ति एवं उत्पादन के साधनों का न्यायसंगत वितरण किया जाना चाहिए। टोनी के शब्दों में, “आर्थिक समानता का अर्थ ऐसी विषमता के अभाव से है जिसका उपयोग आदि के दबाव के रूप में किया जा सके”।

d. स्वतन्त्रता का अधिकार:- स्वतन्त्रता का अधिकार जीवन के लिए परम आवश्यक है क्योंकि इस अधिकार के बिना व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा समजा का विकास सम्भव नहीं है। स्वतन्त्रता का तात्पर्य उच्छंखलता या नियन्त्रणहीनता न होकर व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए पूर्ण अवसरों की प्राप्ति है। लास्की के शब्दों में, “इसका तात्पर्य उस शक्ति से होता है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी इच्छानुसार अपने तरीके से बिना किसी बाहरी बन्धन के अपने जीवन का विकास कर सके।

“स्वतन्त्रता के अधिकार” के भेद निम्नलिखित हैं:-

(1). व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिकार:- व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति अपना सामान्य जीवन विवेक के अनुसार व्यतीत कर सके। कानून के उल्लंघन किये बिना किसी व्यक्ति को गिरफ्तार नहीं किया जा सकता और न्यायालय द्वारा अभियोग की पुष्टि बिना उसे बन्दी नहीं बनाया जा सकता।

(2). विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार:- प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार विचार रखने और भाषण लेख, आदि के माध्यम से इन विचारों को व्यक्त करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। सुकरात ने विचार स्वातन्त्रता को त्यागने की अपेक्षा मृत्यु को श्रेयस्कर समझा था।

(3). समुदाय निर्माण की स्वतन्त्रता का अधिकार:- संगठन ही मानव जीवन की उन्नति का मूलमन्त्र है। इसलिए व्यक्ति को अपने समान विचार वाले व्यक्तियों के साथ मिलकर संगठन का निर्माण करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

(4). सम्पत्ति का अधिकार:- मानव जीवन के लिए सम्पत्ति आवश्यक है। सम्पत्ति के अधिकार का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति अपने द्वारा कमाए गये धन को चाहे तो आज की आवश्यकताओं पर खर्च कर सकता है या अर्जित करके रख सकता है, सरकार बिना मुआवजा दिये बिना किसी भी व्यक्ति की सम्पत्ति का अधिग्रहण नहीं कर सकती।

(5) रोजगार का अधिकार:- व्यक्ति को स्वयं अपने परिवार के भरण पोषण, आवास एवं शिक्षा के लिए धन की आवश्यकता होती है और व्यक्ति यह आर्थिक शक्ति किसी न किसी प्रकार का काम किये बिना प्राप्त नहीं कर सकता।

(6) शिक्षा का अधिकार:- वर्तमान समय में यह बात सर्वमान्य है कि नागरिकों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए। केवल इतना ही नहीं, शासन को धनवान एवं निर्धन दोनों ही वर्गों को शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करनी चाहिए।

(7) जीवन का अधिकार:- जीवन के अधिकार का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवित रहने का अधिकार है और राज्य इस बात की व्यवस्था करेगा कि कोई दूसरा व्यक्ति या राज्य व्यक्ति के जीवनका अन्त न कर सके। यह मानव के सभी अधिकारों में सबसे अधिक मौलिक व आधारभूत अधिकार है।

(8) राजनीतिक अधिकार:- राजनीतिक अधिकारों का तात्पर्य उन अधिकारों से है जो व्यक्ति के राजनैतिक जीवन के विकास के लिए आवश्यक होते हैं और जिनके माध्यम से व्यक्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप शासन प्रबन्ध में भाग लेते हैं। साधारणतया एक प्रजातंत्रात्मक राज्य के द्वारा अपने नागरिकों को निम्नलिखित अधिकार प्रदान किये जाते हैं-

1. मत देने का अधिकार:- वर्तमान समय के विशाल राज्यों में प्रत्यक्ष प्रजातंत्रीय व्यवस्था सम्भव नहीं रही है और इसलिए प्रतिनिधित्मक प्रजातन्त्र के रूप में एक ऐसी व्यवस्था की गयी है जिसमें जनता अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करती है और इन प्रतिनिधियों के द्वारा शासन में कार्य किया जाता है। इस प्रकार जनता मताधिकार के माध्यम से ही देश के शासन में भाग लेती है।

2. निर्वाचित होने का अधिकार:- प्रजातंत्र में शासक और शासित का कोई भेद नहीं होता और योग्यता सम्बन्धी कुछ प्रतिबंधों के साथ सभी नागरिकों को जनता के प्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित होने का अधिकार होता है।

3. सार्वजनिक पद ग्रहण करने का अधिकार:- व्यक्ति को सभी सार्वजनिक पद ग्रहण करने का अधिकार होना चाहिए और इस सम्बन्ध में योग्यता के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार पर भेद नहीं किया जाना चाहिए।

4. आवेदन-पत्र और सम्मति देने का अधिकार:- लोकतंत्र का आदर्श यह है कि शासन का संचालन जनहित के लिए किया जाए। अतः नागरिकों को अपनी शिकायतें दूर करने या शासन को आवश्यक सम्मति प्रदान करने के लिए व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से कार्यपालिका या व्यवस्थापिता

अधिकारियों का प्रार्थना-पत्र देने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए इसके अन्तर्गत ही शासन की आलोचना का अधिकार भी सम्मिलित किया जाता है।

5. राज्य के विरुद्ध विद्रोह का अधिकार: राज्य के प्रति भक्ति और राज्य की आज्ञाओं का पालन व्यक्ति का कानूनी कर्तव्य होता है और इसलिए व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध विद्रोह का कानूनी अधिकार तो प्राप्त हो ही नहीं सकता लेकिन व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध विद्रोह का नैतिक अधिकार अवश्य ही प्राप्त होता है। इसका कारण यह है कि शासन के अस्तित्व का उद्देश्य जन-इच्छा को कार्यरूप में परिणत करते हुए सामान्य कल्याण होता है और यदि शासन सामान्य कल्याण की साधना में असफल हो जाता है या शासन जन-इच्छा का प्रतिनिधित्व नहीं करता है तो उसे शासन को अस्तित्व में बने रहने का कोई नैतिक अधिकार शेष नहीं रह जाता है। नागरिकों को इस प्रकार की सरकार को पदच्युत करने का अधिकार होता है और यदि वो संवैधानिक मार्ग से इच्छित परिवर्तन न किया जा सके तो व्यक्ति को अधिकार है कि वह शक्ति के आधार पर वांछित परिवर्तन करने का प्रयत्न करें।

लास्की ने कहा है कि "नागरिकता व्यक्ति के विवेकपूर्ण निर्णय का जनकल्याण में प्रयोग है" ऐसी परिस्थितियों में यदि व्यक्ति को इस बात का विश्वास हो जाए कि विद्यमान शासन व्यवस्था सर्व-सामान्य के हित में कार्य नहीं कर सकती तो राज्य के प्रति विद्रोह व्यक्ति का नैतिक अधिकार ही नहीं वरन एक नैतिक कर्तव्य भी हो जाता है जैसा गांधी जी कहते हैं "व्यक्ति का सर्वोच्च कर्तव्य अपनी अन्तरात्म के प्रति होता है।" अतः विरोध किया जा सकता है।

9.4 अधिकारों के सिद्धांत

प्राकृतिक अधिकार का सिद्धांत –

कुछ अधिकार राज्य की उत्पत्ति से पहले से मौजूद थे इन्हें प्राकृतिक अधिकार कहा जाता है। इन अधिकारों की सुरक्षा के लिए राज्य का जन्म हुआ। सामाजिक समझौतावादी विचारकों ने इस बात को रखा। जॉन लॉक ने जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति के अधिकार को प्राकृतिक अधिकार में रखा। प्राकृतिक अधिकारों की संकल्पना से क्रांतियां हुईं जैसे अमरीकी स्वतंत्रता घोषणा पत्र में कहा गया कि मनुष्य जन्म से स्वतंत्र है। जीवन, स्वतंत्रता और सुख की साधना के अधिकार से मनुष्य को वंचित नहीं किया जा सकता है। फ्रांस की क्रांति की घोषणा में स्वतंत्रता, समानता, सुरक्षा और सम्पत्ति को संपत्ति को मनुष्य के प्रमुख प्राकृतिक अधिकारों में रखे गये।

कानूनी अधिकारों का सिद्धांत –

इस सिद्धांत के अनुसार अधिकार राज्य की देन हैं। जब तक राज्य किसी अधिकार को मान्यता नहीं देता है तब तक उसे किसी भी अर्थ में अधिकार नहीं माना जा सकता। बेन्थम ने प्राकृतिक अधिकारों को नकारते हुए विधि के शासन का समर्थन किया। क्लानूनी अधिकार सिद्धांत के अनुसार अधिकार राज्य द्वारा प्रदत्त अधिकार, अधिकार कहलाते हैं। हर देश में अधिकार अलग अलग तरह के होते हैं।

ऐतिहासिक सिद्धांत –

इस सिद्धांत के अनुसार मानव को अधिकार इतिहास परंपरा या मान्यता से प्राप्त हैं, न कि राज्य या समाज से। एडमंड बर्क ने इस सिद्धांत का समर्थन किया कि इतिहास अधिकारों का निर्माण करता है। लम्बे समय तक विद्यमान परम्पराएँ ही अधिकारों का रूप धारण कर लेते हैं।

समाजकल्याण का सिद्धांत -

इस सिद्धांत के अनुसार अधिअक्र समाज कल्याण के लिए ही होते हैं। जो समाज के लिए उपयोगी है उसे अधिकार मानना चाहिए। उपयोगितावाद ने इस अधिकार के सिद्धांत को समर्थन दिया उनके मत में अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख अधिकार का अधर होना चाहिए। जो अधिकार व्यक्ति को मिलते हैं उनकी सामाजिक उपयोगिता है जैसे व्यक्ति को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार दिया गया है लेकिन समाज के हित में इस पर कई बार प्रतिबन्ध भी लगा दिया जाता है।

लोकतंत्रीय सिद्धांत –

इस व्यवस्था में नकारात्मक और सकारात्मक अधिकार एक-साथ प्रदान किये जा सकें। लास्की के अनुसार, किसी भी राज्य की पहचान उन अधिकारों से होती है जिनकी वह रक्षा करता है। लास्की लोकतंत्रीय सिद्धांत के समर्थक हैं इन्होंने उदारवाद से जुड़े राजनीतिक अधिकारों के साथ-साथ समाजवाद से जुड़े हुए आर्थिक अधिकारों की भी रक्षा पर बल दिया है। उसने माना कि राज्य को व्यक्ति की स्वतंत्रता के साथ आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए। ग्रीन की तरह लास्की ने तर्क दिया कि अधिकार राज्य की देन नहीं हैं बल्कि उनका स्थान राज्य की सत्ता से ऊँचा है। लास्की ने कल्याणकारी राज्य के विचार को बढ़ावा दिया। कुछ पुचिवादी प्रणाली को खत्म करने की जगह उसमें संशोधन करने के सुझाव दिए जिससे इस प्रणाली में जनसाधारण के दमन और उत्पीड़न की जगह स्वतंत्रता और सुरक्षा एक-साथ प्रदान कर सकें। लास्की का मानना है कि उदार लोकतंत्र जनसाधारण के व्यापक कल्याण का साधन बन सकता है।

मार्क्सवादी सिद्धांत –

मार्क्सवाद के अनुसार, किसी भी राज्य में, किसी भी युग में प्रचलित अधिकार प्रभुत्वशाली वर्ग के अधिकार होते हैं। इस लिए कामगार वर्ग के अधिकारों की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि यह वर्ग पूंजीपति वर्ग को परे हटाकर स्वयं सत्ता संभाल ले। अधिकार राज्य के वर्ग चरित्र के साथ जुड़े रहते हैं, इसलिए पूंजीवादी और समाजवादी व्यवस्थाओं के अंतर्गत अधिकारों का स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है। पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत कानून की दृष्टि से सब नागरिकों के सामान अधिकार स्वीकार किये जाते हैं परन्तु वास्तविकता स्तर पर सारे अधिकार पूंजीपति वर्ग के अधिकार होते हैं।

मार्क्सवाद के अनुसार, समाजवादी स्थिति है जब कामगार वर्ग पूंजीपतियों को हटाकर उत्पादन के प्रमुख साधनों पर सामाजिक स्वामित्व स्थापित कर देता है। पहले सर्वहारा का अधिनायकतंत्र स्थापित किया जाता है, आगे चलके राज्य लुप्त हो जाता है और वर्गविहीन तथा राज्यविहीन समाज अस्तित्व में आ जाता है। जिसे साम्यवाद कहा जाता है। समाजवाद में वर्ग-विभाजन बना रहता है परन्तु कामगार वर्ग प्रभुत्वशाली बना रहता है इसी लिए उसे वास्तविक अधिकार प्राप्त होते हैं। मार्क्सवादी चिंतन के प्रभाव से जब रूस में 1917 की क्रांति के बाद जो समाजवादी व्यवस्था स्थापित की गई, उसमें नागरिकों की आर्थिक सुरक्षा और बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति पर विशेष दिया गया।

अभ्यास प्रश्न --

१. अधिकार वह मांग है जिसे समाज स्वीकार करता और राज्य लागू करता है। "किसका कथन है?"
२. अधिकार सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियां हैं जिनके अभाव में सामान्यता कोई भी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर पाता है। किसका कथन है ?

9.5 सारांश

उपरोक्त अध्ययन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि समानता की अवधारणा प्रगतिशील और न्यायपूर्ण समाज की आधारशिला के रूप में खड़ी है। यह इस मौलिक विश्वास का प्रतीक है कि प्रत्येक व्यक्ति के साथ, उनकी पृष्ठभूमि, जाति, लिंग, धर्म या सामाजिक-आर्थिक स्थिति की परवाह किए बिना, निष्पक्षता और सम्मान के साथ व्यवहार किया जाना चाहिए। समानता केवल एक ऊँचा आदर्श नहीं है; यह सामाजिक एकता, आर्थिक समृद्धि और राजनीतिक स्थिरता के पीछे एक प्रेरक शक्ति है। समानता के नजरिए से, समाजों ने भेदभावपूर्ण प्रथाओं को खत्म करने और यह सुनिश्चित करने में उल्लेखनीय प्रगति देखी है कि सभी व्यक्तियों को अवसरों और संसाधनों तक समान पहुंच मिले। यह

परिवर्तनकारी आंदोलनों के लिए उत्प्रेरक रहा है जिसने बाधाओं को तोड़ा है और नागरिक अधिकारों, लैंगिक समानता और सामाजिक न्याय को आगे बढ़ाया है।

हालाँकि, पूर्ण समानता प्राप्त करने की दिशा में यात्रा जारी है और जटिल है। चुनौतियाँ बनी हुई हैं, और समानता और व्यक्तिगत स्वतंत्रता और योग्यता जैसे अन्य सामाजिक मूल्यों के बीच सही संतुलन बनाने की खोज बहस का विषय बनी हुई है। वास्तव में समानता को बढ़ावा देने के लिए सरकारों, संस्थानों और व्यक्तियों के सामूहिक प्रयास की आवश्यकता है। नीतिगत उपाय जो प्रणालीगत असमानताओं को संबोधित करते हैं, शिक्षा जो सहानुभूति और समझ को बढ़ावा देती है, और निष्पक्षता के प्रति अटूट प्रतिबद्धता एक अधिक न्यायसंगत दुनिया के निर्माण में महत्वपूर्ण घटक हैं।

जैसे-जैसे हम समानता की अवधारणा का पता लगाना और उसका समर्थन करना जारी रखते हैं, हमें याद रखना चाहिए कि यह सभी व्यक्तियों के साथ एक समान व्यवहार के बारे में नहीं है, बल्कि यह सुनिश्चित करते हुए विविधता को पहचानने और अपनाने के बारे में है कि कोई भी पीछे न रह जाए। समानता को एक मार्गदर्शक सिद्धांत के रूप में अपनाकर, हम ऐसे समाज बनाने की आकांक्षा कर सकते हैं जो मानवीय मतभेदों की समृद्धि का जश्न मनाएं और यह गारंटी दें कि प्रत्येक व्यक्ति के अंतर्निहित मूल्य को पहचाना और सम्मानित किया जाए। ऐसा करके, हम एक ऐसे भविष्य की ओर एक महत्वपूर्ण कदम उठाते हैं जो मानवता के सच्चे सार का प्रतीक है और आने वाली पीढ़ियों के लिए एक बेहतर दुनिया को आकार देने में समानता की स्थायी शक्ति के प्रमाण के रूप में खड़ा है।

9.6 शब्दावली

राजनीतिक समानता --राजनीतिक समानता का अभिप्राय सभी व्यक्तियों को समान राजनीतिक अधिकार एवं अवसर प्राप्त होते हैं।

प्राकृतिक समानता:- प्राकृतिक समातना के प्रतिपादक इस बात पर बल देते हैं कि प्रकृति ने मनुष्यों को समान बनाया है और सभी मनुष्य आधारभूत रूप में बराबर हैं।

कानूनी अधिकार:- ये वे अधिकार हैं जिनकी व्यवस्था राज्य द्वारा की जाती है और जिनका उल्लंघन कानून से दण्डनीय होता है।

9.7. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

१. बोसांके २. लास्की

9.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ0 गार्नर - पॉलिटिकल साइंस एण्ड गवर्नमेंट
2. ऑस्टिन- लेक्चर्स ऑन जुरिसप्रुडेंस
3. गेटिल-पॉलिटिकल साइंस
4. डॉ. पुखराज जैन -- राजनीतिक सिद्धान्त
5. एस.सी. सिंघल--- राजनीतिक सिद्धान्त
6. ओ.पी. गाबा - राजनीतिक सिद्धान्त
7. जे.सी. जौहरी -- राजनीतिक सिद्धान्त

9.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

- १ .वीरकेश्वर प्रसाद -राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त, ज्ञानदा पब्लिकेशन, नयी दिल्ली
- २ .डी0डी0 राफेल - राजनीतिक दर्शन की समस्यायें, मैकमिलन लन्दन

9.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. सामाजिक या नागरिक अधिकारों की व्याख्या कीजिये।
2. राजनैतिक अधिकारों की विवेचना कीजिये।
3. अधिकार पर एक निबंध लिखिए।

इकाई-10 :शक्ति सत्ता और वैधता

- 10.0 प्रस्तावना
- 10.1 उद्देश्य
- 10.2 शक्ति क्या है ?
 - 10.2.1 शक्ति का स्वरूप
 - 10.2.2 शक्ति के स्रोत
- 10.3 सत्ता
 - 10.3.1 सत्ता के आधार अथवा स्रोत
 - 10.3.2 सत्ता के प्रकार
- 10.4 प्रभाव
 - 10.4.1 प्रभाव के प्रमुख स्रोत
- 10.5 सारांश
- 10.6 शब्दावली
- 10.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 10.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची
- 10.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 10.10 निबन्धात्मक प्रश्न

10.0 प्रस्तावना

इसके पूर्व की इकाई में हमने स्वतन्त्रता, समानता का अध्ययन किया जिसमें पाया कि दोनों का ही उद्देश्य मानवीय व्यक्तित्व का उच्चतम विकास है और इस प्रकार स्वतन्त्रता और समानता एकदूसरे के सहायक और पूरक हैं, परस्पर विरोधी नहीं। इस संबंध में एक्टन ने लिखा है कि "विरोधाभास यह है कि समानता और स्वतन्त्रता जो कि परस्पर विरोधी विचार के रूप में प्रारम्भ होते हैं, विश्लेषण करने पर एक दूसरे के लिए आवश्यक हो जाती है।" इस प्रकार हमने देखा कि किस प्रकार से व्यक्ति के स्वतंत्र विकास के लिए स्वतन्त्रता, समानता और अधिकार तीनों महत्वपूर्ण हैं। क्योंकि यदि किसी समाज में समकक्षों में समानता न हो और समान लोगों को स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा के अवसर न हों तो समाज गतिहीन हो जायेगा।

इस इकाई में शक्ति सत्ता और प्रभाव के अर्थ और इनके विभिन्न पक्षों का अध्ययन करेंगे। और ये देखेंगे कि शक्ति किस प्रकार इच्छा के विपरित भी कार्य कराने में सक्षम होती है और इसी शक्ति को वैद्यता प्राप्त हो जाती है तो वह सत्ता का स्वरूप ग्रहण कर लेती है। और उसे शक्ति प्रयोग का वैधानिक हक प्राप्त हो जाता है।

10.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम.....

- 1-शक्ति के अर्थ को समझने में सक्षम होंगे।
- 2-शक्ति और सत्ता के अन्तर को समझ सकेंगे।
- 3-यह स्पष्ट कर सकेंगे कि वैध शक्ति ही सत्ता है।
- 4-प्रभाव के अर्थ और उसके विभिन्न पक्षों को समझ सकेंगे।
- 5-सत्ता के विभिन्न प्रकारों को जान सकेंगे।

10.2 शक्ति क्या है ?

साधारणतया: लोग जो कुछ नहीं करना चाहते, उनसे वैसा कराने की क्षमता को 'शक्ति की संज्ञा' दी जाती है। दूसरे शब्दों में जब एक व्यक्ति दूसरे की इच्छा के विरुद्ध उसे किसी निर्णय का पालन कराता

है, तब पहला व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के ऊपर शक्ति का प्रयोग करता है। कौटिल्य ने “दण्ड शक्ति” जो शक्ति का ही पर्याय है, को सम्पूर्ण सांसारिक जीवन का मूल आधार माना जाता है।

मैक्स वेबर के अनुसार “ शक्ति का अर्थ है- किसी सामाजिक सम्बन्ध के अन्तर्गत एक कर्ता के द्वारा दूसरों की इच्छा के विरुद्ध अपनी इच्छा को कार्यान्वित करने की संभावना।”

आर0एम0मैकाइवर के अनुसार “यह किसी भी सम्बन्ध के अन्तर्गत ऐसी क्षमता है जिसमें दूसरों से कोई काम लिया जाता है या आज्ञा पालन कराया जाता है।”

बर्ट्रेण्ड रसेल के शब्दों में शक्ति से तात्पर्य “मन चाहा प्रभाव पैदा करना।”

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जिसके पास शक्ति है, वह दूसरों का अपनी इच्छा के अनुसार चलाने की क्षमता रखता है। इस तरह शक्ति की चिर- प्रचलित अवधारणा मुख्यतः दूसरों के ऊपर प्रयुक्त शक्ति का संकेत देती है।

10.2.1 शक्ति का स्वरूप

राजनीति हमारे जीवन का ऐसा क्षेत्र है जहाँ सबके लिए नियम बताए जाते हैं। निर्णय भी वहीं पर होते हैं, समाज के सभी व्यक्तियों के लिए अधिकतर कर्तव्य, और दायित्व निर्धारित किये जाते हैं।

कोई भी नियमों को धरातल पर उतारने के लिए या साकार रूप देने के लिए शक्ति की जरूरत होती है, अन्यथा वो केवल कही हुई बातें रह जायेंगी। शासन में शक्ति का वहीं स्थान है जो गाड़ी में ईन्जन का है। शक्ति के बिना राजनीति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। समाज में शक्ति, सुरक्षा और न्याय को लाने का केवल यही एक साधन है। हेरल्ड लासवेल कहते हैं कि राजनीति का सरोकार शक्ति को सँवारने और मिल बाँटकर उसका प्रयोग करने से है। इससे भी आगे बढ़कर काइकेल कार्टिस शक्ति के स्वरूप के बारे अलग ढंग से परिभाषा देते हैं, उनके अनुसार “राजनीति का अर्थ शक्ति और उसके प्रयोग के बारे में व्यवस्थित विवाद हैं, इसके अन्तर्गत प्रतिस्पर्धा मूल्यों, विचारों, व्यक्तियों, हितों और मॉर्गों में से किसी-न- किसी का चयन करना होता है।”

10.2.2 शक्ति के स्रोत

शक्ति क्या है और उसका स्वरूप कैसा है इसकी चर्चा हम ईकाई के प्रारम्भ में कर चुके हैं। शक्ति की उपज कहा से है, इसे जानने के लिए शक्ति के स्रोतों का अध्ययन करना होगा। शक्ति के प्रमुख स्रोत निम्नलिखित हैं:-

1. आर्थिक व भौतिक साधन:- आर्थिक व भौतिक साधन शक्ति प्राप्त करने के बाहरी तत्व हैं। आर्थिक व भौतिक साधन शक्ति के वे तत्व हैं जो समाज व्यक्ति की पहचान का स्तर तय करते हैं। सम्पत्ति है। आज समाज के लिए सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है यह आन्तरिक रूप से कोई विशेष प्रभाव नहीं डाल सकती लेकिन आज के उदारीकरण के युग में शक्ति का यह स्रोत बहुत प्रभावशाली सिद्ध हो रहा है। इस प्रकार भौतिकवादी युग में सम्पत्ति शक्ति का सबसे बड़ा साधन है। यह समाज में व्यक्ति के व्यक्तित्व का स्तर तय करती है।

2. ज्ञान और विचार शक्ति:- ज्ञान, शक्ति प्राप्त करने का महत्वपूर्ण साधन है। जिसके व्यक्ति के पास ज्ञान का भण्डार होगा व मनुष्य अपने तथ्यों को आसानी से प्राप्त कर लेता है। जिससे समाज में उसका अलग स्थान बनता है। उससे व्यक्ति प्रभावित होता है और समाज में प्रभाव जमाकर वह शक्ति आर्जित कर लेता है। "चमत्कार को नमस्कार" वाली कहावत ज्ञान द्वारा शक्ति प्राप्त करने के साधनों पर सटीक बैठती है।

3. बल अथवा दमन:- बल अथवा दमन भी शक्ति प्राप्त करने का एक स्रोत है। प्राचीन काल समाज "मत्स्य न्याय" था। जहाँ बलिष्ठ लोग कमजोर और कुचले लोगों का शोषण करते थे। यह भय पर आधारित है। इस भय के कारण दमनकारी व्यक्ति अपनी शक्ति को बढ़ाता जाता है। जिससे समाज में उसका भय का वातावरण बना रहें।

4. संगठन:- "संगठन में शक्ति है" यह उक्ति शक्ति के विषय में सही चरित्रता होती है। यह सामान्य सी बात है कि यदि आपको अपनी बात मनवानी है तो एक समूह तैयार करना पड़ता है। यदि आप अकेले हैं तो जिससे आप अपनी बात मनवाना चाहते हैं जरूरी नहीं है कि वो व्यक्ति या सरकार आपकी बातें माने। इसलिए विभिन्न ईकाईयों या समूह अपने हितों की पूर्ति के संगठन का निर्माण करते हैं। जिससे उनकी शक्ति में वृद्धि हो जाती है। और इसी शक्ति के कारण वे अपने हितों की पूर्ति के लिए समाज पर शासन पर दबाव डालते हैं। आज के समय में, दबाव समूह जैसे कि मजदूर संघ, व्यापारी संघ, धाग संघ इसके महत्वपूर्ण उदाहरण हैं।

5. व्यक्तित्व:- व्यक्तित्व भी शक्ति प्राप्त करने का स्रोत है। जिस व्यक्ति का व्यक्तित्व प्रभावशाली होगा, वह मनुष्य समाज अपना अलग अलग स्थान रखता है। व्यक्तित्व मनुष्य में आत्म विश्वास बढ़ाता है। प्रभावशाली व्यक्तित्व वाला मनुष्य जब आत्मविश्वास से भरा होता है तो वह समाज में उसको प्रतिष्ठा प्रदान कराता है। प्रतिष्ठा ही मनुष्य को शक्ति प्रदान करती है। यदि व्यक्ति का व्यक्तित्व बुरे आचरण वाला हो, तो वह शक्ति को भय का रूप देता है तथा भय से जो शक्ति प्राप्त होती है वह अवनति का मार्ग प्राप्त करती है।

6. विश्वास:- यदि शक्ति में विश्वास हो तो यही शक्ति का महत्वपूर्ण स्रोत होती है। चाहे व्यक्ति के पास कितनी शक्ति क्यों न हो और उस शक्ति को प्राप्त करना का साधन चाहे जो रहा हो। किन्तु यदि शक्ति में विश्वास नहीं होता है तो फिर शक्ति शून्य है। इसलिए मनुष्य के लिए यह अति आवश्यक वह शक्ति में विश्वास रखे।

शक्ति के प्रकार या आयाम:- राजनीति में शक्ति का प्रयोग बहुत विस्तृत क्षेत्र में होता है। अनेक विद्वानों ने शक्ति के अलग-अलग प्रकारों का वर्णन किया है। मैक्स बेबर के अनुसार शक्ति का सही रूप औचित्यपूर्ण शक्ति इसके अलावा में शक्ति नहीं “दमन” होता है। औचित्यपूर्ण शक्ति के तीन प्रमुख प्रकार बताये हैं। 1. कानूनी या वैधानिक 2. परम्परागत 3. करिश्माई शक्ति। लेकिन शक्ति जिस रूप में राजनीति को प्रभावित करती है उनसे मौटे तौर पर तीन प्रकार की शक्ति होती है।

1. राजनीतिक शक्ति 2. आर्थिक शक्ति और 3. वैचारिक शक्ति

1. राजनीतिक शक्ति:- सामान्य रूप राजनीतिक शक्ति से अभिप्राय है, समाज के मूल्यवान संसाधनों को अपनी इच्छा के अनुसार विभिन्न, समूहों के हित में या विभिन्न कार्यक्रमों में लगाने की शक्ति। इनमें नीतियों का निर्माण और इन्हें लागू करना, कानूनों का निर्माण करना, कानून का उल्थन्न करने वाले को दंड देना आदि। इस प्रकार पुलिस न्यायालय, काराग्रह आदि शक्ति भी राजनीतिक शक्ति के उपकरण हैं। राजनीतिक शक्ति का प्रयोग सरकार के विभिन्न अंगों के द्वारा किया जाता है जैसे कानून का निर्माण विधानमण्डल के द्वारा किया जाता है, कार्यपालिका कानून को लागू करता है तथा न्यायापालिका कानून की व्याख्या का काम करती है, रक्षा करती नौकरशाही तथा पुलिस के माध्यम से। लोगों से कानून व नियमों का पालन करवाने में राजनीतिक शक्ति एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

मार्क्सवादी लोग भी शक्ति की अवधारणा में विश्वास करते हैं। मार्क्सवादी राजनीतिक शक्ति को पूंजीपति वर्ग के हाथों का एक ऐसा औजार मानते हैं जिसके द्वारा आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न व्यक्ति (पूंजीपति) गरीब लोगों का शोषण कर सके। मार्क्स राजनीतिक और आर्थिक शक्ति में अन्तर नहीं मानता है। बल्कि उसकी मान्यता है कि राजनीतिक शक्ति के उत्पादन के स्तर पर उन आर्थिक सम्बन्धों का परिणाम होती है, जिसके माध्यम से शासक वर्ग आर्थिक स्तर पर सम्पन्न वर्ग के हितों की पूर्ती के लिए बनाये रखना चाहता है। कुछ लोग राजनीतिक शक्ति और राजनीतिक क्षमता में अन्तर करते हैं जबकि ये दोनों एक दूसरे की पूरक हैं।

2. आर्थिक शक्ति:- आर्थिक शक्ति से आशय है कि जब कोई सम्पन्न व्यक्ति या राष्ट्र अपने धन, सम्पदा, उत्पादन के साधनों के बल पर निर्धन लोगों या निर्धन राष्ट्रों के जीवन की परिस्थितियों पर

नियन्त्रण स्थापित करता है तो उसमें आर्थिक शक्ति निहित होती है। आर्थिक शक्ति राजनीतिक शक्ति पर हमेशा प्रभाव डालती है। उदाहरण के लिए, उदारीकरण के दौर में बड़े बड़े जमीदार, उद्योगपति और व्यापारिक घराने सरकार की नीतियों और निर्णयों को प्रभावित करते हैं और विकास की प्राथमिकताओं को निर्धारित के लिए अपने हितों को बढ़ावा देते हैं।

आज के इस युग में, आर्थिक शक्ति के स्वामी भिन्न-भिन्न तरीकों से राजनीति को प्रभावित करते हैं। उनके दबाव समूह ज्यादातर ताकतवर और प्रभावशाली होते हैं। उदाहरण के तौर पर भारत में व्यापारिक संगठन, किसान संगठन निर्बल और कमजोर होते हैं। वे सरकार को प्रभावित नहीं कर पाते हैं। कहा तो यह भी जाता है कि हमारी सरकार पूंजीपतियों के हाथ का खिलौना है। वे सरकार को अपने हितों के अनुसार नीतियाँ बनाने के लिए बाध्य करते हैं। क्योंकि जितने भी मुख्य समाचार पत्र पत्रिकाओं हैं उन पर व्यापारिक घरानों का कब्जा है। इसके अलावा बड़े-बड़े पूंजीपति और धन्ना सेठ अक्सर चोरी-छिपे राजनीतिक दलों और चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवारों को भारी वित्तीय सहायता देते हैं। चाहे राजनीतिक जनसाधारण के हितों की दुहाई देते हों, परन्तु भीतर से वे अपने वित्तदाताओं के हितों की रक्षा के लिए संकल्पबद्ध होते हैं।

3. विचाराधारात्क शक्ति:- वैचारिक शक्ति वह शक्ति है जिसके माध्यम से शासक वर्ग जनता के धार्मिक, नैतिक व सामाजिक मूल्यों को, भावनाओं, परम्पराओं आदि को समक्षकर इस तरह प्रयोग करते हैं, जिससे साधारण जनता उनकी स्वामी भक्त बनी रहे और बिना किसी झंझट के आज्ञा पालन करती रहें।

वर्तमान समय में, भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न प्रकार की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व्यवस्थाएं प्रचलित हैं, और उन्हें वैधता प्रदान करने के लिए पूंजीवाद, उदारवाद, साम्यवाद या समाजवाद इत्यादि को सर्वोत्तम शासन प्रणाली सिद्ध करने की कोशिश की जाती है। ये सारे वादे इन विचारधाराओं से सम्बन्धित हैं।

राजनीतिक विचारधारा की सबसे बड़ी विशेषता यह कि जब लोग मन से शासक वर्ग की नीतियों व निर्णयों का समर्थन करने लगते हैं और उन्हें चुनौती नहीं देना चाहते तब शक्ति शासक वर्ग की सत्ता को और सुदृढ़ बनाती है। मार्क्सवादी विचारकों के अनुसार वैचारिक शक्ति समाज में उपस्थित अन्य शक्तियों के बीच सम्बन्ध स्थापित करती है। यदि आर्थिक शक्ति, राजनीतिक शक्ति में बदलाव लाना चाहती है तो वह वैचारिक शक्ति का सहारा लेगी। मार्क्सवादी विचारक का चिन्तन का विषय ही यह है कि छोटा सा पूंजीपति वर्ग बहुसंख्यक सम्पन्न वर्ग पर, खुली प्रतियोगिता के बावजूद अपना प्रभुत्व कैसे जमाने में सफल रहता है। यह स्वाभाविक सी बात है समाज में जो वर्ग उत्पादन का स्वामी होता है वह मानसिक साधनों का भी स्वामी बन जाता है। इसी तरह पोलने का कथन है कि "वैचारिक शक्ति

समाज में सामंजस्य स्थापित करने तथा वर्ग विशेष के अधिपत्य को मजबूत करने का कार्य करती है।
“

10.3 सत्ता

“सत्ता किसी व्यक्ति, संस्था, नियम का आदेश का ऐसा गुण या क्षमता है जिसके कारण उसे सही या प्रमाणित मानकर स्वेच्छा से उसके निर्देशों का पालन किया जाता है।” जब तक किसी समाज या राज्य में सत्ता का प्रयोग नहीं होता तब तक नीतियों, नियम और निर्णय लागू या स्वीकार नहीं किये जा सकते हैं। अतः सत्ता को राज्य रूपी “शरीर की आत्मा” कहा जा सकता है। कोई भी राजनीतिक गतिविधि या कार्यक्रम सत्ता के आधार पर ही सम्भव होते हैं। सत्ता, शक्ति, प्रभाव तथा नेतृत्व का मुख्य साधन है। अपने सभी स्वरूपों में सत्ता शक्ति, प्रभाव, वैधता व नेतृत्व से जुड़ी हुई है।

सत्ता की निम्नलिखित प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है।

थियो हैमेन के शब्दों में, “सत्ता वह वैधानिक शक्ति है जिसके जोर पर अधिनस्थों से कार्य करता है। उन्हें इस के लिए बाध्य किया जा सकता है। आदेश का पालन न करने पर शासक उनके विरुद्ध कार्यवाही कर सकता है। यहाँ तक कि उन्हें कार्य से भी अलग कर सकता है।”

बायसर्टेड के शब्दों में, “सत्ता शक्ति के प्रयोग का वैधानिक अधिकार है स्वयं शक्ति नहीं।”

ऐलन के शब्दों में, “दिये गये कार्यों को सम्पन्न कराने के लिए दी गयी शक्तियों व अधिकार सत्ता है।”

10.3.1 सत्ता के आधार अथवा स्रोत

राजनीतिक अथवा प्रशासनिक सत्ता का शक्ति, प्रभाव आदि से निकट सम्बन्ध है परन्तु सत्ता का अपना स्वतन्त्र आस्तित्व है। सत्ता के अनेक स्रोत होते हैं। सत्ता का मूल आधार औचित्यपूर्णता होती है। इसके अतिरिक्त अन्य आधारों में विश्वास विचारों की एकरूपता, विभिन्न शक्तियों पर्यावरणात्मक दबाव, आन्तरिक संरचनाएँ, प्रशासनिक संगठन आदि होते हैं। सत्ता के निम्नलिखित स्रोत हैं।

1. धर्म:- धर्मसत्ता का महत्वपूर्ण आधार रहा है। प्राचीन काल से मध्ययुग तक धर्म का समाज पर प्रभाव रहा है। राजा के धर्म के अधीन होता था तथा राज्य में सभी नियम, कानून व सिद्धान्त धर्म पर आधारित थे। इस प्रकार धार्मिक नियमों का पालन कानून की भाँति किया जाता था।

2. शक्ति:- अध्ययन करते से ज्ञात होता है कि शक्ति प्राचीन काल से ही सत्ता का मूल आधार रही है। प्राचीनकाल में समाज अशान्ति व तनाव व्यापत रहता था। “जिसकी लाठी उसकी भैंस” वाला नियम प्रचलित था। जो व्यक्ति अधिक शक्ति सम्पन्न होता था। वह समाज के दूसरे लोगों से अपनी

आज्ञा का पालन करता था। राज्य के निर्माण, विस्तार और विकास में शक्ति ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। हॉब्स मैकियावे लो, मार्क्स आदि महान विचारकों ने शक्ति को राज्य सत्ता का एकमात्र आधार माना है। आधुनिक युग में भी सत्ता का आधार कानूनी शक्ति ही है।

3. पैतृक वंश:- पैतृक वंश परम्परा भी सत्ता का आधार रही है। प्राचीनकाल में जिन राज्यों के अन्दर राजतन्त्र विद्यमान था। जहाँ राजाओं की सत्ता का आधार पैतृक वंश की परम्परा थी। राजतन्त्र राजसिंहासन उत्तराधिकार में प्राप्त होता है। राज्य के लोग राजा के आदेशों का पालन इसलिए कहते हैं क्योंकि उनके पहले के परिवार के लोग भी अपने समकालीन राजाओं की आज्ञाओं का पालन करते रहे हैं।

4. दैवी अधिकार:- मध्ययुगीन राजाओं ने अपनी सत्ता का आधार दैवी अधिकार बताया था। वे कहते हैं कि राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है तथा उन्हें शासन करने की सत्ता ईश्वर से प्राप्त हुई है। और उनके आदेशों की अवहेलना करने का अर्थ है कि आप ईश्वर के आदेशों की अवहेलना कर रहे हो। फ्रांस में लुई 14 वॉ अपने आपको ईश्वर का इत कहता था। लेकिन वर्तमान समय में दैवी अधिकारों को सत्ता का आधार स्वीकार नहीं किया जाता है।

5. संविधान:- आधुनिक समय में राज्य में शासक की सत्ता का आधार उन राज्यों का संविधान होता है। संविधान में वे सिद्धान्त, नियम कानून निहित होते हैं जिनके आधार पर सत्ता की संरचना की जाती है। उदाहरण के तौर पर, भारत के राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, राज्यपाल, मुख्यमंत्री आदि की सत्ता का आधार वह संविधान है जो 26 जनवरी 1950 ई0 को लागू किया गया।

6. औचित्यपूर्णता:- आधुनिक समय में सत्ता का सबसे प्रमुख आधार औचित्यपूर्ण है। सत्ता के पीछे बाध्यकारी कानूनी शक्ति का होना ही जरूरी नहीं है। उसमें औचित्यपूर्णत ऐसी विचार है जो विश्वास पर आधारित होता है। जब लोग सत्ता की संरचना, कार्यों, नीतियों और निर्णयों के प्रति व्यापक विश्वास रखें और पूर्णसमर्थन दे तो उसे औचित्यपूर्णता कहते हैं।

10.3.2 सत्ता के प्रकार:

सत्ता को समझने के लिए विद्वान अपनी संकल्पनाओं को निरन्तर परिष्कृत करने का प्रयास करते रहते हैं। मैक्सवेबर ने सत्ता के तीन प्रकार बताये हैं। परम्परागत, बौद्धिक कानूनी और चमत्कारपूर्ण।

1. परम्परागत:- समाज में, जब प्रजा या अधीनस्थ, वरिष्ठ अधिकारियों के आदेशों का पालन इस आधार पर मानते हैं कि हमेशा से ऐसा होता आया है तो सत्ता का यह प्रकार परम्परागत कहा जाता है। अर्थात् कुछ लोग सत्ता को अपने ऊपर इसलिए स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि उनका यह विश्वास होता है कि इन नियमों का अनुसरण अति प्राचीन काल से किया जा रहा है। अतः जो परम्परागत या

प्रथा दीर्घकाल से अपनायी जा रही है वह निराधार नहीं हो सकती है। कबीलों, गाँवों के बड़े-बूढ़ों द्वारा सत्ता का प्रयोग ऐसे विश्वासों पर ही होता है।

2. बौद्धिक कानूनी:- जब अधीनस्थ किसी नियम को इस आधार पर स्वीकार करते हैं कि वह नियम उन उच्चस्तरीय अमूर्त नियमों के साथ सम्मत है जिसे वे औचित्यपूर्ण समझते हैं, तब इस स्थिति में सत्ता को बौद्धिक कानूनी माना जाता है। अधिकारी तन्त्र बुद्धिसम्पन्न कानूनी अधिकार को सर्वोत्तम उदाहरण है। उदाहरण के लिए, जब भारत में लोक सभा चुनाव के बाद लोकसभा सदस्य अपने नेता का चुनाव करके उसे प्रधानमंत्री की कुर्सी पर बैठा दे तो यह सत्ता का बौद्धिक कानूनी आधार होता है।

3. चमत्कारपूर्ण:- इतिहास का अध्ययन करने से ज्ञात होता है। लोग कुछ ऐसे नेताओं की सत्ता को स्वीकार करने या उन्हें सत्ता प्रदान करने के लिए तैयार होते हैं, जिनकी शक्ति ने तो परम्परा के आधार पर मिल तो है और न ही बौद्धिक कानूनी प्रणालियों में, वे ऐसे नेता भी नहीं होते हैं जिनकी जनता के बीच कोई पारम्परिक प्रतिष्ठ है। इस प्रकार के नेता कभी कभी असामान्य काम कर जाते हैं जिससे वो इतिहास के पन्नों में दर्ज हो जाते हैं। ऐसे नेता ही चमत्कारी नेता कहलाती हैं। गाँधी, लेनिन और हिटलर आदि ऐसे ही चमत्कारपूर्ण नेता थे।

शक्ति और सत्ता-

राजनीति के अन्तर्गत किसी भी निर्णय को लागू करने के लिए शक्ति का प्रयोग आवश्यक है। जहाँ कहीं पर भी आधुनिक समय में सत्ता का प्रयोग होता है वह सत्ता शक्ति का पर्याय बन जाती है और शक्ति की भूमिका सबसे प्रभावशाली वहाँ सिद्ध होती है जहाँ शक्ति केवल बल प्रयोग का साधन नहीं रह जाती बल्कि वैधता के साथ मिलकर सत्ता का रूप धारण कर लेती है। अतः सत्ता वह शक्ति है जिसे न्यायचित माना जाता है। जिसे सभी वैध स्वीकार करते हैं या तो उसके निर्णयों पर सहमति देते हैं या फिर असहमति प्रदान करते हैं। शक्ति से संघर्ष होने पर व्यक्ति या तो समर्थन करता है या विरोध प्रकट करता है जबकि सत्ता से संघर्ष की स्थिति में प्रायः एक ही मार्ग दिखाई देता है उसका पालना सत्ता औचित्य युक्त होती है इसलिए इसका विरोध शासन के लिए ठीक नहीं माना जाता है। इस प्रकार शक्ति में बल निहित होता है और सत्ता में शक्ति बल के पीछे जब सहमति होती है तब वह शक्ति का रूप ले लेता है। और शक्ति के साथ जब औचित्यपूर्णता जुड़ जाती है तब वह सत्ता का रूप धारण कर लेती है। जब तक राज्य में व्यवस्था कायम रहती है तब तक जनसामान्य और समाज उसका समर्थन करता रहता है किन्तु बिना बल शक्ति प्रभावी नहीं दिखाई देती है। इस प्रकार सत्ता में शक्ति और शक्ति में बल का समावेश रहता है।

10.4 वैधता

शक्ति सत्ता और वैधता में अंतरसंबंध है और यह राजनीति विज्ञान महत्वपूर्ण अवधारणा है। शक्ति के साथ जब वैधता जुड़ जाती है तब वह सत्ता कहलाती है। राजनीति विज्ञान में वैधता (Legitimacy) समान्यतः शासकीय कानून अथवा व्यवस्था के मध्य अधिकार और प्राधिकरण की स्वीकृति है।

वैधता वास्तव में शक्ति और सत्ता के बीच की कड़ी है। वैधता ऐसा तत्व है जो पाशविक शक्ति को मानी सत्ता के रूप में ढाल देता है और लोग अपनी इच्छा से उस सत्ता को मानते हैं। जॉन लॉक से पहले राज-पद को दैवीय उत्पत्ति के सिद्धांत को वैधता का आधार माना गया था। जॉन लॉक ने इसका खंडन करते हुए लोगों की सहमती को राज्य की वैधता का आधार बनाया। वहीं रूसो ने लोकप्रिय प्रभुसत्ता के विचार को राज्य की वैधता का आधार बनाकर लोकतंत्र की भावना को बढ़ावा दिया। आज की लोकतंत्रीय प्रणालियों में जनता की भागीदारी को राज्य की वैधता का प्रमाण माना जाता है। कभी-कभी लोकतंत्र और अधिनायक-तंत्र में अंतर करने के लिए यह तर्क दिया जाता है कि लोकतंत्र का प्रधान लक्षण वैधता है जबकि अधिनायकतंत्र मुख्यतः शक्ति या बल- प्रयोग के सहारे टिका होता है।

राज्य के पास शक्ति या दमनात्मक बल होता है जिस प्रयोग राज्य कर सकता है इसी लिए लोग राज्य की आगया का पालन करते हैं। यहाँ तक कि जब वास्तविक रूप में जबरदस्ती (दमन) का उपयोग नहीं किया जा रहा हो तब भी इसका खतरा मौजूद रहता है।

राज्य को राज्य की अवज्ञा करने वाले लोगों पर नियंत्रण रखने के लिए एक दमनकारी तंत्र बनाये रखना चाहिए लोगों को लगातार दबाव की धमकी में रखने से लगातार टकराव की स्थिति पैदा रहेगी। इससे राज्य खुद को सत्ता में बनाये रखने के सवाल में उलझा रहेगा।

नागरिकों को केवल बल के द्वारा नियंत्रित करना सम्भव नहीं है और उचित भी नहीं है। सत्ता को लोगों को आज्ञाकारिता इस आधार पर मिलती है कि जो राज्य शासन कर रहा है वह उनके लिए अच्छा और लाभदायक है। वह सरकार आमतौर पर स्वीकार्य होती है जो कानून द्वारा स्थापित प्रक्रियाओं के माध्यम से सत्ता में आई है। राज्य और सरकार का गठन नियमों और प्रक्रियाओं का पालन करते हुए उचित रूप से किया गया है इसलिए लोगों को इसका पालन करना चाहिए। यह लोकप्रिय विश्वास ही राज्य को वैधता प्रदान करता है। मैक्स वेबर ने सबसे पहले एक व्यवस्थित सिद्धांत दिया जिसके द्वारा वैधता प्राप्त की जा सकती है। यदि सत्ता को लम्बे समय तक कायम रखना है तो उसे सार्वजनिक स्वीकृति मिलनी ही चाहिए। राजनीतिक सत्ता शासन करने के अधिकार की स्वीकृति पर आधारित है राजनीतिक शक्ति की नींव वैधता है।

वैधता को उस राजनीतिक स्थिति के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें सत्ता धारक सत्ता पर अपनी पकड़ को उचित ठहराने में सक्षम होते हैं।

डोल्फ स्टर्नबर्जर ने इसे शासकीय शक्ति की नींव माना है जिसके अनुसार सरकार को यह चेतना रहती है कि उसे शासन करने का अधिकार है तथा दूसरी ओर शासितों द्वारा उस अधिकार को स्वीकार किया जाता है।

एच. जी. वेल्स के अनुसार, लोकतान्त्रिक राजनीति की स्थिरता व्यवस्था न केवल आर्थिक विकास पर निर्भर करती हैं, बल्कि इस पर भी निर्भर करती है वैधता लोगों के विश्वास पर टिकी है। मौजूदा राजनीतिक संस्था को लोगों की सहमती ही वैध बनती है।

जहाँ लोग परिवर्तन के लिए सहमत होते हैं वहाँ सरकारें अपनी वैधता खो देती हैं और राजनीतिक संस्थाएं परिवर्तित हो जाती हैं परिवर्तन के संकट के परिणामस्वरूप वैधता का संकट उत्पन्न होता है।

सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं की प्रभावशीलता वैधता पर निर्भर करती है, लेकिन लोकतंत्रीय व्यवस्था में वैधता का महत्त्व सर्वाधिक है। लोकतंत्र जन सहमती पर आधारित शासन होता है, अतः लोकतंत्र में भय और आतंक के आधार पर जनता से आज्ञा पालन करा पाना कठिन हो जाता है। एस. एम. लिपसेट “ किसी विशिष्ट लोकतंत्र की स्थिरता न केवल आर्थिक विकास पर ही, अपितु वहाँ की राजनीतिक व्यवस्था की वैधता और क्षमता पर भी निर्भर करती है।” वैधता के अंतर्गत राजनीतिक व्यवस्था के सामान्य जन को यह विश्वास होता है कि सत्ता धारक की सत्ता और उसका प्रयोग सामान्य स्वीकृत नियमों पर आधारित है।

डेविड एप्टर ने कुछ कारन बताये है जिनकी वजह से वैधता को खोया जा सकता है –

1 राजनीति के कुछ महत्वपूर्ण सदस्य यदि सरकार से अपना समर्थन वापस ले लें तो वैधता समाप्त हो सकती है।

2 एक नए जागरूक राजनीतिक समूह के उदय के कारण भी वैधता समाप्त हो सकती है।

3 राजव्यवस्था के राजनीतिक रूप से महत्वपूर्ण सदस्यों को राजनीतिक व्यवस्था द्वारा हटाये जाने के कारण वैधता समाप्त हो सकती है।

वैधता की विशेषताएं

1 वैधता राजनीतिक रूप से सत्ता की कार्यात्मकता पर निर्भर करती है।

- 2 वैधता लोगों की दायित्व पालन करने की भावना पर निर्भर करती है।
- 3 प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक वैधता की अवधारणा की प्रत्योज्यता होती है।
- 4 वैधता सरकार के आदर्श प्रकार पर निर्भर करती है।
- 5 वैधता विश्वास विकसित करने व्यवस्था है।
- 6 वैधता में प्रभाव भी शामिल होता है।
- 7 वैधता सम्बंधित मूल्यों पर निर्भर करती है।
- 8 वैधता शक्ति को सत्ता में परिवर्तित करने का गुण है।
- 9 वैधता विशाल सामाजिक स्वीकृति पर आधारित है।

वैधता को प्राप्त करने व स्थिर रखने के उपाय

- 1 नई परिस्थितियों के अनुसार राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन किया जाये।
- 2 देश की स्थापित परम्पराओं की रक्षा की जाये।
- 3 जिस विधान के आधार पर शक्ति ग्रहण की गयी हो उसकी रक्षा की जाये।
- 4 वैधता बनाये रखने के लिए नेतृत्व में चमत्कारक गुण होना चाहिए।
- 5 लोकतान्त्रिक ढांचे में सशस्त्र सेनाओं को राजनीतिक सत्ता के अधीन होना चाहिए।

वैधता का स्तर हर स्थिति में अलग-अलग होता है यह राज्य के प्रदर्शन पर निर्भर करता है। हालाँकि कानून है कि राज्य की आज्ञा का पालन सभी को करना होता हर जो आज्ञा का पालन नहीं करते हैं उनके खिलाफ दंडात्मक करवाई की जा सकती है। कई विद्वानों का मत है कि कोई भी स्जसन- प्रणाली सम्पूर्ण जनता की दृष्टि से पूर्ण रूप से वैध नहीं हो सकती है। अत्यंत लोकप्रिय शासन-प्रणाली के अंतर्गत भी थोड़े बहुत विरोध के स्वर सुनाई देते हैं। वैधता को मापना आसन नहीं है परन्तु यदि राजनीतिक प्रणाली के अंतर्गत कानूनों का उल्लंघन नहीं हो रहा हो, हिंसा की घटनाएँ नहीं हो रही हैं और असहमति-आन्दोलन नहीं हो रहे हों तो वैधता को मापा जा सकता है। किसी प्रणाली में शासन और प्रशासन में फैला हुआ भ्रष्टाचार उसकी वैधता को समाप्त कर सकता है। यह भी संभावना रहती है कि लोग कुछ नेताओं के पार्टी अपनी आस्था न रखें पर राजनीतिक प्रणाली की वैधता में उनका

भरोसा रहे। यदि पत्रकार, बुद्धिजीवी व न्यायाधीश सतर्क और ईमानदारी से काम करें तो राजनीतिज्ञों व अधिकारियों के भ्रष्टाचार में नियंत्रण रहता है और वैधता भी सुरक्षित रहती है।

2. वस्तुनिष्ठ प्रश्न:-

(1.) शक्ति की अवधारणा सर्वप्रथम किसने दी।

- (a) मैकियावली (b) लासवेल
(c) कार्ल मार्क्स (d) बेकर

(2.) शक्ति के स्रोतों के सम्बन्ध में एक ठीक है-

- (a) ज्ञान (b) साधन
(c) निपुणता (d) उपर्युक्त सभी

(3.) जिसकी लाठी उसकी भैंस कौन सी शक्ति का रूप है-

- (a) ज्ञान (b) साधन
(c) निपुणता (d) उपर्युक्त सभी

(4.) सत्ता का निम्न आधार है

- (a) संविधान (b) बल
(c) अनैतिकता (d) उपरोक्त सभी

(5) लैटिन शब्द 'लेगितिमस' का अर्थ है :

- (a) वैध (b) हानिकारक
(b) प्राधिकरण (d) शक्तिशाली

10.5 सारांश

उपरोक्त अध्ययन के आधार पर राजनीति में शक्ति की भूमिका को देखते हैं कि प्रायः शक्ति को बल-प्रयोग की धारणा से साथ मिला दिया जाता है। आधुनिक राजनीति-चिन्तन के इतिहास का अध्ययन करें तो ज्ञात होता है कि निकोलो मेकियावली और हॉब्स के समय से लेकर बीसवीं सदी के

अनुभवमूलक सिदान्तकारों तक शक्ति की अवधारणा ऐसी क्षमता के रूप में की गई है कि एक मनुष्य, दूसरे मनुष्य से उसकी इच्छा के विरुद्ध आज्ञापालन कैसे करा सकता है? यदि हम दूसरों लोगों से आज्ञापालन कराने या कोई कार्य कराने में उनकी सहमति भी प्राप्त कर ले तो शक्ति की भूमिका ओर प्रभावशाली हो जाती है।

सहमति प्राप्त करने का सर्वोत्तम उपाय वैधता है। शासक वर्ग जनता की सहमति प्राप्त करने के लिए 'विचारधारा' का सहारा लेता है। वह अपने आदेश को इस तरह से पेश करता है जैसे वो सर्व-हित के लिए किया गया हो जबकि वह अपने स्वार्थ पर टिका होता है। जैसे अरस्तू ने दास-प्रथा को उचित ठहराने के लिए यह तर्क दिया कि की दास में सदगुण की कमी पायी जाती है। अतः वह स्वामी से सदगुण का लाभ ले सकता है।

10.6 शब्दावली

लोकमत:- सार्वजनिक महत्व के किसी विषय पर जनता की आम राय, विचार या मत जिसका पता लगाया जा सके।

दबासमूह:- ऐसा संगठन जो अपने सदस्यों के किन्हीं संकीर्ण हितों की रक्षा के लिए सरकार को प्रभावित करने का प्रयत्न करता है।

विचारधारात्मक शक्ति:- प्रचलित या प्रस्तावित व्यवस्था को सर्वोत्तम व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत करके या उसे लोगों की दृष्टि में उचित ठहराकर उसके लिए लोगों की सहमति और समर्थन प्राप्त करने की क्षमता।

10.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.b 2. b 3.b 4. a 5.a

10.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ०वी०एल साह व डॉ० नीता बोरा, राजनीतिक विज्ञान का परिचय, अंकित प्रकाशन हल्द्वानी।
2. ओम प्रकाश गाबा, राजनीतिक सिद्धान्त की रूपरेखा, मयूर पेपरबैक्स नोएडा।
3. डॉ० पुष्पेश पाण्डे व डॉ० विजय प्रकाश पन्त, राजनीतिक सिद्धान्त, जगदम्बा पब्लिसिंग कम्पनी नई दिल्ली।

4. डॉ.पुखराज जैन व डॉ. बी. एल. फडिया , आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।

10.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

- 1 .वीरकेश्वर प्रसाद -राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त, ज्ञानदा पब्लिकेशन, नयी दिल्ली
- 2 .डी0डी0 राफेल - राजनीतिक दर्शन की समस्यायें, मैकमिलन लन्दन

10.10निबन्धात्मक प्रश्न

- 1- शक्ति से आप क्या समझते हैं? इसके स्रोतों का वर्णन कीजिए।
- 2- शक्ति को परिभाषित कीजिए। इसके विभिन्न प्रकारों की विवेचना कीजिए।
- 3- सत्ता को परिभाषित कीजिए। सत्ता के प्रकार बताइयें।
- 4-सत्ता से आप क्या समझते हैं? इसके कार्य और विशेषताएँ बताइये।
- 5- वैधता क्या है? वैधता को परिभाषित करते हुए , उसकी आवश्यकता पर प्रकाश डालिए ।

इकाई 11 : कानून की अवधारणा

इकाई की संरचना

- 11.0 प्रस्तावना
- 11.1 उद्देश्य
- 11.2 कानून का अर्थ एवं परिभाषा
- 11.3 कानून के आवश्यक तत्व
- 11.4 कानून के स्रोत
- 11.5 कानून के प्रकार
 - 11.5.1 मेक्ल्वर के अनुसार कानून के प्रकार
- 11.6 सारांश
- 11.7 शब्दावली
- 11.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 11.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची
- 11.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 11.11 निबन्धात्मक प्रश्न

11.0 प्रस्तावना

इसके पूर्व की इकाई में हमने शक्ति सत्ता और प्रभाव का अध्ययन किया है .जिसमें,शक्ति के अर्थ उसके स्वरूप और स्रोत तथा सत्ता के अर्थ ,सत्ता के आधार अथवा स्रोत, सत्ता के प्रकार, प्रभाव के अर्थ उसके प्रमुख स्रोत के बारे में जानकारी प्राप्त हुई . अध्ययन के आधार पर राजनीति में शक्ति की भूमिका को देखते है कि प्रायः शक्ति को बल-प्रयोग की धारणा से साथ मिला दिया जाता है।

हमें हर दिन अपने जीवन को आसान बनाने के लिए कुछ नियम-कानून की जरूरत होती है । कानून हमारे जीवन के हर एक पहलु को प्रभावित करता है । कानून ही हमें शिक्षा, स्वस्थ, रोजगार आदि महत्वपूर्ण क्षेत्रों में सुरक्षा दिलाने का काम करता है । जब हम सड़क पर होते हैं तो तमाम सड़क कानूनों से बधे होते हैं और इन कानूनों के आभाव में अराजकता की स्थिति पैदा हो सकती है । कानून हर व्यक्ति के लिए इतना महत्वपूर्ण है कि उसके बारे में जानकारी होना जरूरी है जैसे कानून का अर्थ , परिभाषा, स्रोत , प्रकार आदि ।

इस इकाई में कानून की अवधारणा का विशेष रूप से अध्ययन करेंगे ।

11.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम यह जान सकेंगे –

1. कानून का अर्थ , परिभाषा , प्रकृति और स्रोतों को जान पाएंगे ।
2. कानून का वर्गीकरण करने में सक्षम होंगे ।
3. कानून का प्रवर्तन कैसे होता है जान पायेंगे ।

11.2 कानून का अर्थ एवं परिभाषा

मनुष्य समाज में रहता है और हर मनुष्य के विचार, लक्ष्य और आदर्श अलग-अलग होते हैं । इस लिए उनके कार्यों को नियंत्रित करने के लिए कुछ एकसमान नियम होते हैं इन एकसमान नियमों को जो मानव व्यवहार को नियंत्रित करते है उन्हें कानून कहा जाता है । राजनीतिक सिद्धांतों में कानून का एक महत्वपूर्ण स्थान है । कानून राजनीति से करीब से जुड़ा हुआ है कानून के बिना राज्य अराजक हो जायेगा और राज्य के बिना कानून अर्थहीन है । कानून की अवधारणा सभ्य समाज के अस्तित्व के साथ ही उपजी है । राज्य अपने नागरिकों के लिए जो निर्देशात्मक नियम बनता है, उन्हें हम विधि या कानून कहते हैं । राज्य सभी संगठनों में सबसे ऊँचा स्थान रखता है इस लिए राज्य द्वारा दिए गये

कानूनों का पालन सभी सदस्यों द्वारा किया जाता है। निर्देशात्मक कानून यह बताते हैं कि किस परिस्थिति में मनुष्य को क्या करना चाहिए या क्या नहीं करना चाहिए। लॉ शब्द पुराने ट्यूटनिक मूल 'लैग' से बना है, जिसका अर्थ स्थिर या समान रूप से स्थित होना है। लॉ शब्द लेटिन भाषा के शब्द के जूस (jus) जो की jungere से जुड़ा है जिसका मतलब बंधन / बंधना है। कानून का सामान्य अर्थ मानवीय कार्यों को निर्देशित करने के लिए नियमों का समूह है।

कानून की कोई एक सामान्य परिभाषा नहीं है जिससे उसे पूर्ण रूप से समझा जा सके अलग अलग विद्वानों ने इसे अलग तरह से परिभाषित किया है।

अरस्तू “ परिपूर्ण कानून मानव प्रकृति में निहित है और मानव प्रकृति से प्राप्त किया जा सकता है।

आस्टिन “ कानून संप्रभु का आदेश है”

पेटन “ कानून उन नियमों का निकाय है जो समुदायों में बाध्यकारी नियमों के रूप में प्रचलित होते हैं और जिसके द्वारा नियमों के बाध्यकारी प्रावधान का सक्षम बनाने के लिए नियमों को पर्याप्त अनुपालन सुनिश्चित किया जाता है।

ए. वी . डायसी “ कानून जनमत का प्रतिबिम्ब है”

जर्मन न्यायशास्त्री इहरिंग के अनुसार “ कानून राज्य की नियंत्रण की शक्ति है, जिसका उद्देश्य व्यक्तिगत और सामाजिक हितों का समन्वय करके उनकी रक्षा करना और संघर्ष के अवसरों को कम करना है। कानून द्वारा समाज में अच्छे जीवन की स्थितियों की गारंटी मिलती है।”

फेडरिक कार्ल वोन सेविग्नी (Savigny) “ कानून समुदाय के भीतर अचेतन विकास का विषय है जिसे ऐतिहासिक परपेक्ष्य में समझा जा सकता है सेविने के सिद्धांत वोक्सजिस्ट के अनुसार कानून का तात्पर्य लोगों की इच्छा है।

रस्कोई पाउंड “ कानून राजनैतिक रूप से संगठित समाज में बल के सुव्यवस्थित प्रयोग के माध्यम से सामाजिक नियंत्रण है।

वुडरो विल्सन के अनुसार “कानून प्रचलित विचार और व्यवहार का वह अंश है जिसे एक सामान नियमों के रूप में स्पष्ट और औपचारिक मान्यता दी गयी हो, और इन नियमों को शासन की सत्ता और शक्ति का समर्थन प्राप्त हो।

जे. डब्लू. साल्मंड “ कानून उन सिद्धांतों का समुच्चय है जिन्हें राज्य मान्यता देता है और न्याय के प्रवर्तन के दौरान लागू करता है।

कानून का पालन राज्य के सभी सदस्यों के लिए बाध्यकारी है। इनकी खास बात यह होती है कि हर सदस्य के लिए सामान रूप से लागू होते हैं। इन कानूनों की अवहेलना करने वालों को दण्ड दिया जाता है। इन्हें प्रयोग करने की निश्चित प्रक्रिया होती है।

11.3 कानून के आवश्यक तत्व

- 1 एकरूपता कानून की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है।
- 2 कानून के लिए समाज की जरूरत होती है क्योंकि समाज के संचालन के लिए नियमों की जरूरत होती है।
- 3 कानून बनाने व उन्हें लागू करने के लिए संप्रभु सत्ता की जरूरत होती है।
- 4 समाज के सदस्यों को कानून का पालन करना होता है अन्यथा राज्य द्वारा दण्डित होना पड़ता है।
- 5 कानून का मुख्य उद्देश्य सामाजिक व्यवस्था को सुनिश्चित करना होता है, जिससे मानवता का भला हो सके और कानून पालन समाज के हित के लिए भी किया जाता है।
- 6 कानून निश्चित व सर्वव्यापक होते हैं। कानून सभी पर सामान रूप से लागू होते हैं।

प्राचीन यूनान में प्लेटो व अरस्तू दोनों ने ही कानून के शासन का समर्थन किया। मध्य युग में कानून को ईश्वरीय विधान के रूप में माना गया। आधुनिक युग की शुरुआत में हॉब्स ने सबसे पहले माना कि कानून परामर्श नहीं बल्कि आदेश होता है। जॉन आस्टिन ने कानून को संप्रभु का आदेश बताया और इस बात पर बल दिया कि यदि कानून की अवमानना करने वाले को दंड दिया जायेगा। वहीं आधुनिक विचारक मेक्स वेबर ने कानून में बल प्रयोग को आवश्यक बताया। आधुनिक दृष्टि में कानून का मतलब बल प्रयोग ही नहीं है बल्कि उसकी प्रमाणिकता, सर्वमान्यता और उसे सिद्ध

करने से है। नागरिक भी कानून का पालन इसी लिए करते हैं क्योंकि कानून सर्वमान्य नियमों का द्योतक है। इन नियमों का स्वभावतः पालन किया जाता है व समाज के लिए मूल्यवान समझे जाते हैं। जब कानून का पालन नहीं किया जाता है तब बल- प्रयोग या दंड के भय का प्रयोग किया जाता है। बल – प्रयोग के बिना भी कानून का पालन संभव है। इस प्रकार कानून का सार तत्व प्रमाणिकता है। प्रमाणिकता का अर्थ यह है कि नागरिक उस कानून को उचित, कल्याणकारी या सुविधाजनक मानकर अपने-आप उसका पालन करने को तत्पर हों। प्रमाणिकता ही कानून को स्थायी रूप देती है। अगर कोई तानाशाह बल -प्रयोग करके मनमाने कानून लागू कर दे तो प्रमाणिकता के आभाव में वे नागरिकों से पूर्ण निष्ठा नहीं प्राप्त कर पाएंगे, धीरे-धीरे विद्रोह की भावना पनपते रहेगी और मौका मिलते ही तानाशाह के कानून को खत्म कर देंगे। यदि कानून प्रमाणिक होगा तो नागरिक सहर्ष उसका पालन करेंगे।

कानून का मुख्य लक्षण यह है कि उसे नागरिक अपनी इच्छा से माने। कानून प्रचलित मूल्यों के अनुरूप होना चाहिए और नागरिकों की सहमति पर आधारित व तर्कसंगत होना चाहिए।

11.4 कानून के स्रोत

कानून विकास का परिणाम है। कानून के विकास में अनेकों कारकों की भागीदारी रही है। इन कारकों को कानून के स्रोत कहा जाता है। जो निम्नलिखित हैं :

1 रीति-रिवाज या परम्पराएं (Customs)- परंपरा कानून का प्रारंभिक स्रोत है। रीति-रिवाजों का निर्माण नहीं होता वरन धीरे-धीरे उनका विकास होता है। ये समाज के वे प्रचलित नियम होते हैं, जिन्हें समाज के सभी लोग लम्बे समय से मानते चले आ रहे हैं। इन रीति रिवाजों के पीछे सामाजिक संगठन का नियंत्रण तथा समाज का नैतिक बल रहता है। यह समाज में ज्यादा प्रचलित हो जाते हैं तो राज्य द्वारा इन्हें कानून का रूप दे दिया जाता है।

2 धर्म – परम्पराओं की तरह धर्म भी कानून का आधार है। प्राचीन समाज में धर्म, विश्वास और इस तरह अन्य चीजें लोगों के जीवन से जुड़ी होती थी। अगर हम प्राचीन रोम का इतिहास देखें तो कानून बहुत हद तक धार्मिक नियमों पर आधारित था। आज भी भारत में विवाह और उत्तराधिकार के नियम धर्म पर आधारित हैं।

3 कानूनी टीकाएँ- अनेक विधिवेत्ताओं ने अलग-अलग देश के कानून के तत्व की व्याख्या देने के लिए अपनी टीकाएँ लिखी हैं। ऐसे प्रश्न जिनके विषय में कानून स्पष्ट नहीं है, उन पर उपयुक्त तर्क व प्रमाण देकर अपनी राय व्यक्त की है। विधिवेत्ता ने अपनी बात प्रभावशाली तरीके से की हो कि उसे कानून के बराबर माना जाने लगा हो। हालाँकि कुछ विरली टीकाओं को ही इतना महत्व मिलता है जैसे ब्रिटेन में कोक और ब्लेक्स्टन की टीकाओं को बहुत मान्यता दी जाती है। न्यायलय भी अपने निर्णयों के आधार के रूप में इन टीकाओं को लेते हैं।

4. न्याय-निर्णय – कई मामलों में कानून अस्पष्ट या अनिश्चित होता है ऐसे में न्यायाधीश उपक्त तर्क व प्रमाण देकर अपना अभिमत देते हैं जो कानून की तरह मान्य होता है। समय समय पर न्यायलयों द्वारा दिए गये निर्णयों कानून को नई व्याख्या देते हैं जो भविष्य के लिए आधार बन जाते हैं।

5. साम्या (Equity)- जब कानून तो स्पष्ट हो पर न्यायाधीश को यह लगे कि संबद्ध पक्ष को सहायता (रिलीफ) देना न्याय होगा तो न्यायाधीश साम्या के सिद्धांत का प्रयोग करते हुए ऐसी सहायता की व्यवस्था करता है। यह भी एक तरह से न्यायाधीश निर्मित कानून है।

6. विधि-निर्माण – ऐसे कानून जो देश के विधानमंडल के द्वारा विधिवत पारित किये जाते हैं, वे कानून का मुख्य स्रोत हैं विधायिका कानून का प्रत्यक्ष स्रोत हैं। आज के युग में सरकार के तीन अंगों में से विधायिका कानून बनाती है। विधायिका नए कानून बनती है, पुराने कानूनों को संशोधित करते हैं। कानून बनाने का उद्देश्य लोक कल्याण करना होता है।

11.5 कानून के प्रकार

1. व्यक्तिगत कानून – ऐसे कानून जो व्यक्ति के पारस्परिक संबंधों को निश्चित करते हैं। उद्धरण के लिए ऋण सम्बन्धी कानून।

2. संवैधानिक कानून – ऐसे कानून जो किसी संस्था द्वारा राज्य के शासन के लिए बनाये जाते हैं। ये कानून विधानमंडल द्वारा भी बनाये जा सकते हैं और परम्पराओं के द्वारा भी इनका विकास हो सकता है। ये लिखित या अलिखित हो सकते हैं।

3. साधारण कानून

ये वे लिखित कानून हैं जो राज्य के विधानमंडल द्वारा बनाये जाते हैं और व्यक्तियों एवं राज्यों के संबंधों को निर्धारित करते हैं।

4. अध्यादेश

ये वे आदेश होते हैं जो असाधारण परिस्थितियों में राज्य की कार्यपालिका के प्रधान द्वारा जारी किये जाते हैं। ये एक निश्चित समय के लिए जारी किये जाते हैं और इनका प्रभाव वही होता है, जो विधानमंडल द्वारा पारित कानून का।

5. सामान्य कानून –

ये कानून प्राचीन रीति- रिवाज तथा परम्पराओं पर आधारित होते हैं। इंग्लैंड के शासन में इनका विशेष महत्व है।

11.5.1 मेक्ल्वर ने कानून को दो भागों में बांटा है

राष्ट्रीय कानून और अन्तराष्ट्रीय कानून

1. राष्ट्रीय कानून – राष्ट्रीय कानून को संवैधानिक कानून और साधारण कानून में उपविभाजित किया है। साधारण कानून व्यक्तियों से सम्बंधित कानून है जो दो तरह के हो सकते हैं – लोक कानून और व्यक्तिगत कानून। लोक कानून राज्य व व्यक्ति के संबंधों को नियंत्रित करता है। व्यक्तिगत कानून व्यक्तियों के आपसी सम्बन्ध से सम्बंधित है। लोक कानून को प्रशासकीय कानून व साधारण कानून में बांटा जा सकता है। प्रशासकीय कानून राज्य व अधिकारियों से सम्बंधित है। साधारण कानून नागरिकों और राज्य के सम्बन्ध को सम्बंधित है। संवैधानिक कानून राज्य के ढाँचे, सरकार की प्रकृति और क्षेत्र से सम्बंधित है।

2. अन्तराष्ट्रीय कानून – शांति या युद्ध के समय एक राज्य का दूसरे राज्य के बीच सम्बन्ध अन्तराष्ट्रीय कानूनों पर आधारित होता है। विश्व के स्वतंत्र राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध को निर्धारित करने वाले कानूनों को अन्तराष्ट्रीय कानून कहते हैं। ओपेन्हेम के अनुसार “ अन्तराष्ट्रीय विधि प्रयासों और परम्पराओं का वह समूह है जो सभ्य राज्यों द्वारा अपने आपसी संबद्ध में कानूनी तौर पर बाध्य समझा जाता है।

कानून का लक्ष नागरिकों के सामाजिक जीवन को अधिक उन्नत और उत्कृष्ट बनाना है। कानून समाज के प्रचलित मूल्यों और मान्यताओं का प्रतिनिधित्व करता है। कानून को सामाजिक परिवर्तन का सशक्त मध्यम बनाने के लिए जरूरी है कि कानून लोकमत पर आधारित हों। इस तरह लोकतंत्र को प्राथमिकता दी जाये और इसके साथ-साथ राज्य को शिक्षा, स्वस्थ, रोजगार आदि की व्यवस्था पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। क्योंकि इसके आभाव में लोग सशक्त लोकमत का निर्माण नहीं कर पाएंगे।

समानता और स्वतन्त्रता की तरह न्याय भी एक आधुनिक आदर्श के रूप में स्वीकार किया जाता है, लेकिन फिर भी न्याय पर प्राचीन काल से विचार होता आया है। बदलते समय के अनुसार न्याय के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन देखने को मिलता है। जहाँ पहले न्याय से उत्पन्न सद्गुणों को एक व्यक्ति में खोजने का प्रयास किया जाता था तो आधुनिक दृष्टिकोण में न्याय के आदर्श को एक व्यवस्था में खोजने का प्रयास किया जाता है। दूसरे शब्दों में जहाँ पहले एक न्यायपूर्ण व्यक्ति की बात की जाती थी, तो वहीं अब सामाजिक न्याय के आदर्श को स्वीकार किया जाता है। सामाजिक न्याय की संकल्पना के अन्तर्गत यदि व्यवस्था न्यायपूर्ण नहीं होती तो सामाजिक परिवर्तन की माँग की जाती है।

न्याय के सर्वप्रथम दर्शन, ग्रीक, विचारकों प्लेटो और अरस्तू में मिलते हैं। प्लेटो ने चार सद्गुणों को स्वीकार किया, यथा-विवेक, साहस, संयम व न्याय। इन चारों में न्याय का सर्वाधिक महत्व है क्योंकि न्याय शेष तीनों सद्गुणों का संतुलन ही है और अन्तिम सद्गुण है। जबकि शेष तीनों सद्गुण साधन हैं। सरल शब्दों में प्लेटो के अनुसार उस व्यक्ति को न्यायपूर्ण कहा जायेगा जिसमें विवेक, साहस व संयम तीनों सन्तुलित अवस्था में हों। यहाँ प्लेटो के न्याय के आदर्श की तुलना भारतीय परम्परा के पुरुषार्थों से की जा सकती है क्योंकि जिस प्रकार भारतीय परम्परा में धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष के रूप में चार पुरुषार्थों को स्वीकार करते हुए मोक्ष को अन्तिम या सहायक पुरुषार्थ माना गया है। मोक्ष को साध्य एवं शेष तीनों पुरुषार्थों को साधन माना गया है, वहीं दूसरी तरफ अरस्तू के अनुसार- जो जिसके योग्य है, उसको उतना मिलना चाहिए, यही न्याय है। अरस्तू के न्याय में दो बातें मुख्य हैं-

1. वितरणात्मक न्याय एवं

2. सुधारात्मक न्याय।

अरस्तू के न्याय में योग्यता सापेक्ष होने के कारण अरस्तू का न्याय सापेक्ष न्याय है। समय के सापेक्षता में जिस न्याय की धारणा बदलती है वह न्याय, सापेक्ष न्याय है।

अभ्यास प्रश्न

1. किसके अनुसार कानून संप्रभु का शासन है ?
2. कानून शब्द ट्यूटनिक मूल के किस शब्द से बना है ?
3. विधि निर्माण का कार्य सरकार के किस अंग द्वारा किया जाता है?
4. मेक्ल्वर ने कानून को कितने भागों में बांटा है ?
5. न्याय का प्राथमिक सिद्धांत क्या है जो व्यक्तियों के साथ न्यायसंगत और पक्षपात रहित व्यवहार करने की मांग करता है?

(अ) निष्पक्षता (ब) पक्षपात (स) पूर्वाग्रह (द) बहिष्करण

6. आर्थिक और सामाजिक असमानताओं को दूर करने के लिए समाज के भीतर संसाधनों, अवसरों और लाभों के उचित वितरण को कौन सा शब्द संदर्भित करता है?
(अ) राजनीतिक न्याय (ब) आर्थिक न्याय (स) नैतिक न्याय (द) वितरणात्मक न्याय
7. न्याय का कौन सा पहलू यह सुनिश्चित करने पर केंद्रित है कि अपराध के आरोपी व्यक्तियों को निष्पक्ष और निष्पक्ष सुनवाई का अधिकार है?

(अ) उचित प्रक्रिया (ब) पुनर्स्थापनात्मक न्याय (स) प्रक्रियात्मक न्याय (द) कानून

का शासन

8. Theory of justice पुस्तक के लेखक कौन हैं ?
9. अरस्तू के न्याय के दो पक्ष कौन हैं ?
10. रॉल्स ने अपने न्याय सिद्धान्त में किन दार्शनिकों के चिंतन को मिलाने की कोशिश की है।
11. न्याय, वितरण का गुण है। किसने कहा है ?
12. रॉल्स न्याय के नियमों का पता लगाने के लिए किस सामाजिक दर्शन का प्रयोग करता है ?

11.6 सारांश

निष्पक्षता, समानता और नैतिक आचरण की खोज में निहित, न्याय मानवीय संबंधों, कानूनी प्रणालियों और सामाजिक संरचनाओं का मार्गदर्शन करने वाले एक नैतिक कम्पास के रूप में कार्य करता है। इसकी बहुआयामी प्रकृति में विविध गतिशीलता शामिल है, प्रतिशोधात्मक और पुनर्स्थापनात्मक न्याय से लेकर वितरणात्मक और सामाजिक-आर्थिक न्याय तक, प्रत्येक मानव अनुभव के विभिन्न पहलुओं को संबोधित करता है। पूरे इतिहास में, न्याय समाज की बदलती जरूरतों और मूल्यों के अनुरूप विकसित हुआ है। प्राचीन सभ्यताओं के दैवीय न्याय से लेकर पुनर्जागरण और प्रबुद्धता के दौरान व्यक्तिगत अधिकारों और कानून के शासन पर जोर देने तक, न्याय ने मानव सभ्यता के पाठ्यक्रम को आकार दिया है, आधुनिक कानूनी प्रणालियों और नैतिक ढांचे के लिए आधार तैयार किया है।

न्याय की खोज में, हमें याद रखना चाहिए कि यह केवल एक अमूर्त अवधारणा नहीं है बल्कि कार्रवाई का आह्वान है। इसके लिए हमें अन्याय के खिलाफ खड़े होने, हाशिये पर पड़े और उत्पीड़ितों के अधिकारों की वकालत करने और सहानुभूति और समझ को बढ़ावा देने की आवश्यकता है। न्याय के आदर्शों को अपनाकर और इसके सिद्धांतों के प्रति सामूहिक प्रतिबद्धता को बढ़ावा देकर, हम एक ऐसी दुनिया का निर्माण कर सकते हैं जो वास्तव में सभी के लिए निष्पक्षता, समानता और करुणा का प्रतीक है।

उपरोक्त अध्ययन के आधार पर हमें कानून, न्याय व रॉल्स के न्याय सिद्धांत के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्राप्त हुई। जिसमें रॉल्स न्याय सिद्धान्त की शुरुआत उपयोगिता की आलोचना से शुरू करता है। उपयोगितावाद अपना एक सूत्र पहले ही सुरक्षित रखता है-वह अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख है। परन्तु रॉल्स के अनुसार राज्य का कार्य केवल सामाजिक व्यवस्था की सुरक्षा ही नहीं है, बल्कि सबसे अधिक जरूरतमन्द लोगों की आवश्यकताओं को उच्चतम सामाजिक आदर्श बनाकर मूल पदार्थों के पुनर्वितरण द्वारा न्याय उपलब्ध करवाना है।

रॉल्स के न्याय सिद्धान्त की विभिन्न आधारों पर आलोचनाएँ की हैं जिसमें प्रमुख नाम-सी० वी० मैकफर्सन का है। मैकफर्सन ने रॉल्स को उदार लोकतान्त्रिक पूँजीवादी राज्य का प्रवक्ता कहा है। वह कहता है कि उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व वाली किसी भी व्यवस्था में स्वतन्त्रता तथा समानता का समाधान सम्भव नहीं है।

उदारवाद का स्वेच्छाचारी सिद्धान्त जहाँ व्यक्ति की स्वतन्त्रता में दृढ़ विश्वास रखता है और व्यक्तियों को स्वतन्त्र छोड़ देने का पक्षधर है। वहीं साम्यवाद का अत्यधिक नियन्त्रित सिद्धान्त सामाजिक

समानता के नाम पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का बलिदान कर देता है। रॉल्स ने इन दोनों सिद्धान्तों से उठकर न्याय के एक ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जिसमें योग्यता और क्षमता का उचित पुरस्कार तथा सबको न्यूनतम की गारण्टी दी गयी है।

इस प्रकार यह संकल्पना समाज में न्याय के लिए समतापूर्ण नीतियों के निर्माण व उनके क्रियान्वयन के लिए सदैव प्रासंगिक रहेगी।

11.7 शब्दावली

मूल संरचना की अवधारणा --न्याय के सिद्धान्त में मूल संरचना की अवधारणा ऐसी अवधारणा है जिसमें रॉल्स के अनुसार एक न्यायसंगत संविधान होना चाहिए ताकि नागरिकों को विभिन्न प्रकार की स्वतन्त्रताएँ प्राप्त हो सकें।

उपयोगितावाद--इसमें अधिकतम की अच्छाई के हित में कुछ व्यक्तियों के हितों के बलिदान को औचित्यपूर्ण ठहराया जाता है अर्थात् उपयोगितावाद सम्पूर्ण की खुशी के बजाय अधिकांश की खुशी पर जोर देता है। उपयोगिता अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख के सूत्र को अपनाता है।

साम्या - जब कानून हो पर न्यायाधीश को यह लगे कि संबद्ध पक्ष को सहायता (रिलीफ) देना न्याय होगा तो न्यायाधीश साम्या के सिद्धांत का प्रयोग करते हुए ऐसी सहायता की व्यवस्था करता है।

अध्यादेश- ऐसे आदेश होते हैं जो असाधारण परिस्थितियों में राज्य की कार्यपालिका के प्रधान द्वारा जारी किये जाते हैं।

वितरणात्मक न्याय- समाज के भीतर संसाधनों, अवसरों और लाभों का उचित और समान वितरण सुनिश्चित करें।

प्रक्रियात्मक न्याय - कानूनी प्रक्रियाओं और प्रक्रियाओं की पारदर्शिता, यह सुनिश्चित करना कि व्यक्तियों के साथ सम्मानपूर्वक व्यवहार किया जाए और उन्हें निष्पक्ष सुनवाई तक पहुंच प्राप्त हो।

राजनीतिक न्याय- सत्ता का उचित वितरण, राजनीतिक भागीदारी तक पहुंच, और समाज के भीतर प्राधिकार के पदों पर बैठे लोगों की जवाबदेही।

11.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. आस्टिन 2. लैंग 3. विधायिका 4. दो 5. निष्पक्षता 6. आर्थिक न्याय 7. उचित प्रक्रिया 5. रॉल्स 6. a. वितरणात्मक न्याय एवं b. सुधारात्मक न्याय। 7. काण्ट, लाक एवं रूसो 8. रॉल्स
 9. अनुबन्धमूलक सामाजिक दर्शन
-

11.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ. वी. एल. साह व डॉ. नीता बोरा, राजनीतिक विज्ञान का परिचय, अंकित प्रकाशन हल्द्वानी।
 2. ओम प्रकाश गाबा, राजनीतिक सिद्धान्त की रूपरेखा, मजूर पे परबैम्स नोएडा।
 3. डॉ. पुष्पेश पाण्डे व डॉ. विजय प्रकाश पन्त, राजनीतिक सिद्धान्त, जगदम्बा पब्लिसिंग कम्पनी नई दिल्ली।
 4. राजनीतिक सिद्धान्त अवधारणाएँ एवं विमर्श- संपादक बलवान गौतम, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय
 5. आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त- डॉ. पुखराज जैन, डॉ. बी. एल. फड़िया
-

11.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. वीरकेश्वर प्रसाद - राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त, ज्ञानदा पब्लिकेशन, नयी दिल्ली
 2. डी. डी. राफेल - राजनीतिक दर्शन की समस्याएँ, मैकमिलन लन्दन
-

11.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. कानून से आप क्या समझते हैं ? इसके स्रोतों का वर्णन कीजिये ।
 2. कानून की विभिन्न परिभाषाओं के साथ कानून के प्रकारों के चर्चा कीजिये ।
-

इकाई 12 न्याय की संकल्पना

इकाई संरचना

12.0 प्रस्तावना

12.1 उद्देश्य

12.2 न्याय : अर्थ और परिभाषा

12.3 न्याय के विचार की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

12.3.1. प्राचीन सभ्यताओं में न्याय

12.3.2. मध्ययुगीन काल में न्याय

12.3.3 पुनर्जागरण काल में न्याय

12.3.4 आधुनिक न्याय प्रणालियाँ

12.4 न्याय के विभिन्न आयाम

12.5 सारांश

12.6 शब्दावली

12.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

12.8 सहायक समाग्री

12.9 निबंधात्मक प्रश्न

12.0 प्रस्तावना:

न्याय एक मौलिक अवधारणा है जो मानव समाज और नैतिक सिद्धांतों के केंद्र में स्थित है। यह एक बहुआयामी और जटिल विचार है जिसमें निष्पक्षता, समानता और व्यक्तियों के साथ न्यायसंगत व्यवहार शामिल है। इसके मूल में, न्याय प्रत्येक व्यक्ति को उसका हक देने के विचार के इर्द-गिर्द घूमता है, चाहे वह अधिकारों, अवसरों या उनके कार्यों के परिणामों के संदर्भ में हो। यह सांस्कृतिक, धार्मिक और दार्शनिक सीमाओं से परे निष्पक्षता और कानून के शासन के मूल्यों को बनाए रखने का प्रयास करता है।

न्याय की अवधारणा मानव सभ्यता के दौरान विकसित हुई है, जो प्राचीन सभ्यताओं के कानूनी प्रावधान, प्रसिद्ध दार्शनिकों के नैतिक सिद्धांतों और असमानताओं का मुकाबला करने के लिए उभरे सामाजिक न्याय आंदोलनों में अभिव्यक्ति पाती है। चाहे गलतियों को सुधारने के लिए प्रतिशोधात्मक न्याय की मांग हो या उपचार और मेल-मिलाप को बढ़ावा देने के लिए पुनर्स्थापनात्मक न्याय की, अपने अंतर्निहित उद्देश्य में इसका लक्ष्य एक संतुलित और न्यायपूर्ण समाज की स्थापना करना है।

न्याय के विचार के इस परिचयात्मक अन्वेषण में हम इसके ऐतिहासिक विकास, इसके विभिन्न आयामों और सामाजिक ताने-बाने को आकार देने में इसके महत्व पर गहराई से विचार करेंगे। हम यह भी समझेंगे कि न्याय कानून के शासन, नैतिकता और समानता की खोज के साथ-साथ समकालीन बहस और चुनौतियों में इसकी स्थायी प्रासंगिकता के साथ कैसे जुड़ा हुआ है।

12.1 उद्देश्य

1. न्याय के अर्थ और परिभाषा को समझ सकेंगे।
2. न्याय की धारणा के विकास को जान पायेंगे।
3. न्याय के विभिन्न आयामों की समझ पाएंगे।

12.2 न्याय का अर्थ:

राजनीतिशास्त्र की अन्य अवधारणाओं की तरह 'न्याय' शब्द को परिभाषित करना आसान नहीं है। न्याय के लिए अंग्रेजी में जस्टिस (Justice) शब्द का प्रयोग किया जाता है, जो लैटिनभाषा के 'जस' (Jus) शब्द से बना है। इसका मूल भाव Justice या Justica है जिसका अर्थ होता है जोड़ना अथवा बांधना। प्राथमिक रूप से जोड़ने, बाँधने अथवा सम्बद्ध होने का भाव न्याय में निहित है। वह यह है कि

मनुष्यों के बीच मानवीय संबंधों का एक व्यवस्थित विधान होता है प्रोफ़ेसर बार्कर का मत है कि हम मानवीय संबंधों के साथ-साथ मूल्यों के संकलन तथा एक मूल्य को दूसरे मूल्य के साथ जोड़ने में भी न्याय तथा न्याययुक्त भाव की कल्पना कर सकते हैं। अतः बार्कर के अनुसार न्याय राजनीतिक मूल्यों का समाधानकर्ता तथा उनका समायोजन है। यह समाज में रह रहे लोगों के अधिकारों एवं कर्तव्यों में सामंजस्य एवं मधुर संतुलन स्थापित करता है।

संकीर्ण अर्थ में न्याय को एक कानूनी प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है, जिसमें न्यायसंगत कानून, अदालतें, स्वतंत्र एवंनिष्पक्ष न्यायिक व्यवस्था, कानून तथा अदालतों के समक्ष प्रत्येक नागरिक की समानता इत्यादि शामिल है। दूसरी ओर व्यापक अर्थों में न्याय के सम्बन्ध में दो विचार हैं। पहले दृष्टिकोण के अनुसार न्याय की धारणा निरपेक्ष, शाश्वत एवं स्थायी है। प्लेटो, एक्विनास, अगस्टाइन जैसे अन्य दार्शनिकों ने शाश्वत न्याय का सिद्धांत मानते हुए न्याय की धारणा में काल और परिस्थितियों के साथ परिवर्तन होने को स्वीकार नहीं किया है। दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार न्याय एक सापेक्ष धारणा है तथा काल, स्थितियों और मूल्यों में परिवर्तन के अनुसार न्याय की धारणा, न्याय के आधार इत्यादि बदलते रहते हैं। अरस्तू, बेन्थम, मिल आदि दार्शनिकों ने इस दृष्टिकोण का समर्थन किया है।

12.3 न्याय के विचार की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि:

न्याय की अवधारणा प्राचीन काल से ही मानव समाज की आधारशिला रही है, जो समुदायों के कार्य करने और व्यक्तियों के परस्पर क्रिया करने के तरीके को आकार देती है। पूरे इतिहास में, न्याय का विचार विभिन्न सभ्यताओं और संस्कृतियों के मूल्यों, विश्वासों और सामाजिक संरचनाओं के अनुसार विकसित और अनुकूलित हुआ है। प्राचीन मेसोपोटामिया के शुरुआती कानूनी संहिताओं से लेकर प्राचीन ग्रीस के दार्शनिक चिंतन और प्राचीन भारत के धार्मिक सिद्धांतों तक, न्याय ने नैतिक ढांचे और कानूनी प्रणालियों को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

12.3.1. प्राचीन सभ्यताओं में न्याय:

दुनिया भर में, न्याय आंतरिक रूप से कानून के शासन, न्याय के मध्यस्थ के रूप में शासकों की भूमिका और एक सामंजस्यपूर्ण और न्यायसंगत अस्तित्व की खोज से जुड़ा हुआ था। इकाई के इस भाग में प्राचीन सभ्यताओं में न्याय के विभिन्न आयामों का पता लगाएंगे, और जान पाएंगे कि कैसे इस कालातीत सिद्धांत ने बाद के समाजों में न्याय के विकास के लिए आधार तैयार किया।

1. मेसोपोटामिया:

प्राचीन मेसोपोटामिया में, हम्बूराबी संहिता, जो सबसे पहले ज्ञात कानूनी संहिताओं में से एक थी, ने न्याय की उनकी अवधारणा को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। संहिताओं को एक स्टीले (Stele) पर अंकित किया गया था और इसमें जीवन के विभिन्न पहलुओं को नियंत्रित करने वाले कानूनों और विनियमों का संग्रह शामिल था।

"लेक्स टैलियोनिस" या "आंख के बदले आंख, दांत के बदले दांत" का सिद्धांत हम्बूराबी की संहिता की एक केंद्रीय विशेषता थी। इस सिद्धांत का उद्देश्य अपराधों के लिए आनुपातिक प्रतिशोध सुनिश्चित करना है और यह प्रतिशोधात्मक न्याय का एक उदाहरण है।

न्याय की अवधारणा सर्वोच्च प्राधिकारी और न्याय प्रदान करने वाले के रूप में राजा की भूमिका से गहराई से जुड़ी हुई थी। राजा को देवताओं के प्रतिनिधि के रूप में देखा जाता था और समाज में व्यवस्था और निष्पक्षता बनाए रखने के लिए जिम्मेदार माना जाता था।

2. प्राचीन मिस्र:

प्राचीन मिस्र में, न्याय सत्य, न्याय और सद्भाव की देवी माट (Ma'at) से जुड़ा था। माट ने ब्रह्मांडीय व्यवस्था और सत्य, संतुलन और धार्मिकता के सिद्धांतों का प्रतिनिधित्व किया जो मानव आचरण को निर्देशित करते थे।

प्राचीन मिस्र में न्याय की अवधारणा नैतिक और नैतिक व्यवहार के विचार से निकटता से जुड़ी हुई थी। मिस्रवासियों का मानना था कि माट के अनुसार रहने से एक न्यायपूर्ण और समृद्ध समाज का निर्माण होगा।

3. प्राचीन ग्रीस:

ग्रीक दर्शन में न्याय एक केंद्रीय विषय था, प्लेटो और अरस्तू जैसे प्रभावशाली विचारकों ने इसके विभिन्न पहलुओं की खोज की थी। प्लेटो के "रिपब्लिक" में उन्होंने न्यायपूर्ण समाज के संदर्भ में न्याय के विचार पर चर्चा की। प्लेटो के अनुसार, न्याय तभी प्राप्त किया जा सकता है जब प्रत्येक व्यक्ति समाज में अपनी निर्दिष्ट भूमिका निभाए, और तीन वर्ग (शासक, संरक्षक और निर्माता) सद्भाव से काम करें।

अरस्तू के नैतिक सिद्धांतों ने एक गुण के रूप में न्याय की अवधारणा पर जोर दिया। उन्होंने वितरणात्मक न्याय (संसाधनों और सम्मानों का उचित वितरण) और सुधारात्मक न्याय (गलतियों को सुधारने और विवादों को सुलझाने से संबंधित) के बीच अंतर किया।

4. प्राचीन भारत:

प्राचीन भारतीय सभ्यताओं में, न्याय की अवधारणा "धर्म" के सिद्धांत से निकटता से जुड़ी हुई थी। धर्म में व्यक्तियों के नैतिक और नैतिक कर्तव्य शामिल हैं, जिनका पालन करने पर एक न्यायपूर्ण और सामंजस्यपूर्ण समाज का निर्माण होगा।

वेदों और उपनिषदों सहित प्राचीन ग्रंथों ने धार्मिक आचरण और किसी के धर्म का पालन करने के महत्व पर जोर दिया, जिसमें स्वयं, परिवार, समुदाय और दुनिया के प्रति कर्तव्य शामिल थे।

5. प्राचीन हिब्रू:

प्राचीन हिब्रू सभ्यता में, न्याय का विचार हिब्रू बाइबिल (पुराने नियम) में उल्लिखित धार्मिक कानूनों और नैतिक उपदेशों से निकटता से जुड़ा हुआ था। दैवीय न्याय की अवधारणा ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, क्योंकि ईश्वर को अंतिम न्यायाधीश के रूप में देखा जाता था जो धर्मियों को पुरस्कृत करता था और दुष्टों को दंडित करता था। ईश्वर की दृष्टि में न्याय सुनिश्चित करने के लिए धार्मिक कानूनों का पालन आवश्यक था।

इन प्राचीन सभ्यताओं ने मानव समाज में एक मौलिक सिद्धांत के रूप में न्याय के विकास की नींव रखी। इन प्रारंभिक सभ्यताओं में न्याय की समझ अक्सर धार्मिक और नैतिक मान्यताओं के साथ जुड़ी हुई थी, जो नैतिक व्यवहार, कानून के शासन और सामाजिक व्यवस्था के रखरखाव के महत्व पर जोर देती थी। समय के साथ, न्याय की ये मूलभूत अवधारणाएँ बाद की सभ्यताओं की कानूनी प्रणालियों और नैतिक ढाँचों को विकसित और आकार देती रहीं।

12.3.2 मध्ययुगीन काल में न्याय:

मध्ययुगीन काल में, न्याय की अवधारणा विकसित होती रही और धार्मिक और दार्शनिक मान्यताओं, सामाजिक संरचनाओं और कानून के शासन के साथ गहराई से जुड़ी हुई थी। 5वीं से 15वीं शताब्दी तक फैले इस युग में सामंतवाद का प्रभुत्व, शक्तिशाली राजतंत्रों का उदय और जीवन के सभी पहलुओं पर ईसाई चर्च का प्रभाव देखा गया। परिणामस्वरूप, इस समय के दौरान न्याय को अक्सर धर्मनिरपेक्ष और धार्मिक अधिकारियों के संयोजन द्वारा आकार दिया गया था।

1. **सामंती न्याय:** मध्ययुगीन यूरोप में सामंतवाद एक प्रमुख सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था थी। यह वफादारी और सैन्य सेवा के लिए भूमि के आदान-प्रदान पर आधारित था, जिसमें

शीर्ष पर राजा या राजा के साथ एक पदानुक्रमित संरचना बनाई गई थी, जिसके बाद रईसों, शूरीरों और किसानों को रखा गया था।

सामंती व्यवस्था में न्याय स्थानीयकृत था, जिसमें स्वामी अपनी संपत्ति पर न्याय करते थे। स्वामी ने एक न्यायाधीश और कानून देने वाले के रूप में कार्य किया, अपने जागीरदारों के बीच विवादों को सुलझाया और यह सुनिश्चित किया कि उनके जागीरदार अपने दायित्वों का पालन करें।

2. **ईश्वरीय न्याय और चर्च:** मध्यकाल को ईसाई चर्च के महत्वपूर्ण प्रभाव से चिह्नित किया गया था। चर्च के पास आध्यात्मिक और लौकिक दोनों मामलों पर काफी अधिकार था, और दैवीय न्याय पर इसकी शिक्षाओं का मध्ययुगीन समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा।

चर्च ने दैवीय न्याय के विचार पर जोर दिया, जहां ईश्वर को अंतिम न्यायाधीश के रूप में देखा जाता था जो धर्मियों को पुरस्कृत करता था और पापियों को दंडित करता था। दैवीय प्रतिशोध की संभावना ने व्यक्तियों के व्यवहार और नैतिक आचरण को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

3. **शाही संहिता और सामान्य कानून:** शक्तिशाली राजशाही के उदय के साथ, न्याय प्रशासन में शाही अदालतें अधिक प्रचलित हो गईं। राजा या सम्राट कानूनी मामलों में सर्वोच्च प्राधिकारी के रूप में निर्णय और निर्णय जारी करते थे।

सामान्य कानून, प्रथागत प्रथाओं और न्यायिक मिसालों पर आधारित एक कानूनी प्रणाली, इस अवधि के दौरान विकसित होनी शुरू हुई। शाही न्यायाधीशों ने राज्य के चारों ओर यात्रा की, कानून के सुसंगत सिद्धांतों को लागू किया और धीरे-धीरे कानून का एक एकीकृत निकाय बनाया।

12.3.3 पुनर्जागरण काल में न्याय:

14वीं से 13वीं शताब्दी तक फैले पुनर्जागरण काल के दौरान, नए दार्शनिक, वैज्ञानिक और राजनीतिक विचारों के उभरने के साथ न्याय के विचार में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इस युग ने मध्य युग के सख्त धार्मिक हठधर्मिता से प्रस्थान को चिह्नित किया और न्याय, अधिकार और शासन की आधुनिक अवधारणाओं की नींव रखी। पुनर्जागरण ने मानवतावाद, कला और साहित्य का जन्म मनाया, जबकि ज्ञानोदय ने तर्क, व्यक्तिगत अधिकारों और ज्ञान और प्रगति की खोज पर जोर दिया। इन बौद्धिक और सांस्कृतिक आंदोलनों ने न्याय की समझ और अनुप्रयोग को बहुत प्रभावित किया।

1. **मानवतावाद और प्राकृतिक कानून:** पुनर्जागरण मानवतावाद ने मनुष्य के मूल्य और क्षमता पर जोर दिया, शास्त्रीय ग्रंथों के अध्ययन को बढ़ावा दिया और मानवीय कारण, गरिमा और व्यक्तिगत मूल्य की वकालत की।

इस अवधि के दौरान प्राकृतिक कानून की अवधारणा को प्रमुखता मिली, जिसमें कहा गया कि कुछ नैतिक सिद्धांत प्रकृति में अंतर्निहित हैं और मानव तर्क के लिए सुलभ हैं। प्राकृतिक कानून को धार्मिक सिद्धांतों और सांस्कृतिक मानदंडों से परे, सार्वभौमिक और सभी व्यक्तियों पर लागू माना जाता था।

2. **सामाजिक अनुबंध और व्यक्तिगत अधिकार:** थॉमस हॉब्स, जॉन लोके और जीन-जैक्स रूसो जैसे प्रबुद्ध विचारकों ने सामाजिक अनुबंध के सिद्धांत को विकसित किया, जिसमें कहा गया कि व्यक्तियों ने अपने अधिकारों को सुरक्षित करने और अपने हितों की रक्षा के लिए सरकारें बनाने के लिए स्वेच्छा से एक सामाजिक समझौते में प्रवेश किया।

इन दार्शनिकों ने जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति के अधिकार जैसे व्यक्तिगत अधिकारों के महत्व पर जोर दिया। उन्होंने तर्क दिया कि इन अधिकारों की रक्षा करना सरकारों की जिम्मेदारी है, और यदि वे ऐसा करने में विफल रहती हैं, तो लोगों को विद्रोह करने और नई सरकार बनाने का अधिकार है।

3. **समानता और कानून का शासन:** प्रबुद्धता काल ने दैवीय अधिकार और वंशानुगत विशेषाधिकार की धारणा को चुनौती देते हुए, कानून के समक्ष समानता के विचार का समर्थन किया। समानता के सिद्धांत का अर्थ है कि सभी व्यक्तियों के साथ कानून के तहत निष्पक्ष व्यवहार किया जाना चाहिए, चाहे उनकी सामाजिक स्थिति या पृष्ठभूमि कुछ भी हो।

कानून का शासन न्याय का केंद्रीय सिद्धांत बन गया, जिसमें इस बात पर जोर दिया गया कि कानूनों को लगातार और पूर्वानुमानित रूप से लागू किया जाना चाहिए, और शासकों सहित कोई भी कानून से ऊपर नहीं होना चाहिए।

4. **आपराधिक न्याय सुधार:** प्रबुद्ध विचारकों ने आपराधिक न्याय प्रणाली में सुधार की वकालत की। उन्होंने क्रूर और मनमाने दंडों का विरोध किया और सजा में आनुपातिकता की अवधारणा को बढ़ावा देने की मांग की, जहां दंड किए गए अपराध की गंभीरता के अनुरूप होना चाहिए।

एक इतालवी दार्शनिक, सेसरे बेकरिया ने "ऑन क्राइम्स एंड पनिशमेंट्स" (1764) लिखा, जिसमें यातना, गुप्त परीक्षणों और मृत्युदंड के खिलाफ बहस की, और न्याय के लिए अधिक मानवीय और तर्कसंगत दृष्टिकोण की वकालत की।

5. **सहिष्णुता और धार्मिक स्वतंत्रता:** ज्ञानोदय में धार्मिक सहिष्णुता और अंतरात्मा की स्वतंत्रता को बढ़ावा देने वाले विचारों का विकास भी देखा गया। वोल्टेयर और जॉन लॉक जैसे दार्शनिकों ने चर्च और राज्य को अलग करने का तर्क दिया, जिससे व्यक्तियों को उत्पीड़न के डर के बिना अपने धर्म का पालन करने का अधिकार मिल सके।

पुनर्जागरण और ज्ञानोदय काल ने न्याय के विचार में गहरा बदलाव लाया, तर्क के महत्व, व्यक्तिगत अधिकारों और एक न्यायसंगत और न्यायसंगत समाज की खोज पर जोर दिया। इन दार्शनिक प्रगतियों ने आधुनिक कानूनी प्रणालियों और न्याय के सिद्धांतों के विकास के लिए आधार तैयार किया जो दुनिया भर के समाजों को आकार देना जारी रखता है।

12.3.4 आधुनिक कानूनी प्रणालियाँ:

आधुनिक कानूनी प्रणालियाँ परिष्कृत और जटिल ढाँचे हैं जो समाजों को नियंत्रित करती हैं, विवादों को सुलझाने, न्याय को बनाए रखने और सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए एक संरचित और व्यवस्थित दृष्टिकोण प्रदान करती हैं। ये कानूनी प्रणालियाँ विभिन्न ऐतिहासिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक प्रभावों से प्रेरणा लेते हुए समय के साथ विकसित हुई हैं। जबकि विशिष्ट संरचनाएं और प्रक्रियाएं देशों के बीच भिन्न-भिन्न होती हैं, वे आम तौर पर सामान्य विशेषताएं साझा करते हैं जो उनके कामकाज को रेखांकित करती हैं। यहां आधुनिक कानूनी प्रणालियों का विवरण दिया गया है:

कानून का स्रोत:

आधुनिक कानूनी प्रणालियाँ आम तौर पर कानून के कई स्रोतों पर आधारित होती हैं, जिनमें शामिल हैं:

संवैधानिक कानून: मौलिक कानून और सिद्धांत जो सरकार की संरचना और कार्यों के साथ-साथ नागरिकों के अधिकारों और स्वतंत्रता को परिभाषित करते हैं।

वैधानिक कानून: विधायी निकायों (जैसे, संसद या कांग्रेस) द्वारा अधिनियमित कानून जो शासन के विभिन्न पहलुओं को कवर करते हैं, जैसे कि आपराधिक कानून, अनुबंध कानून और संपत्ति कानून।

सामान्य कानून: अदालती फैसलों के माध्यम से स्थापित कानूनी सिद्धांत और मिसालें, जो भविष्य के मामलों के लिए मार्गदर्शक के रूप में काम करते हैं।

प्रशासनिक कानून: वैधानिक कानूनों को लागू करने और लागू करने के लिए सरकारी एजेंसियों द्वारा बनाए गए नियम और कानून।

अंतर्राष्ट्रीय कानून: राष्ट्रों के बीच समझौते और संधियाँ जो राज्यों के बीच संबंधों को नियंत्रित करती हैं और वैश्विक मुद्दों का समाधान करती हैं।

शक्तियों का पृथक्करण: कई आधुनिक कानूनी प्रणालियाँ शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत का पालन करती हैं, जो सरकारी प्राधिकरण को तीन शाखाओं में विभाजित करती है: विधायी, कार्यकारी और न्यायपालिका। यह पृथक्करण किसी एक शाखा को अत्यधिक शक्ति के प्रयोग करने से रोकने और जाँच और संतुलन की एक प्रणाली बनाने के लिए डिज़ाइन किया गया है।

उचित प्रक्रिया और अधिकार:

आधुनिक कानूनी प्रणालियाँ उचित प्रक्रिया पर जोर देती हैं, यह सुनिश्चित करती हैं कि अपराध के आरोपी या कानूनी कार्यवाही में शामिल व्यक्तियों को उचित उपचार, कानूनी प्रतिनिधित्व तक पहुंच और सुनवाई का अधिकार मिले। व्यक्तिगत अधिकारों की सुरक्षा, जैसे निष्पक्ष सुनवाई का अधिकार और गैरकानूनी हिरासत से मुक्ति, आधुनिक कानूनी प्रणालियों का एक मूलभूत पहलू है।

आधुनिक कानूनी प्रणालियाँ लगातार विकसित हो रही हैं, सामाजिक परिवर्तनों और प्रौद्योगिकी में प्रगति के अनुरूप ढल रही हैं। वे आवश्यक ढांचे के रूप में कार्य करते हैं जो न्याय को कायम रखते हैं, व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा करते हैं, और निष्पक्ष और न्यायसंगत तरीके से संघर्षों और विवादों को हल करने के लिए एक तंत्र प्रदान करते हैं।

12.4 न्याय के विभिन्न आयाम

- **न्याय का कानूनी आयाम :** कानूनी शब्दावली में कानून की प्रणाली को न्याय की प्रणाली कहा जाता है। कानूनी प्रणाली का सम्बन्ध नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा से है। चूँकि नागरिकों को न्याय कानून के माध्यम से प्राप्त होता है, इसलिए राज्य की विधायी संस्थाएं कैसे कानून बनाती हैं? किस प्रकार उन्हें लागू करती है? और कैसे उनका पालन करवाती हैं- इस प्रकार के सभी प्रश्न न्याय के कानूनी पक्ष को महत्व प्रदान करते हैं।

न्याय के कानूनी पक्ष में दो बातें महत्वपूर्ण हैं: पहला न्यायपूर्ण कानून का निर्माण और दूसरा, कानून के अनुसार न्याय मिलना। न्यायपूर्ण कानून के निर्माण का तात्पर्य है कि विधानमंडल द्वारा बांये गए कानून न्यायपूर्ण एवं तर्कपूर्ण होने चाहिए। कानून सब लोगों के लिए समान हो और अवांछनीय भेदभाव न हो। न्यायपूर्ण कानून बनाने का अर्थ यह नहीं है कि हर व्यक्ति (बच्चा और बूढ़ा) के लिए समान कानून हो बल्कि इसका अर्थ है समान व्यक्तियों के लिए समान कानून हो। न्यायपूर्ण आधार पर कानून असमान हो सकता है। उदाहरण के तौर

पर यदि सरकार राशन बाँटने की कोई योजना लाती है तो वह सभी परिवारों को समान रूप से राशन ना वितरित करते हुए प्रत्येक परिवार में सदस्यों की संख्या के आधार पर कम या ज्यादा राशन का वितरण सुनिश्चित करेगी तो इस प्रकार प्रथम दृष्टया देखने पर यह लग सकता है कि परिवारों को राशन बाँटने में असमानता बरती गए है परन्तु यदि प्रत्येक परिवारों की आवश्यकता को ध्यान में रखा जाए तो यह नितांत न्यायपूर्ण व्यवस्था होगी।

- **न्याय का राजनीतिक आयाम:** वस्तुतः राज्य और जनता का सम्बन्ध राजनैतिक न्याय का प्रश्न है। सामान्य अर्थ में, बिना किसी भेदभाव के, हर व्यक्ति को राज्य सत्ता में हिस्सा मिलना राजनीतिक न्याय है। अतः वयस्क मताधिकार, निर्वाचित सरकार एवं नागरिक अधिकारों की उपस्थिति राजनीतिक न्याय की स्थापना के लिए पूर्व शर्तों में से एक है। इस प्रकार राजनीतिक न्याय की स्थापना के लिए राजनीतिक सत्ता का उपयोग जन प्रतिनिधियों द्वारा जनता के हित में किया जाना चाहिए। शासन शासितों की इच्छा पर टिका होना चाहिए। इस प्रकार जनता की राज्य सत्ता में सक्रिय भागीदारी ही राजनीतिक न्याय है।
- **न्याय का सामाजिक-आर्थिक आयाम:** सामाजिक न्याय का प्रश्न सामाजिक समानता और सामाजिक अधिकारों से जुड़ा है। अतः शोषण का निषेध, अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा, भेदभाव की समाप्ति, कार्य की न्यायपूर्ण दशाएं, विचार अभिव्यक्ति, विश्वास एवं पूजा की स्वतंत्रता सामाजिक न्याय की स्थापना की पूर्व शर्तों में से हैं। अपने व्यापक अर्थ में सामाजिक न्याय का तात्पर्य है कि सामाजिक जीवन में सभी को समान लाभ तथा लाभ के अवसर चंद लोगों के हाथों में न सिमट कर जन समान्य को- विशेषकर गरीब एवं असहाय वर्गों को भी उसका समुचित हिस्सा मिले ताकि वे सामान्य रूप से सुखी, सम्मानित और निश्चिन्त जीवन व्यतीत कर सकें।

आर्थिक न्याय का विचार एवं सामाजिक न्याय के आदर्श आपस में इतने घुल मिल गए हैं कि ऐसा लगता है कि आर्थिक न्याय के बिना सामाजिक न्याय अधूरा है। सरल शब्दों में आर्थिक न्याय का अभिप्राय है- आर्थिक शोषण की समाप्ति, देश के भौतिक साधनों का उचित बँटवारा एवं अधिक से अधिक लोगों के हित में उसका उपयोग। लास्की के अनुसार समाज में सभी नागरिकों की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति होना ही आर्थिक न्याय है।

12.9 न्याय-रॉल्स के परिप्रेक्ष्य में

न्याय समाज का सबसे बड़ा सद्गुण है-रॉल्स। रॉल्स के अनुसार न्याय ही वह प्रक्रिया है जो सबके मध्य साम्य स्थापित करता है। रॉल्स की समस्या वितरण की है। रॉल्स अपने न्याय सिद्धान्त की शुरुआत उपयोगिता की आलोचना से शुरू करता है। उपयोगितावाद अपना एक सूत्र पहले ही सुरक्षित रखता है-वह अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख है। रॉल्स इस तरह की कोई धारणा पहले से नहीं रखता अपितु वह शुद्ध विधि और प्रक्रिया पर जोर देता है। रॉल्स परिणाम को दृष्टि में रखकर पहले से कोई धारणा नहीं बनाता अपितु वह प्रक्रिया को लागू करने की बात करता है, परिणाम क्या होगा? सामने आयेगा। जैसे मार्क्सवादी अपना परिणाम घोषित किये है कि अन्त में वर्गहीन, राज्यहीन साम्यवादी समाज होगा अर्थात् मार्क्सवाद परिणाम को ध्यान में रखकर प्रक्रिया बनाता है। रॉल्स, मार्क्सवाद की तरह बिना परिणाम घोषित किये सिर्फ शुद्ध विधि एवं प्रक्रिया पर जोर देता है।

12.10 रॉल्स का न्याय सिद्धान्त

बीसवीं सदी तक आते-आते उदारवाद पर यह आरोप सामान्य हो गया कि उसके पास राजनीतिक जीवन हेतु कोई नैतिक आधार नहीं है और वह मुख्यतः उपयोगितावादी मान्यताओं से जुड़ा हुआ है। कुछ लेखकों ने इस समस्या का हल प्रस्तुत करने की, जिनमें 'जॉन रॉल्स' का नाम सर्वोपरि है। रॉल्स की पुस्तक Theory of justice के समय अमेरिका में अल्पसंख्यक वर्गों विशेषतः अश्वेत जातियों के लिए समान अधिकारों का आन्दोलन अपने चरम पर था। पूँजीवादी व मिश्रित अर्थव्यवस्थाओं ने वस्तुओं एवं सेवाओं को जुटाने में भारी सफलता प्राप्त की थी। परन्तु अभी भी

आय, शक्ति व सम्पदा की दृष्टि से घोर विषमता व्याप्त थी। ऐसी परिस्थिति में रॉल्स आर्थिक और सामाजिक स्तर पर पुनर्विण्णात्मक न्याय का समर्थन करता है। रॉल्स के अनुसार राज्य का कार्य केवल सामाजिक व्यवस्था की सुरक्षा ही नहीं है, बल्कि सबसे अधिक जरूरतमन्द लोगों की आवश्यकताओं को उच्चतम सामाजिक आदर्श बनाकर मूल पदार्थों के पुनर्वितरण द्वारा न्याय उपलब्ध करवाना है।

जॉन रॉल्स अपने चिन्तन का आरम्भ उपयोगितावादी चिन्तन की आलोचना करता है, जिसमें अधिकतम की अच्छाई के हित में कुछ व्यक्तियों के हितों के बलिदान को औचित्यपूर्ण ठहराया जाता है अर्थात् उपयोगितावाद सम्पूर्ण की खुशी के बजाय अधिकांश की खुशी पर जोर देता है। उपयोगिता अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख के सूत्र को अपनाता है। परन्तु उपयोगितावाद इस बात की परवाह नहीं करता कि उसके वितरण में किसको क्या मिला? रॉल्स की नजर में 'न्याय' मूलतः वितरण का सिद्धान्त है।

रॉल्स के विश्लेषण का आधार काण्ट का नैतिक दर्शन है। जॉन रॉल्स, काण्ट के चिन्तन के तीन तत्व स्वायत्तता, निरपेक्ष आदेश तथा लक्ष्यों के साम्राज्य की अवधारणा पर जोर देता है। अपने न्याय सिद्धान्त में रॉल्स अज्ञान के पर्दे की कल्पना करके वार्ताकारों की स्वायत्तता को सुनिश्चित करता है। निरपेक्ष आदेश से तात्पर्य है, व्यवहार के नियम जो ऐसे व्यक्तियों पर लागू होते हैं जिनकी प्रकृति स्वतन्त्र तथा समाज विवेकवान प्राणी की है। रॉल्स के वार्ताकारों का उद्देश्य केवल प्राथमिक वस्तुओं के वितरण का सूत्र तलाशने तक सीमित है।

रॉल्स ने अपने न्याय सिद्धान्त में काण्ट, लाक एवं रूसों को मिलाने की कोशिश की है। यद्यपि उसने उपयोगितावादी न्याय का विकल्प प्रस्तुत किया है। परन्तु उसमें उदारवादी धारणाओं की प्रधानता है जिसका वास्तविक वाहक उपयोगितावादी न्याय सिद्धान्त ही है। रॉल्स अपने पुनर्वितरणात्मक सूत्र से उस विकृति को ठीक कर उसे नैतिक स्वरूप देने की कोशिश करता है। इसीलिए यह भी कहा जाता है कि वह बेन्थम को काण्ट से जोड़ देता है।

रॉल्स न्याय के नियमों का पता लगाने के लिए अनुबन्धमूलक सामाजिक दर्शन का अनुकरण करता है। जिस तरह से हाब्स, लॉक, रूसो ने अपने समझौता सिद्धान्त में प्राकृतिक अवस्था की परिकल्पना की है, उसी तरह रॉल्स ने मूल स्थिति ; वृत्तपहपदस च्वेपजपवदद्ध की कल्पना अपने न्याय सिद्धान्त में की है। मूल स्थिति का तात्पर्य उस अवस्था से है जिसमें मुक्त व स्वतन्त्र, स्त्री व पुरुष एक सामाजिक समझौता हेतु एक साथ मिलते हैं। परम्परागत समझौतावादियों के प्राकृतिक अवस्था के व्यक्तियों व रॉल्स के मूलस्थिति के व्यक्तियों के प्रकृति में भारी अन्तर है। रॉल्स की मूलस्थिति के व्यक्ति जंगली व असभ्य न होकर विवेकवान हैं। समझौते में पूर्वाग्रह से तथा निष्पक्षता लाने के लिए रॉल्स ने अज्ञान के पर्दे की कल्पना की है।

अज्ञान के पर्दे के पीछे बैठे बुद्धिमान, नैतिक वार्ताकारों को अपनी व्यक्तिगत क्षमता के साथ-साथ अपनी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्थिति का ज्ञान नहीं है। वार्ताकार अपने हितों, आवश्यकताओं, निपुणताओं, योग्यताओं आदि के संज्ञान से परे हैं, परन्तु उन्हें अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान व न्याय का बोध है। ये वार्ताकार जोखिम से डरते हैं। अगर व्यक्ति को अपने वर्ग, स्थान, स्थिति या सामाजिक प्रतिष्ठा की जानकारी है तो न्याय का कोई निश्चित निष्पक्ष सिद्धान्त तय कर पाना उसके लिए सम्भव नहीं होगा। क्योंकि इन सूचनाओं की उपस्थिति में निष्पक्ष एवं सार्वभौमिक न्याय के स्थान पर सापेक्ष एवं व्यक्तिगत हित स्थापित हो जायेगा।

रॉल्स के अनुसार न्याय, वितरण का गुण है। इसका सम्बन्ध समाज में वस्तुओं एवं सेवाओं के वितरण से है। रॉल्स इन वस्तुओं को मौलिक पदार्थों ; च्त्पउंतल लववकेद्ध की संज्ञा देता है। इसके अन्तर्गत दो तरह की प्राथमिक वस्तुएँ हैं- प्रथम, सामाजिक प्राथमिक वस्तुएँ, यथा-अधिकार व स्वतन्त्रता,

शक्तियाँ व अवसर, आय व सम्पदा, आत्मसम्मान के साधन आदि। इन्हें सामाजिक संस्थाओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप से वितरित किया जाता है। द्वितीय-प्राकृतिक प्राथमिक वस्तुएँ, यथा- स्वास्थ्य, बुद्धि, साहस, काल्पनिक शक्ति क्षमता जो कि सामाजिक संस्थाओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप से वितरित नहीं किया जाता। परन्तु इनसे प्रभावित अवश्य होता है। जैसे-व्यक्ति स्वास्थ्य, बुद्धि लेकर पैदा होता है, परन्तु सामाजिक संस्थाएँ अस्पताल खोलकर स्वास्थ्य और विद्यालय खोलकर बुद्धि का विकास सुनिश्चित कर सकती है। रॉल्स के वार्ताकार सिर्फ प्राथमिक सामाजिक वस्तुओं के विवरण का सूत्र अथवा सिद्धान्त समझौते के माध्यम से तय करते हैं।

रॉल्स के अनुसार वार्ताकारों द्वारा न्याय के निम्नलिखित सूत्र स्वीकार किये जायेंगे-

1.समान स्वतन्त्रता का सिद्धान्त।

2.सामाजिक, आर्थिक विषमताओं का ऐसा प्रबन्धन ताकि-

a.हीनतम को अधिकतम लाभ हो अर्थात् भेदमूलक सिद्धान्त।

b.ये विषमताएँ उन पदों एवं स्थितियों के साथ जुड़ी हो, जो अवसर की उचित समानता की शर्तों पर सुलभ हो अर्थात् अवसर की समानता।

उपरोक्त सिद्धान्तों का वरीयताक्रम तय किया गया है जो अपरिवर्तनीय है। इसमें समान स्वतन्त्रता ऊपर है, समानता का सिद्धान्त द्वितीय है और भेदमूलक सिद्धान्त अन्तिम है। यहाँ प्रथम सूत्र का ध्यान संविधान निर्माण में तथा द्वितीय व अन्तिम सूत्र का ध्यान नीति व एकरूपता बनाने का है।

नागरिकों की मूल स्वतन्त्रताओं से तात्पर्य राजनीतिक स्वतन्त्रता से है, जिसके अन्तर्गत मत का अधिकार, सार्वजनिक पद ग्रहण करने की स्वतन्त्रता, विधि का शासन, मनमानी गिरफ्तारी के विरुद्ध संरक्षण तथा सम्पत्ति की स्वतन्त्रता आदि। ये सभी स्वतन्त्रताएँ समाज के सभी व्यक्ति को समान रूप से मिलनी चाहिए। सभी स्वतन्त्रताएँ समान महत्व की हैं अर्थात् एक स्वतन्त्रता के लिए दूसरी स्वतन्त्रता का बलिदान नहीं किया जा सकता। स्वतन्त्रताओं के मध्य सन्तुलन के लिए सीमा व नियन्त्रण भी लगाये जा सकते हैं। नियम विहीन स्थिति में स्वतन्त्रताएँ आपस में टकरायेंगी और व्यापक स्वतन्त्रता के मार्ग में बाधा पैदा होगी।

न्याय सिद्धान्तों के क्रम में स्वतन्त्रता का स्थान सबसे पहले है। समान स्वतन्त्रताओं की पूर्ण सन्तुष्टि के बाद ही हम न्याय के दूसरे सिद्धान्त की तरफ बढ़ सकते हैं। दूसरे सिद्धान्त का सम्बन्ध आय, सत्ता, श्रम पद आदि के बँटवारे से है, जहाँ अवसर सभी के लिए खुले होने चाहिए। यह बँटवारा असमान भी हो

सकता है परन्तु इससे हीनतम को अधिकतम लाभ पहुँचना चाहिए। असमान बँटवारे की, किसी को अवसर की समानता से वंचित करके सुनिश्चित नहीं किया जायेगा।

प्राथमिक सामाजिक वस्तुओं के सन्दर्भ में रॉल्स कहता है कि प्राथमिक वस्तुओं की एक-दूसरे से अदला-बदली नहीं की जा सकती अर्थात् स्वतन्त्रता के लिए समानता को और समानता के लिए स्वतन्त्रता को छोड़ा नहीं जा सकता। इतना ही नहीं अपितु प्राथमिक वस्तुओं के असमान वितरण को उसी स्थिति में मान्य ठहराया जा सकता, जबकि असमान वितरण से सबसे बदतर वर्ग को लाभ मिलता हो तथा प्रत्येक की स्थिति में सुधार होता हो।

न्याय की प्राथमिकताओं को सुनिश्चित करने के बाद रॉल्स प्रक्रियात्मक न्याय के तीन भेद बताता है। प्रथम-पूर्ण प्रक्रियात्मक न्याय अर्थात् निष्पक्ष न्याय का स्वतन्त्र आधार हो और उसे सुनिश्चित करने की विधिक प्रक्रिया हो। द्वितीय-अपूर्ण प्रक्रियात्मक न्याय अर्थात् निष्पक्ष न्याय का स्वतन्त्र आधार हो परन्तु उसे सुनिश्चित करने की विधि व प्रक्रिया मौजूद न हो। तृतीय- शुद्ध प्रक्रियात्मक न्याय- इसका सम्बन्ध उस स्थिति से है, जहाँ निष्पक्ष निष्कर्ष का स्वतन्त्र आधार नहीं होता। केवल निष्पक्ष विधि व प्रक्रिया के आधार पर न्याय सुनिश्चित किया जाता है। रॉल्स अपने न्याय को शुद्ध प्रक्रियात्मक न्याय कहता है और शुद्ध प्रक्रियात्मक न्याय से वह वितरणात्मक न्याय के उद्देश्य को पाना चाहता है।

रॉल्स न केवल न्याय के सिद्धान्तों की चर्चा करता है बल्कि उसे सुनिश्चित करने हेतु **मूल संरचना की अवधारणा** प्रस्तुत करता है। मूल संरचना के अन्तर्गत राजनैतिक संविधान, न्यायिक व्यवस्था तथा सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था से जुड़ी संस्था को लिया गया है। न्याय के सिद्धान्त में मूल संरचना की अवधारणा ऐसी अवधारणा है जिसमें रॉल्स के अनुसार एक न्यायसंगत संविधान होना चाहिए ताकि नागरिकों को विभिन्न प्रकार की स्वतन्त्रताएँ प्राप्त हो सकें। वितरणात्मक न्याय हेतु आवश्यक है कि विभिन्न अर्थों में अवसर की समानता उपलब्ध हो तथा न्यूनतम सामाजिक आवश्यकताओं की गारण्टी हो। रॉल्स ने उदारवादी बाजार अर्थव्यवस्था को, जिसके कारण उपरोक्त समस्याएँ आ रही थी, अपने न्याय सिद्धान्त के माध्यम से ग्राह्य बनाने की कोशिश की। रॉल्स के अनुसार न्याय समाज का प्रथम सद्गुण है क्योंकि न्याय में समाज को बाँधने की क्षमता अन्य के मुकाबले सर्वाधिक होती है। रॉल्स ने अपने न्याय सिद्धान्त में उदारवादी पूँजीवादी व्यवस्था को वितरणात्मक न्याय के साथ जोड़कर औचित्य प्रदान करने की कोशिश की है।

12.10.1 रॉल्स के न्याय सिद्धान्त की आलोचनाएँ

अनेक विद्वानों ने रॉल्स के न्याय सिद्धान्त की विभिन्न आधारों पर आलोचनाएँ की हैं जिसमें प्रमुख नाम-सी० वी० मैकफर्सन का है। मैकफर्सन ने रॉल्स को उदार लोकतान्त्रिक पूँजीवादी राज्य का प्रवक्ता

कहा है। वह कहता है कि उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व वाली किसी भी व्यवस्था में स्वतन्त्रता तथा समानता का समाधान सम्भव नहीं है। मैकफर्सन के अनुसार-रॉल्स का सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि पूँजीवादी समाज एक वर्ग विभाजित समाज है तथा उत्पादन में कार्यकुशलता लाने के लिए उत्साहवर्धक के रूप में यह असमानता आवश्यक है। अतैव कल्याणकारी राज्य में अमीर से गरीब को हस्तान्तरण उस सीमा तक ठीक है जहाँ तक वह धनी वर्ग की समृद्धि के लिए खतरा नहीं है। मैकफर्सन की मान्यता में रॉल्स यहाँ यह भूल जाता है कि आय, वर्ग की असमानता, एक वर्ग द्वारा दूसरे पर आधिपत्य जमाने का अवसर प्रदान करती है।

समष्टिवादी रॉल्स के सिद्धान्तों में पूँजीवाद का औचित्य देखते हैं। मार्क्सवादी रॉल्स के वार्ताकारों को यह कहकर खारिज कर देते हैं कि जिन्हें सामाजिक, आर्थिक तथ्यों की जानकारी न हो, वे न्याय के सिद्धान्तों का निर्धारण क्या करेंगे? चूँकि रॉल्स वर्ग विभाजन को मान्यता देता है, अतएव ऐसे समाज में न्याय की कल्पना सम्भव नहीं है। स्वच्छन्दतावादी, रॉल्स के इस तर्क को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है कि 'व्यक्तिगत योग्यताएँ समाज की सार्वजनिक सम्पत्ति है और सामाजिक न्याय के लिए भेदमूलक सिद्धान्त ठीक है।

उक्त आलोचनाओं के बावजूद जिस समय स्वच्छन्दतावादी कल्याणकारी राज्य पर हमले कर रहे थे तथा पूँजीवाद के हित में असीम स्वतन्त्रता की माँग कर रहे थे, उसी समय रॉल्स ने पूँजीवाद जनित सामाजिक विकृतियों को ध्यान में रखकर, उसे वितरणात्मक न्याय से जोड़कर समाधान प्रस्तुत करने की कोशिश की।

रॉल्स की प्राकृतिक योग्यताएँ समाज में विशेषाधिकारों और असमानताओं को जन्म देती है क्योंकि इन असमानताओं को खत्म नहीं किया जा सकता। इसी असमानता को कम करने हेतु रॉल्स ऐसी व्यवस्था कल्पित करता है जिसमें योग्य व्यक्तियों के प्रयत्न व क्षमताएँ निहित हैं, इस ढंग से प्रयोग करे जिससे समाज के निम्नतम वर्ग की दशा में सुधार हो सके और विशेषाधिकारों से उत्पन्न होने वाली विषमताओं की क्षतिपूर्ति की जा सके। केवल योग्य व्यक्ति को पुरस्कृत करना मनमाना न्याय है। न्याय का सही अर्थ केवल योग्य व्यक्तियों को पुरस्कृत करना ही नहीं, बल्कि हीनतम लोगों की क्षतिपूर्ति करना भी है, क्योंकि 'न्याय' पुरस्कार का सिद्धान्त न होकर क्षतिपूर्ति का सिद्धान्त है।

अभ्यास प्रश्न

1. न्याय का प्राथमिक सिद्धान्त क्या है जो व्यक्तियों के साथ न्यायसंगत और पक्षपात रहित व्यवहार करने की माँग करता है?

(अ) निष्पक्षता (ब) पक्षपात (स) पूर्वाग्रह (द) बहिष्करण

2. न्याय का कौन सा पहलू यह सुनिश्चित करने पर केंद्रित है कि अपराध के आरोपी व्यक्तियों को निष्पक्ष और निष्पक्ष सुनवाई का अधिकार है?

(अ) उचित प्रक्रिया (ब) पुनर्स्थापनात्मक न्याय (स) प्रक्रियात्मक न्याय (द) कानून का शासन

3. आर्थिक और सामाजिक असमानताओं को दूर करने के लिए समाज के भीतर संसाधनों, अवसरों और लाभों के उचित वितरण को कौन सा शब्द संदर्भित करता है?

(अ) राजनीतिक न्याय (ब) आर्थिक न्याय (स) नैतिक न्याय (द) वितरणात्मक न्याय

12.5 सारांश

निष्पक्षता, समानता और नैतिक आचरण की खोज में निहित, न्याय मानवीय संबंधों, कानूनी प्रणालियों और सामाजिक संरचनाओं का मार्गदर्शन करने वाले एक नैतिक कम्पास के रूप में कार्य करता है। इसकी बहुआयामी प्रकृति में विविध गतिशीलता शामिल है, प्रतिशोधोन्मुख और पुनर्स्थापनात्मक न्याय से लेकर वितरणात्मक और सामाजिक-आर्थिक न्याय तक, प्रत्येक मानव अनुभव के विभिन्न पहलुओं को संबोधित करता है। पूरे इतिहास में, न्याय समाज की बदलती जरूरतों और मूल्यों के अनुरूप विकसित हुआ है। प्राचीन सभ्यताओं के दैवीय न्याय से लेकर पुनर्जागरण और प्रबुद्धता के दौरान व्यक्तिगत अधिकारों और कानून के शासन पर जोर देने तक, न्याय ने मानव सभ्यता के पाठ्यक्रम को आकार दिया है, आधुनिक कानूनी प्रणालियों और नैतिक ढांचे के लिए आधार तैयार किया है। न्याय की खोज में, हमें याद रखना चाहिए कि यह केवल एक अमूर्त अवधारणा नहीं है बल्कि कार्रवाई का आह्वान है। इसके लिए हमें अन्याय के खिलाफ खड़े होने, हाशिये पर पड़े और उत्पीड़ितों के अधिकारों की वकालत करने और सहानुभूति और समझ को बढ़ावा देने की आवश्यकता है। न्याय के आदर्शों को अपनाकर और इसके सिद्धांतों के प्रति सामूहिक प्रतिबद्धता को बढ़ावा देकर, हम एक ऐसी दुनिया का निर्माण कर सकते हैं जो वास्तव में सभी के लिए निष्पक्षता, समानता और करुणा का प्रतीक है।

12.6 शब्दावली

वितरणात्मक न्याय- समाज के भीतर संसाधनों, अवसरों और लाभों का उचित और समान वितरण सुनिश्चित करें।

प्रक्रियात्मक न्याय - कानूनी प्रक्रियाओं और प्रक्रियाओं की पारदर्शिता, यह सुनिश्चित करना कि व्यक्तियों के साथ सम्मानपूर्वक व्यवहार किया जाए और उन्हें निष्पक्ष सुनवाई तक पहुंच प्राप्त हो।

राजनीतिक न्याय- सत्ता का उचित वितरण, राजनीतिक भागीदारी तक पहुंच, और समाज के भीतर प्राधिकार के पदों पर बैठे लोगों की जवाबदेही।

12.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. (अ) 2. (अ) 3. (ब)
-

12.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

राजनीतिक सिद्धांत अवधारणाएँ एवं विमर्श- संपादक बलवान गौतम, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय
 राजनीतिक सिद्धांत की रूपरेखा – ओ. पी. गाबा
 आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत- डॉ. पुखराज जैन, डॉ. बी. एल. फड़िया

12.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. न्याय के अर्थ को बताते हुए न्याय के विचार की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट कीजिये।
 2. न्याय के विभिन्न आयामों का वर्णन कीजिये।
 3. राल्स के न्याय सिद्धांत पर एक निबंध लिखिए ?
-

इकाई-13 : लोकतंत्र का अर्थ, परिभाषा एवं औचित्य

इकाई की संरचना

- 13.0 प्रस्तावना
- 13.1 उद्देश्य
- 13.2 लोकतन्त्र
- 13.3 लोकतन्त्र का अर्थ एवं परिभाषा
 - 13.3.1 लोकतंत्र का व्यापक अर्थ
- 13.4 लोकतंत्र का दार्शनिक आधार
- 13.5 लोकतंत्र के प्रकार
- 13.6 लोकतंत्र की विशेषताएं
- 13.7 लोकतंत्र के गुण
- 13.8 लोकतंत्र के दोष
- 13.9 लोकतंत्र का औचित्य
- 13.10 सारांश
- 13.11 शब्दावली
- 13.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 13.13 संदर्भ ग्रन्थ सूची
- 13.14 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 13.15 निबन्धात्मक प्रश्न

13.0 प्रस्तावना

इसके पूर्व की इकाई में हमने न्याय के अर्थ इसकी विशेषता के साथ ही इसके अन्य विभिन्न पक्षों का अध्ययन किया। साथ ही साथ कानून के अर्थ और विशेषता का अध्ययन किया और देखा कि वर्तमान समय में न्याय की स्थापना हेतु कानून किस प्रकार से महत्वपूर्ण है। इसके साथ ही साथ जॉन राल्स के न्याय सिद्धान्त और उसके विभिन्न रूपों के अध्ययन किया है।

इस इकाई में हम लोकतन्त्र के अर्थ को समझने का प्रयास करेंगे। जिससे हम देखेंगे कि इसकी विशेषताएं क्या हैं। इसके दृष्टिकोण कितने हैं और वर्तमान समय में यह किस प्रकार से सर्वाधिक उपयुक्त शासन प्रणाली हैं।

13.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप समझ सकेंगे कि-

- 1 लोकतन्त्र के अर्थ को समझ सकेंगे।
2. लोकतन्त्र में किस प्रकार शासन जनता के प्रति उत्तरदायी है समझेंगे।
3. लोकतन्त्र की विशेषताओं को जानेंगे।
5. लोकतन्त्र की वर्तमान समय में उपयोगिता है जानेंगे।

13.2 लोकतन्त्र

लोकतन्त्र वर्तमान युग की सबसे लोकप्रिय अवधारणा है। सत्ता और जनता के बीच घनिष्ठ एवं आत्यन्तिक सम्बन्ध स्थापित करने वाली एक प्रणाली के रूप में लोकतन्त्र सभी देशों में एक अनिवार्य, अपरिहार्य एवं नितान्त वांछित आवश्यकता के रूप में है। विश्व के सभी राष्ट्र चाहे उनकी शासन पद्धतियां कुछ भी क्यों न हो अपने को लोकतन्त्र की ही संज्ञान देते हैं। प्रायः प्रत्येक राजनीतिक पद्धति लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों को अपना रही है। सत्ता में जनसहभागिता सुनिश्चित करने वाली यह व्यवस्था सार्वजनिक संप्रभुता की द्योतक है। आज मानव शक्ति को अन्मुक्त करने के लिए कोई विचारवाद इतना प्रबल नहीं है जितना कि लोकतन्त्र। वास्तव में अब यह विचारवाद न रहकर मानव धर्म बना गया है।

इतिहास के क्रम में द्वितीय विश्वयुद्ध में इटली तथा जर्मनी (धुरी के राष्ट्रों) के पतन के पश्चात् मित्र राष्ट्रों (अमेरिका, ब्रिटेन एवं फ्रांस) की विजय ने लोकतंत्र को पुनः प्रतिष्ठा दी जो कि 1920 से 1940 तक यूरोप, एशिया तथा अमेरिका के कई देशों में अधिनायकता के फलस्वरूप न ही गई थी। विश्व में आज लोकतंत्र काफ़ी सम्मान का पात्र है। विश्व में चारों ओर लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था का ही बोलबाला है। यह बात उल्लेखनीय है कि 1949 में यूनेस्को ने जो अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की उससे ज्ञात होता है कि विश्व के अधिकांश विद्वान लोकतंत्र को उचित और आदर्श राजनीतिक और सामाजिक संगठन समझते हैं।

प्लेटो से लेकर वर्तमान तक राजनीति विज्ञान में लोकतंत्र (जनतंत्र अथवा प्रजातंत्र) सर्वाधिक चर्चित विषय रहा है। वर्तमान समय को साधरण आदमी का युग माना जाता है, जो लोकतंत्र का एक अत्यन्त उपयोगी अवयव है। लोकतंत्र का एक अत्यन्त उपयोगी अवयव है। लोकतंत्र कतिपय शाश्वत वरीयताओं, पर आधारित है, जिनको डॉल, डेविड ईस्टन, हेरॉल्ड लासवेल आदि सभी व्यवहारवादी राजनेताओं ने परम मूल्य के रूप में अपनाया। वे आनुभाविक, सन्दर्भ में इसके लगातार सत्यापन के पक्ष में हैं, किन्तु समानताओं के होते हुए भी, पैराक्लीज के एथेन्स तथा टॉमस जकरसन और एण्ड्रयू जैम्सन के प्रजातंत्र से आज का प्रजातंत्र नितानत भिन्न है। इनको एक दूसरे का पर्यायवाची समझना अनुचित है। वर्तमान समय का प्रजातंत्र राज्य प्रधान है। और इसमें अनेक मिश्रित विचारधाराओं काह समावेश है जैसे राष्ट्रीय प्रजातन्त्र, समाजवादी प्रजातन्त्र, जनवादी प्रजातन्त्र, मूलभूत या पचायत प्रजातन्त्र आदि। प्रजातन्त्र के ऐतिहासिक तथा शास्त्रीय स्वरूप में वर्तमान युग के सन्दर्भ में पर्याप्त परिवर्तन हो जाने से अनेक राजनितिशास्त्रियों ने नये नाम सुझाये है। राबर्ट ए० डहल उसे लोकप्रिय शासन या बहुतन्त्र कहा है तो लोवेस्टीन ने पोलोक्रेसी कहना उचित समझा है। अन्य विद्वानों ने उसे दलीय तन्त्र, जनतन्त्र, निर्वाचित बहुमत, लोकतन्त्र आदि नामों से पुकारा है। हिन्दी भाषा में जनतन्त्र आर्थिक प्रजातन्त्र के लिए तथा लोकतन्त्र राजनितिक प्रजातन्त्र के लिए प्रयोग किया जाता है। इन विभिन्न नामों के प्रयोग से प्रजातन्त्र के स्वरूप में अनिश्चयात्मकता, अस्पष्टता, श्रान्ति आदि वैचारिक कठिनाइयाँ पैदा हो गयी है। इसके साथ ही पश्चिमी ओर अमेरिकी प्रजातन्त्र में यह एक जीवन-प्रणाली बनकर राज्यव्यवस्थाओं में समा गया है। सारटोरी ने इस अवसान के कारण वर्तमान अवस्था को प्रजातन्त्रात्मक श्रान्ति का युग कहा है

13.3 लोकतन्त्र का अर्थ एवं परिभाषा

आज लोकतन्त्र शासन का श्रेष्ठतम रूप बन गया है। लोकतन्त्र शब्द अंग्रेजी भाषा के डेमोक्रेसी शब्द का हिन्दी रूपान्तर है, जो दो यूनानी शब्दों से मिलकर बना है- डेमोस और क्रेटोस। डेमोस का अर्थ जनता और क्रेटोस का अर्थ है सरकार या शासन। इस प्रकार शब्द की उत्पत्ति के दृष्टिकोण से

प्रजातन्त्रसे अभिप्राय है जनता का शासन कुछ लोग इसे लोकतन्त्र, कुछ प्रजातंत्र से और कुछ जनतंत्र के ना मसे पुकारते हैं। साधारणतया लोकतंत्र से अभिप्राय उस शासन व्यवस्था से है जिसमें जनता शासन करती है, वही सरकार का निर्माण करती है, शासन का संचालन करती है तथा सरकार के प्रति उत्तरदायी भी होती है। शासन की सत्ता जनता के हाथों में रहती है, जिसका प्रयोग वह या तो स्वयं करती है या अपने प्रतिनिधियों द्वारा कराती है। महात्मा गाँधी के शब्दों में लोकतंत्र वह कला एवं विज्ञान है। जिसके अन्तर्गत जनसाधारण के विभिन्न वर्गों के भौतिक, आर्थिक एवं आध्यात्मिक संसाधनों को सभी के समान हित की सिद्धि के लिए नियोजित किया जाता है। इसी संदर्भ में जवाहर लाल नेहरू का दृष्टिकोण है कि लोकतंत्र का आशय सहिष्णुता है, न केवल उन लोगों के प्रति जिनसे सहमति हो वरन् उनके प्रति भी जिनसे असहमति हो।

लोकतंत्र की विद्वानों ने अनेक प्रकार से परिभाषाएं की हैं-

1. प्राचीन युग में यूनानी लोग लोकतंत्र को बहुरक्षकों का शासन मानते थे। प्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक हिरोडोटस के अनुसार- “लोकतंत्र उस शासन व्यवस्था का नाम है, जिसमें राज्य की सर्वोच्च सत्ता सम्पूर्ण जनता के हाथों में निवास करती है।”
2. सीले के शब्दों में “प्रजातंत्र वह शासन है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का एक भाग होता है।”
3. डायसी के अनुसार-“ प्रजातंत्र वह शासन का स्वरूप है जिसमें शासन प्रबन्ध करने वाली संस्था समूचे राष्ट्र का एक अपेक्षाकृत बड़ा भाग होती है।”
4. लेविस का मत है कि-“वस्तुतः प्रजातंत्र वह सरकार में है, जिसमें सम्पूर्ण राष्ट्र की बहुसंख्यक जनता संप्रभुशक्ति के प्रयोग में हिस्सा लेती है।”
5. हॉल के अनुसार-“ प्रजातंत्र राजनीतिक संगठन का वह स्वरूप है जिसमें जनमत का नियंत्रण रहता है।”
6. आशीर्वादम के शब्दों में “ हमारा विश्वास है कि प्रजातंत्र मानवता के प्रति हमारे उत्साह की व्यावहारिक अभिव्यक्ति है।”
7. ऑस्टिन के अनुसार-“ प्रजातंत्र वह शासन है जिसमें शासन की अंतिम शक्ति जनता के अधिकांश भाग को प्राप्त होती है।”
8. अब्राहम लिंकन के अनुसार-“ लोकतंत्र जनता का जनता के द्वारा और जनता के लिए (स्थापित) शासन प्रणाली है।”

उपर्युक्त परिभाषाओं में सर्वाधिक लोकप्रिय व मान्य परिभाषा अब्राहम लिंकन की है, जिसे उन्होने गोटसबर्ग के भाषण में कहा था। लोकसंघ की विविध परिभाषाओं का मूल अभिप्राय यह है कि लोकतंत्रीय प्रणाली में शासन या सत्ता का अंतिम सूत्र जनसाधारण के हाथों में रहता है ताकि सार्वजनिक नीति जनता की इच्छा के अनुसार और जनता के हित साधन के उद्देश्य से बनाई जाए और कार्यान्वित की जाय।

13.3.1 लोकतंत्र का व्यापक अर्थ

लोकतंत्र बहुआयामी अर्थ लिए हुए है। यह मात्र शासन-व्यवस्था अथवा सरकार का एक रूप मात्र नहीं है, अपितु यह समाज और आर्थिक व्यवस्था का भी एक प्रमुख रूप है। हर्नशाँ के शब्दों में “प्रजातंत्र केवल सरकार का स्वरूप नहीं है, बल्कि राज्य और समाज का भी स्वरूप है।” गिडिंग्स ने इस सन्दर्भ में कहा-“प्रजातंत्र केवल शासन का ही नाम नहीं है, वरन् राज्य का भी एक रूप है तथा समाज के रूप का भी एक नाम है या फिर तीनों का सम्मिश्रण है।” प्रजातंत्र के नैतिक स्वरूप का वर्णन करते हुए डा० बेनीप्रसाद ने कहा है कि -“लोकतंत्र जीवन का एक ढंग है। यह इस मान्यता पर आधारित है कि प्रत्येक व्यक्ति के सुख का महत्व उतना ही है जितना अन्य किसी के सुख का साधन मात्र नहीं समझा जा सकता। “मैक्सी ने लोकतंत्र का व्यापक अर्थ करते हुए लिखा है-“बीसवीं सदी में लोकतंत्र से तात्पर्य एक राजनीतिक नियम, शासन की विधि व समाज के ढांचे से ही नहीं है, वरन् यह जीवन के उस मार्ग की खोज है जिसमें मनुष्यों की स्वतंत्र एवं ऐच्छिक बुद्धि के आधार पर उनमें अनुरूपता और एकीकरण लाया जा सके।”

इस व्यापक परिप्रेक्ष्य में लोकतंत्र के विभिन्न रूप परिलक्षित होते हैं-

1. लोकतंत्र का राजनीतिक स्वरूप- लोकतंत्र का प्रत्यक्ष सम्बन्ध शासन-प्रणाली से होता है। इस अर्थ में लोकतंत्र सरकार का वह संगठन है जो कि जनता के द्वारा निर्मित नियन्त्रित एवं संचालित होता है। वास्तव में लोकतंत्र में शासन की सत्ता की बागडोर जनता में ही निहित होती है। जनता अपनी सत्ता का प्रयोग स्वयं या अपने प्रतिनिधियों द्वारा करती है। शासन व्यवस्था पर अंतिम अधिकार एवं निर्णय जनता का ही होता है शासन शासितों का हित समान ही होता है। लोकतंत्र के राजनीतिक स्वरूप का अर्थ यही है कि राज्य के प्रत्येक वयस्क स्त्री एवं पुरुष को मतदान का अधिकार प्राप्त हो। प्रत्येक व्यक्ति को शासन की निंदा करने का अधिकार हो तथा समाचार पत्र एवं प्रेस की भूमिका स्वतंत्र एवं निष्पक्ष हो। जनता व सत्ता के मध्य सम्बन्ध समन्वय पूर्ण होने चाहिए।

2. लोकतंत्र का सामाजिक स्वरूप- लोकतांत्रिक समाज समता में फलता एवं फूलता है। समानता की भावना ही लाकतांत्रिक समाज की एक विशिष्ट विशेषता होती है। यह सिद्धान्त जन्म, जाति, वर्ण, चरित्र तथा योग्यता इत्यादि के भेदों से परे प्रत्येक मनुष्य के समान नैतिक गुण और

आत्मिक गौरव पर बल देता हुआ समाज में सामाजिक तथा सांस्कृतिक समानता की स्थापना करता है। यह समाज के प्रत्येक सदस्य को अपने व्यक्तित्व के विकास अवसर उपलब्ध कराता है। इस प्रकार, जिस समाज में विचारों, अधिकारों, भावनाओं और आदेशों की समानता होती है। उसे ही लोकतांत्रिक समाज कहा जा सकता है।

क्रोजियर के कथनानुसार “मनुष्य की भौतिक एवं सामाजिक दशाओं की समानता लोकतंत्र का सार है। “ आर्शीवार्दम के शब्दों में- “प्रजातान्त्रिक समाज वह है, जिसमें समानता तथा भ्रातृत्व की भावना सम्भवता वर्तमान रहती है। “ अतः सामाजिक दृष्टि से लोकतंत्र का अर्थ सामाजिक समानता के रूप में जाना जाता है।

3. लोकतंत्र का नैतिक स्वरूप- लोकतंत्र का स्वरूप नैतिक भी है। यह स्वरूप एक आदर्श एवं आध्यात्मिक जीवन की कल्पना करता है, जिसके अन्तर्गत घृणा, स्वार्थ, द्वेष, ईर्ष्या इत्यादि बुरी प्रवृत्तियों का नाम नहीं रहना चाहिए। मनुष्यों में प्रेम, देश-प्रेम, सहयोग, भ्रातृत्व इत्यादि गुणों की वृद्धि करके नागरिकों में नैतिकता का विकास होना चाहिए। लोकतंत्र की सफलता के लिए राष्ट्रीय एकता तथा लोगों में उच्च नैतिक मूल्यों के प्रति निष्ठा नितान्त जरूरी है। प्रजातंत्र के नैतिक स्वरूप का वर्णन करते हुए जैकरसन ने लिखा है “प्रजातंत्र शासन इस विश्वास पर आधारित है कि अधिकांश जनता स्वशासन की योग्यता रखती है तथा साधारण व्यक्ति के अन्दर भी इतनी योग्यता होती है कि वह ऐसे शासकों का निर्वाचन करे, जो सामाजिक हित को दृष्टि में रखकर कार्य करे।

4. लोकतंत्र का आर्थिक स्वरूप-आर्थिक स्वरूप से आशय है आर्थिक समानता से है। आर्थिक स्वतंत्रता और समानता ही वास्वविक प्रजातंत्र का आधार मानी जाती है। भूखे व्यक्ति के लिए लोकतंत्र का कोई महत्व नहीं हो सकता। इस कारण आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना आवश्यक है। आर्थिक लोकतंत्र से आशय है ऐसी व्यवस्था से होता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपनी भौतिक सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उचित साधन उपलब्ध हो और जहाँ पर किसी का शोषण न किया जाये। यह कहा भी जाता है कि आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक लोकतंत्र सामान्य मनुष्यों को अपनी इच्छाओं की पूर्णता में सहायता नहीं दे सकता। राजनीतिक शक्ति आर्थिक शक्ति की दासी है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि समाज में धन का वितरण इस तरह होना चाहिए कि अधिक से अधिक व्यक्ति उसका उपभोग कर सकें और सभी लोगों को भोजन, वस्त्र, शिक्षा आदि की पर्याप्त सुविधाएं प्राप्त हो। सच्चे अर्थों में लोकतंत्र की स्थापना तभी सम्भव है।

5. जीवन का एक रूप-लोकतंत्र जीवन का एक रूप भी है। यह जीवन के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण अपनाता है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति का सम्मान होता है तथा उसकी आन्तरिक नैतिक एवं

आध्यात्मिक क्षमता का विकास किया जाता है। जिससे व्यक्ति की गरिमा में बढ़ोतरी होती है और उसका नैतिक स्तर ऊपर उठता है।

उर्पयुक्त विभिन्न व्यापक दृष्टिकोणों से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि लोकतंत्र एक ऐसी शासन प्रणाली और सामाजिक व्यवस्था का सिद्धान्त है जिसकी एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति होती है और जिसका एक आर्थिक आधार होता है और जिसमें सामाजिक, राजनीतिक और दैनिक व्यवहार के सारे सांस्कृतिक मापदंड निहित होते हैं। संक्षेप में लोकतंत्र एक विशेष प्रकार का शासन है सामाजिक व्यवस्था का एक सिद्धान्त है, एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति है। इसका सही अर्थ अपने कर्तव्यों का उचित निर्वहन है।

13.4 लोकतंत्र का दार्शनिक आधार

लोकतंत्र व्यक्ति को एक इकाई के रूप में मानते हुए, उसकी गरिमा को महत्व देता है। लोकतंत्र के मूल्यों में स्वतंत्रता व अधिकार विद्यमान होते हैं। लोकतान्त्रिक समाज में जाति, लिंग, व धर्म के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाता है और समाज में किसी को कोई विशेषाधिकार प्राप्त नहीं होता है। लास्की, स्मिथ, ब्राड्स जैसे विचारक लोकतंत्र को जीवन शैली के रूप में देखते हैं। इसका मतलब दूसरों के प्रति सहिष्णु होना है। मिल के अनुसार 'दूसरों के विचारों का सम्मान करना ही लोकतान्त्रिक जीवन शैली है।

लोकतंत्र के तहत सीमित व संवैधानिक शासन होता है, इस शासन में उत्तरदायित्व व सहमती भी शामिल होती है। नियमित चुनाव लोकतंत्र में अनिवार्य तत्व है।

13.5 लोकतंत्र के प्रकार

1 प्रत्यक्ष लोकतंत्र – प्रत्यक्ष लोकतंत्र में जनता प्रत्यक्ष रूप से एकत्र होकर शासन के कार्यों व निर्णयों का संपादन करती है। जनता राज्य के शासन व्यवस्था के सम्बन्ध में निर्णय लेती है। इस तरह का लोकतंत्र 5 वीं शताब्दी में यूनान के एथेंस में होता था। वर्तमान समय में स्विट्ज़लैंड के कुछ राज्यों (cantons) में प्रत्यक्ष लोकतंत्र देखा जा सकता है। आज के समय में विशाल जनसंख्या वाले देशों में यह शासन व्यवस्था संभव नहीं है।

2 प्रतिनिधियात्मक लोकतंत्र- इस लोकतंत्र में प्रतिनिधियों द्वारा शासन किया जाता है जो व्यस्क मताधिकार के द्वारा चुने गये होते हैं। वर्तमान समय में भारत, फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका, इंग्लैंड आदि देशों में प्रतिनिधि लोकतंत्र है।

13.6 लोकतंत्र की विशेषताएं

1. लोकतंत्र में मतदाताओं द्वारा प्रतिनिधियों को चुनने के लिए नियमित चुनाव करवाए जाते हैं ।
2. लोकतंत्र समानता के सिद्धांत पर आधारित है ।
3. बुद्धिमान और प्रबुद्ध नागरिक लोकतंत्र की आवश्यकता है । क्योंकि सरकार का चयन , उस पर नियंत्रण आलोचना और उसे हटाना सभी कार्य नागरिकों द्वारा होने होते हैं । यह सभी कम तभी अच्छी से संपन्न हो सकते है जब लोग पढ़े लिखे व समझदार हों ।
4. अच्छा नेता लोकतंत्र के लिए उसी तरह जरूरी है जैसे मनुष्य के लिए दिमाग । सरकार की गुणवत्ता नेता के ईमानदार, मजबूत व शक्तिशाली होने पर ही बढ़ती है ।
5. एक स्वतंत्र, भयमुक्त और स्पष्ट प्रेस लोकतंत्र को मजबूत करती है ।
6. शक्तिशाली सत्ताधारी पार्टी के साथ-साथ एक सशक्त विपक्ष भी लोकतंत्र के लिए आवश्यक है । विपक्ष सरकार को उत्तरदायी बनता है और तानाशाही को नियंत्रित करता है ।
7. स्थानीय स्वशासन लोकतंत्र के लिए नींव का काम करता है ।
8. संवैधानिक सरकार लोकतंत्र के लिए जरूरी है ।
9. स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका भी लोकतंत्र के लिए आवश्यक है ।
10. लोकतंत्र की प्रस्तुति में सबसे महत्वपूर्ण तत्व लोगों की भावना है ।
11. लोकतंत्र में कानून का शासन (rule of law) चलता है ।
12. लोकतंत्र में जनता को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्राप्त होती है ।

13.7 लोकतंत्र के गुण

1. लोकतंत्र में प्रत्येक व्यक्ति को महत्त्व प्रदान किया जाता है ।
2. लोकतंत्र समानता की अवधारणा से जुड़ा होता है ।
3. लोकतंत्र राजनीतिक शिक्षा प्रदान करता है और लोगों में देशभक्ति जगाता है ।
4. लोकतंत्र व्यक्ति की गरिमा का सम्मान करता है ।
5. लोकतंत्र में आसानी से शान्तिपूर्ण तरीके से सरकारें बदल जाती है ।
6. यह लोकतंत्र में ही संभव है कि सामान्य सा व्यक्ति भी शासक बन सकता है ।

13.8 लोकतंत्र के दोष

1. लोकतंत्र बहुत खर्चीली होता है, जिसमें समय व धन का काफी अपव्यय होता है ।

2. लोकतंत्र एक प्रकार से भीड़ का शासन है।
3. लोकतंत्र में दलीय व्यवस्था के दुष्प्रभाव रहते हैं।
4. लोकतंत्र में अयोग्य व्यक्ति भी शासक बन सकता है।
5. जनता के शासन के स्थान पर कुछ लोगों का शासन होता है।

13.9 लोकतंत्र का औचित्य

निरंकुशता की अस्वीकृति- राज्य में सत्ता का दुरुपयोग हमेशा ही एक चुनौती बना रहता है। जब सत्ता की पूरी बागडोर एक व्यक्ति के हाथ आ जाये तो निरंकुशता जन्म लेती है। लार्ड ऐक्टन के अनुसार “सत्ता भ्रष्ट करती है और पूर्ण सत्ता पूर्णतः भ्रष्ट करती है”। एक निरंकुश सत्ताधारी जनसाधारण के हित में नहीं, अपनी शक्तियों का उपयोग अपने स्वार्थ के लिए करता है और सत्ता के दुरुपयोग से जनसाधारण में भय अल्पन करता है। लोकतंत्र में सत्ता का दुरुपयोग और निरंकुशता से बचने के लिए, सत्ताधारी पर जनता का नियंत्रण और अंकुश रहता है। लोकतांत्रिक मूल्यों के अनुसार जनमत को सर्वोच्च माना जाता है और सत्ताधारी की जनसाधारण के प्रति जवाबदेही उसका एक अभिन्न अंग है। निरंकुशता से बचने के लिए लोकतंत्र एक सार्थक उपाय के तौर पर उभरता है।

जनसाधारण की भागीदारी- एक कुशल शासन व्यवस्था वही है जो जनसाधारण के सहयोग से निर्णय ले। अन्य निर्णय-निर्माण के तरीकों की तुलना में लोकतांत्रिक प्रक्रिया नागरिकों के मुद्दों से भली भांति अवगत होती है और उनके हितों के प्रति जानकारीपूर्ण होता है। जन भागीदारी से निर्णय निर्मल और भी सुदृढ़ होता है। इस प्रकार जनता का विश्वास उनके प्रतिनिधियों और शासन प्रणाली पर बना रहता है। जॉन डेवी का तर्क है कि लोकतंत्र में परामर्श और चर्चा शामिल हैं जो सामाजिक जरूरतों और समस्याओं को उजागर करते हैं। समानता का अधिकार यह सुनिश्चित करता है कि जनसाधारण बिना किसी भेदभाव के अपना सहयोग परस्पर देता रहे। इससे नागरिक एक कुशल और संवेदनशील प्रशासन में अपना योगदान देने के लिए तत्पर रहते हैं।

जनमत और जनशिक्षा- स्वतंत्रता, समानता व आत्मसम्मान जैसे लोकतांत्रिक आदर्श स्वतंत्र चर्चा की अनुमति देती है। नागरिक यह जानकर भी सरकार की आलोचना कर सकते हैं कि अपने प्रतिनिधियों को चुनने की शक्ति उनके अपने हाथों में है। मुक्त सार्वजनिक चर्चा से समाज के विभिन्न वर्गों को विचार-विमर्श प्रक्रिया में भाग लेने की अनुमति मिलती है। अल्पसंख्यकों के भी अधिकारों को संग्रहित किया जा सकता है। लोकतांत्रिक सिद्धांत जैसे मत का अधिकार, अभिव्यक्ति की आजादी से जागरूक और सक्रिय नागरिक बनते हैं जो बेहतर जनमत बनाने में सहायक होता है। एक स्वस्थ

लोकतांत्रिक देश में इसी प्रकार जनशिक्षा का विकास होता है। ऐसे नागरिक एक दुसरे के विचारों के प्रति उदार व सहनशील बनते हैं। जनसाधारण का राष्ट्रीय चरित्र नैतिक रूप से और मजबूत होता है।

भ्रातृत्व व देशभक्ति-भ्रत्रित्व लोकतंत्र का एक अहम् हिस्सा है जो स्वतंत्र और समान समाज में और अधिक मजबूत होता है। जब सभी नागरिकों को अहसास होगा की उनकी राय पर गौर किया जाता है, देश के विकास में उनकी भी जिम्मेदारी है, तब देश प्रेम का संचरण होता है। एक दुसरे के प्रति सम्मान व सद्भावना भाव से सबकी उन्नति का विचार उत्पन्न होगा। लोकतंत्र में व्यक्तियों को भरोसा होता है की शासन तक उनकी बात पहुँचाने का अवसर मिलता है और वह जनमत को संगठित करके शासन के दृष्टिकोण को प्रभावित कर सकते हैं। इस से देशभक्ति और जनकल्याण की भावना का विस्तार होता है और विद्रोह की सम्भावना भी कम हो जाती है।

अभ्यास प्रश्न-

1. यूनानी शब्द डेमोस का अर्थ क्या है?
2. लोकतन्त्र जनता का जनता के द्वारा और जनता के लिए स्थापित शासन हैं।
3. लोकतन्त्र जीवन जीने का ढंग हैं। किसने कहा हैं?
4. लोकतंत्र के प्रकार कितने हैं?
5. यूनान के किस नगर में प्रत्यक्ष लोकतंत्र विद्यमान था?

13.10 विकासशील देशों में लोकतंत्र की समस्याएं

दूसरे विश्वयुद्ध के पश्चात एशिया और अफ्रीका में अनेक देश औपनिवेशिक शासन की जकड़न से बाहर निकले। स्वतंत्र हुए देशों में अधिकतर ने लोकतांत्रिक शासन पद्धति को अपनाया। कई देशों को लोकतंत्र की स्थापना करने में अनेक परेशानियों का सामना करना पड़ा और कुछ देश तो सैनिक शासन या तानाशाही की राह पर चल पड़े और कुछ देशों ने एकदलीक शासन अपनाया।

विकासशील देशों के सामने कुद समस्याएं समय-समय पर उत्पन्न होती रहती है जो विकासशील देशों के लोकतंत्र को प्रभावित करती है। इनमें से एक, जातीय समूहों का सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विकास भिन्न-भिन्न स्तर तक हुआ है। जातीय विविधता की झलक रानीतिक संगठन में साफ दिखायी पड़ती है। एक बात तो स्पष्ट तौर पर देखी जाती है कि जातीय समूहों को प्रभावशाली

समूह के हाथों जो भेदभाव, भले ही काल्पनिक हो या वास्तविक झेलना पड़ता है। और इससे लोकतंत्र में इनकी आस्था कमजोर हो जाती है।

दूसरे अधिकांश देश आर्थिक रूप से बहुत पिछड़े हैं जिसके कारण सरकार से विकास की अपेक्षा ज्यादा रहती है। कई देशों में एक दलीय व्यवस्था है या कम से कम एक दल का प्रभुत्व है। प्रभावशाली दल, स्वाधीनता संघर्ष में कुर्बानियों या प्रभावशाली नेतृत्व के सहारे आधुनिकता और विकास के नाम पर अपना औचित्य सिद्ध करता है। तीसरे, इन देशों में उदारवादी लोकतंत्रों की तुलना में, आर्थिक और सामाजिक गतिविधियों में शासन का हस्तक्षेप बहुत अधिक होता है। अर्थव्यवस्था के नियमन में शासन की अपेक्षाकृत अधिक दखलंदाजी आर्थिक विसंगतियों को दूर करने के लिए जरूरी है। ये विसंगतियां औपनिवेशिक शासन की देन है।

13.11 सारांश

इस इकाई में हमने लोकतंत्र के अर्थ, विशेषताएं इसके औचित्य का अध्ययन किया है। वर्तमान युग को लोकतंत्र का युग माना जाता है। किन्तु आज लोकतंत्र चारों ओर से चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। स्पष्ट होता है कि जो परिस्थितियां लोकतंत्रात्मक प्रणाली के मजबूती में सहायक है वो नहीं मिल पाने के कारण लोकतंत्र के मूल्यों सुरक्षित रखने और उन्हें व्यवहार में प्रत्येक मनुष्य के लिए अर्थपूर्ण बनाने में अनेक कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है। अतः लोकतांत्रिक समाज में इन जटिलताओं के कारण लोकतंत्र की सफलता की आवश्यक शर्तों को सर्वमान्य ढंग से लागू करना सम्भव नहीं।

13.12 शब्दावली

डेमोस -- जनता

प्रतिनिधियात्मक लोकतंत्र- इस लोकतंत्र में प्रतिनिधियों द्वारा शासन किया जाता है जो व्यस्क मताधिकार के द्वारा चुने गये होते हैं।

कानून का शासन – इसके अंतर्गत राज्य का प्रत्येक व्यक्ति विधि के अधीन है और कानून का पालन करगा।

13.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. जनता
 2. अब्राहम लिंकन
 3. बेनी प्रसाद
 6. दो
 7. एथेंस
-

13.14 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. लास्की -----द प्राब्लम्स आफ सावरिन्टी
 2. हेसिये ----पॉलिटिकल प्लूरेलिज्म
 3. ज्ञान सिंह सन्धु -- राजनीति के सिद्धान्त, ग्रन्थ विकास, जयपुर
 4. डॉ० वी० एल साह व डॉ० नीता बोरा, राजनीतिक विज्ञान का परिचय, अंकित प्रकाशन हल्द्वानी।
 5. ओम प्रकाश गाबा, राजनीतिक सिद्धान्त की रूपरेखा, मजूर पे परबैम्स नोएडा।
 6. डॉ० पुष्पेश पाण्डे व डॉ० विजय प्रकाश पन्त, राजनीतिक सिद्धान्त, जगदम्बा पब्लिसिंग कम्पनी नई दिल्ली।
 7. तिवारी, बी.के. (2005) राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, न्यू रॉयल बुक कंपनी
-

13.15 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. राजनीति के सिद्धान्त, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय
 - 2- जे० सी० जौहरी एवं सीमा चौधरी ----आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त , स्टर्लिंग पब्लिकेशन प्रा० लि० नयी दिल्ली
-

13.16 निबन्धात्मक प्रश्न

1. लोकतंत्र से आप क्या समझते हैं ? लोकतंत्र की विशेषताओं और ओचित्य पर प्रकाश डालिए ।
-

14 लोकतंत्र सम्बन्धी विभिन्न अवधारणा और अभिजन का सिद्धांत

14.0 प्रस्तावना

14.1 उद्देश्य

14.2 लोकतंत्र की विभिन्न अवधारणाएं

14.2.1 उदार लोकतंत्र का सिद्धांत

14.2.2 लोकतंत्र का बहुलवादी सिद्धांत

14.2.3 लोकतंत्र का मार्क्सवादी सिद्धांत

14.3 लोकतंत्र का विशिष्ट वर्गवादी सिद्धांत

14.3.1 मेन्हाईम के विचार

14.3.2 शुम्पीटर के विचार

14.3.3 रेमण्ड अरों के विचार

14.3.4 सारटोरी के विचार

14.3.5 विशिष्ट वर्गवादी सिद्धांत का मूल्यांकन

14.4 सारांश

14.5 शब्दावली

14.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

14.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

14.8 सहायक / उपयोगी पाठ्य सामग्री

14.9 निबंधात्मक प्रश्न

14.0 प्रस्तावना

प्राचीन समय से अभि तक विभिन्न प्रकार की शासन व्यवस्थाएं रहीं है जिससे मानव का राजनीतिक विकास हुआ है। इसमें राजतन्त्र, कुलीनतंत्र, अधिनायकतंत्र, लोकतंत्र आदि रहे हैं आधुनिक युग में लोकतंत्र महत्वपूर्ण शासन व्यवस्था है। लोकतंत्र की अवधारणाओं के अंतर्गत लोकतंत्र के लक्ष्य, उद्देश्य और प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए अलग-अलग दृष्टिकोण से लोकतंत्र की सार्थकता पर विचार किया गया है। जिनका अध्ययन हम इस इकाई में करेंगे।

14.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप समझ सकेंगे कि-

- 1 लोकतन्त्र की विभिन्न अवधारणाएं कौन-कौन सी हैं।
- 2 इन अवधारणाओं के लक्षण व विशेषताओं को जान सकेंगे।
- 3 लोकतंत्र के विशिष्ट वर्गवादी सिद्धांत पर विभिन्न विचारकों के मतों का जन पाएंगे।

14.2 लोकतंत्र की विभिन्न अवधारणाएं

आधुनिक विश्व के अधिकांश राज्य लोकतांत्रिक होने का दावा करते हैं। यहां तक कि एक बार हिटलर ने लोकतांत्रिक शासन की बात करते हुए अपने शासन को 'जर्मन लोकतंत्र कहना पसंद किया था। कहीं पर लोकतंत्र को राज्य का रूप माना गया है तो कहीं पर इसे समाज और जीवन का ढंग कहा गया है। ऐसी स्थिति में स्वीकार करना होगा कि लोकतंत्र सम्बन्धी विचारों में आजकल बहुत अन्तर आ गया है। अतः यह वैचारिक अन्तर लोकतंत्र के सिद्धान्तों, आदर्शों एवं मूल्यों में भी दिखाई देता है। इस कारण लोकतंत्र के अनेक दृष्टिकोण सामने आए हैं जो इस प्रकार है- (1) लोकतंत्र का पारम्परिक उदारवादी दृष्टिकोण (2) लोकतंत्र का विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त (3) लोकतंत्र का बहुलवादी सिद्धान्त (4) लोकतंत्र का मार्क्सवादी दृष्टिकोण (5) लोकतंत्र का समाजवादी दृष्टिकोण।

लोकतंत्र का परम्परिक उदारतावादी दृष्टिकोण-पारम्परिक उदारतावादी सिद्धान्त को प्रतिष्ठित, लोकप्रिय सिद्धान्त भी कहा जाता है। यह सिद्धान्त पिछली करीब तीन शताब्दियों में विकसित हुआ और यह किसी एक दर्शन, लेखन आन्दोलन का परिणाम न होकर अमेरिका, इंग्लैण्ड तथा अन्य पश्चिमी देशों के राजनीतिक आन्दोलन व्यवहार तथा चिंतन का परिणाम है। आधुनिक युग के आरम्भ के साथ ही इस सिद्धान्त का विकास देखा जा सकता है। 'पुर्न जागरण' तथा धर्मसुधार के

सांस्कृतिक ताकि धार्मिक आन्दोलनों ने व्यक्ति के मूल्य को सर्वोच्च मानते हुए व्यक्ति को ही अपने चिंतन का केन्द्र-बिन्दु स्वीकार किया। हॉब्स (1588-1079) ने इसी आधार पर 17वीं शताब्दी में लोकतंत्र के महत्वपूर्ण नियम को स्पष्ट किया। हॉब्स ने कहा कि राज्य सरकार तथा अन्य मानवीय संस्थाएं व्यक्तियों के आपसी समझौते के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुई है। इस समय अंग्रेज विचारक जान लाक (1032-1704) ने इंग्लैण्ड की गौरव क्रांति (1088) के अवसर पर यह विचार व्यक्त किया कि मनुष्य के कुछ प्राकृतिक अधिकार होते हैं जिनहे उनसे कोई नहीं छीन सकता; इनमें 'जीवन' स्वतंत्रता और सम्पत्ति के अधिकारों के सिद्धान्त के आधार पर सरकार के खिलाफ बगावत को उचित ठहरा कर सीमित सरकार के लोकतांत्रिक सिद्धान्त को स्थापित किया।

अठारहवीं शताब्दी में व्यक्ति के अधिकारों और स्वतंत्रताओं को संरक्षण रखने के लिए तथा सरकार को निरंकुश होने से बचाने के लिए मांटेस्क्यू ने शक्तियों के पृथकरण का सिद्धान्त दिया। रूसों ने लोकतंत्र की आत्मा के स्वरूप में 'सामान्य इच्छा' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। रूसों ने जनता द्वारा राजनीति में प्रत्यक्ष हिस्सा लेने को लोकतंत्र की मुख्य विशेषता माना। मैबले, दिदरों, हैलविशियस, होलबैक विद्वानों ने व्यक्तियों की 'जन्मसिद्ध समानता' के विचार को प्रतिपादित करके लोकतंत्र को एक ओर नवीन आधार-स्तम्भ प्रदान किया। अमेरिका (1776) तथा फ्रांस (1789) की क्रान्तियों ने राजनीतिक क्षेत्र में क्रान्ति के माध्यम से लोकतंत्र को व्यावहारिक रूप देने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया। अमेरिका के क्रान्तिकारियों जेकरसन, मेडीसन के प्रयासों से अमेरिकी संविधान उदारवादी लोकतंत्र के राजनीतिक घोषणापत्र के रूप में उभरकर सामने आया। आर्थिक स्तर पर एडम स्मिथ, रिकार्डो, माल्थस जैसे अर्थशास्त्रियों ने राज्य के हस्तक्षेप को अस्वीकार करते हुए सीमित सरकार के विचार को आर्थिक आधार प्रदान किया। सबके साथ ही धार्मिक क्षेत्रों में राज्य की दखलंदाजी को भी उदारवादी लेखकों ने विरोध किया और इस प्रकार धर्मनिरपेक्ष राज्य की अवधारणा विकसित हुई।

19वीं शताब्दी में बेथम, जेम्स मिल, जे0एस0 मिल ने उपयोगितावादी दार्शनिकों ने 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख के आधार पर लोकतंत्र का समर्थन किया। इस परिपेक्ष्य में सर्वप्रथम बेथम ने प्रतिनिधी सरकार तथा वयस्क मताधिकार के चारों को पेश किया। बेथम ने गुप्त मतदान, संसद की अवधि एक साल प्रेस तथा विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, मतदान को कारगर बनाने के लिए शिक्षा के महत्व पर जोर दिया। बेथम ने लोकतंत्र को एक उपयुक्त शासन व्यवस्था, कानून व्यवस्था, समाज में बनाये रखने के लिए एकमात्र शासन विधि बताया। मेकरसन के शब्दों में इन्होंने रक्षात्मक लोकतंत्र की आधारशिला रखी।

जे0एस0 मिल ने लोकतंत्र के नैतिक पहलू की ओर ध्यान केन्द्रित किया साथ ही लोकतंत्र को मानवीय विकास का एकमात्र साधन माना। मिल ने मतदान की शक्ति को केवल शासितों को नियन्त्रित करने की ही शक्ति नहीं माना। उन्होने इस शक्ति को जनता के राजनीति में हिस्सा लिए जाने का उचित माध्यम माना। उनका दृढ़ विश्वास था कि अधिकार एवं स्वतंत्रता के माध्यम से जनता दायित्वों का अच्छी तरह अनुपालन करती है। मिल के विचारों के आधार पर ही टी.एच. ग्रीन तथा 20वीं शताब्दी में लिंगसे, हॉबहाउस, बार्कर, लास्की, मैकाइवर, डेवी पैनोक आदि ने लोकतंत्र के विकासवादी पक्ष को मजबूत किया तथा उक्त सिद्धान्त को नवीन दिशा प्रदान की। इनके प्रयासों से बीसवीं सदी में वयस्क मताधिकार मिला तथा राजनीति में जनता की भागेदारी उभरकर सामने आया। बीसवीं शताब्दी में पूंजीवादी व्यवस्था की आवश्यकता यह थी कि राज्य आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप न करे। इसके परिणाम स्वरूप पूंजीवादी अर्थव्यवस्था उदारवादी कल्याणवादी लोकतंत्रीय सरकार में बदल गई।

20वीं शताब्दी में लोकतंत्र उदारवादी सिद्धान्त के विकास में लास्की का महत्वपूर्ण योगदान है। लास्की ने जनता को अधिक से अधिक शिक्षित तथा योग्य बनाये जाने पर जोर दिया और लोकतन्त्र के आदर्श एवं संस्थाओं की विस्तृत व्याख्या की। राज्य की निरंकुश प्रभुसत्ता के कानूनी सिद्धान्त पर प्रहार करते हुए उन्होंने सत्ता को विभिन्न समूहों एवं संस्थाओं में विभाजित करने का बहुलवादी दृष्टिकोण दिया। लास्की ने सम्पूर्ण समाज के आर्थिक, समाजिक, नैतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों तक इसके विस्तार का सुझाव दिया। उसने लोकतन्त्रीय सरकार को जनता के आर्थिक हितों को संरक्षक बनाकर लोकतन्त्र को एक विस्तृत आकार प्रदान किया।

इस सिद्धान्त के अनुसार लोकतंत्र से आशय मात्र शासन व्यवस्था से न होकर ऐसी शासन विधि से है जिसके द्वारा नागरिक राज्य कार्यों में अपनी भागेदारी को सुनिश्चित करते हैं अपनी योग्यताओं एवं सक्षमताओं का अधिकतम विकास करते हुए स्वस्थ समाज के निर्माण की आधारशिला बन सकने का प्रयास अपने हितों की पूर्ति के लिए करते हैं। लोकतंत्र का मुख्य ध्येय व्यक्ति का चहुमुखी विकास एवं सर्वकल्याण करना है। मिल ने इस अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है- 'समाज की सभी जरूरतों को केवल वही सरकार पूर्णरूपेण संतुष्ट कर सकती है। जिसमें सभी लोग हिस्सा ले, छोटे-से-छोटे कार्य में भी जनता का भाग लेना महत्वपूर्ण माना जाता है। प्रत्येक स्थान में जनता का भाग इतना अधिक होना चाहिए जितना समाज का सामान्य कल्याण अनुमति दे, और इससे अधिक अच्छी बात कोई नहीं हो सकती कि सबको राज्य की सम्प्रभुता में हिस्सा मिलें। अतः प्रजातन्त्र में राजनितिक निर्णय में जनता का योगदान को आवश्यक माना गया चाहे वह प्रत्यक्ष हो अथवा अप्रत्यक्ष।

14.2.1 उदारवादी लोकतन्त्र का सिद्धांत

लोकतंत्र का उदारवादी सिद्धांत उन सिद्धांतों पर आधारित है जो हाब्स, लॉक, बेथम, रूसो, मिल जैसे विचारकों ने दिए थे।

उदारवादी लोकतन्त्र के सिद्धान्त को विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न तरह से स्पष्ट करने का प्रयास करते हुए उदार लोकतन्त्र के कुछ विशिष्ट लक्षणों पर प्रकाश डाला। राबर्ट सी० बोन ने उदार लोकतन्त्र के, लिए निम्नांकित लक्षणों को आवश्यक माना - (1) नीति-निर्माताओं के निर्वाचन में सहभागिता, (2) भावीनीति-निर्माताओं के दो या दो से अधिक प्रतियोगी समूहों में से पसन्द के विकल्प (3) मताधिकार की पूर्ण समानता: (4) प्रतिनिधित्व की अधिकतम एकरूपता (5) मतदाताओं को पसन्द तथा वैद्य राजनीतिक समूहों को राजनीतिक गतिविधियों की पूर्ण स्वतंत्रता; (6) निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा लम्बे विचार-विमर्श के बाद बहुमत से नीति निर्णयों का निर्धारण; (7) समय-समय पर नियमित सुझावों के माध्यम से निर्वाचित प्रतिनिधियों का मतदाताओं के प्रति उत्तरदायित्व।

एलेन बाल ने उदारवादी लोकतंत्र के निम्नलिखित लक्षण बताये हैं (1) एक से अधिक राजनीतिक दल होते हैं। दल राजनीतिक सत्ता के लिए एक-दूसरे से खुलकर प्रतियोगिता कर सकते हैं (2) सत्ता के लिए प्रतियोगिता छिपाव-दुराव नहीं बल्कि खुलकर होती है। यह प्रतियोगिता स्थापित तथा स्वीकृत प्रतियोगिता के आधार पर होती है। (3) राजनीतिक सत्ता से जुड़े हुए पदों पर चुनाव या नियुक्तियाँ अपेक्षाकृत खुले रूप में होती हैं। (4) व्यापक मताधिकार पर आधारित चुनाव समय-समय पर होते रहते हैं। (5) सरकारी निर्णयों को प्रभावित करने के लिए प्रभावक गुटों को कार्य करने का अवसर मिलता है। ट्रेड यूनियनों तथा अन्य संघों पर सरकार का कड़ा नियंत्रण नहीं होता है। (6) अभिव्यक्ति तथा धर्म की स्वतंत्रता और स्वेच्छाचारी ढंग से बन्दी न बनाए जाने, आदि की नागरिक स्वतंत्रताएं सरकार द्वारा मान्य होती हैं और सरकार उनकी रक्षा करती है। (7) स्वाधीन न्यायपालिका होती है। (8) टेलीविजन, रेडियो, अखबार जैसे जनसम्पर्क माध्यमों पर सरकार का एकाधिकार नहीं होता है। इन्हे कुछ सीमाओं में रहकर सरकार की आलोचना करने की भी स्वतंत्रता होती है।

पीटर एच० मर्कल ने अपनी पुस्तक 'पॉलिटिकल कण्टीन्यूटी एण्ड चेन्ज' में उदार लोकतंत्र के चार लक्षणों को आधारभूत माना है (1) विचार-विमर्श द्वारा शासन (2) बहुमत का शासन (3) अल्पसंख्याकों के अधिकारों को मान्यता (4) संविधानिक सरकार।

लोकतंत्र विशेषताएं-

लोकतंत्र के परम्परागत उदारवादी दृष्टिकोण की विशेषताएं निम्नांकित हैं-

-
- (1) व्यक्ति एक राजनीतिक प्राणी है। उसमें विवेक होता है जिससे वह अपना हित-अहित में सोचने की क्षमता को रखता है। इस आधार से सब व्यक्ति समान है।
 - (2) शासन का संचालन जनता द्वारा होना चाहिए। शासन कार्यों में जनता अवश्य भागेदारी ले। इससे व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है।
 - (3) जनता निर्वाचन प्रणाली के द्वारा चुनाव में अपने प्रतिनिधियों को चुनकर उनको नियंत्रित करते हुए शासन के कार्यों में हिस्सा ले सकती है। सरकार का निर्माण बहुमत द्वारा ही होना चाहिए तथा जनता की इच्छा सरकार की शक्ति का आधार हो।
 - (4) प्रतिनिधियों को सदैव इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि राजनीतिक सत्ता जनता की अमानत है अतः उसे हमेशा जनहित तथा सामान्य कल्याण सम्बन्धी निर्णय लेने चाहिए।
 - (5) लोकतंत्र का उद्देश्य सामान्यहित का संरक्षण करना एवं व्यक्ति का सर्वांगीण विकास करना होना चाहिए।
 - (6) लोकतंत्रीय सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी रहे। जनता का सरकार पर नियंत्रण अवश्य स्थापित हो।
 - (7) सरकार सीमित होनी चाहिए।
 - (8) सरकार का मुख्य कर्तव्य जनता के अधिकारों की रक्षा करना है। जनता को अधिक से अधिक शिक्षित होना चाहिए तभी वह जागृत रखकर अपने अधिकारों की रक्षा करने में समर्थ हो सकती है।
 - (9) जनता को वाद-विवाद, लिखने-बोलने अपने विचारों की अभिव्यक्ति तथा संगठित होकर काम करने के अधिकार की स्वतंत्रता अवश्य होनी चाहिए तथा समय-समय पर राज्य के कार्यों के बारे में जनता को सरकार द्वारा अधिक-से अधिक अवगत कराया जाना चाहिए।
 10. सरकार को जनता की महत्ता को समझकर जनता को सरकार द्वारा पूरी इज्जत दी जानी चाहिए।

मूल्यांकन –

अन्य सिद्धान्तों की भांति लोकतंत्र का यह परम्परावादी व प्रतिष्ठित सिद्धान्त भी आलोचनाओं से घिरा हुआ है। सुम्पीटर ने इस सिद्धान्त की आलोचना की। सुम्पीटर ने इस सन्दर्भ में कहा कि सामान्य हित या सामान्य इच्छा का पता लगा पाना असंभव है।” इस सिद्धान्त के अन्य दोष निम्नवत हैं--

1. राजनीतिक समानता जैसी कोई वस्तु नहीं होती। प्रत्येक समाज में विशिष्ट वर्ग का अस्तित्व सदैव मुक्त बना रहता है।
2. राजनीति में जनता की भागेदारी लोकतन्त्र को सफल नहीं बनाती। बल्कि उसे असफल बना देती है जिससे लोकतन्त्र भीड़तन्त्र में परिवर्तित हो जाता है।
3. यह सिद्धान्त लोकतन्त्र में व्यक्ति की भूमिका को महत्वपूर्ण मानता है तथा सम्पूर्ण व्यवस्था के सन्तुलन पर ध्यान नहीं देता।
4. इसे अव्यावहारिक एवं काल्पनिक कहा गया क्योंकि इस सिद्धान्त की मान्यता है कि व्यक्ति सरकार द्वारा नीति-निर्धारण की जटिल प्रक्रियाओं में सक्रिय योगदान कर सकता है जबकि साधारण व्यक्ति नीति निर्धारण जैसी जटिल प्रक्रिया को नहीं समझ सकता।
5. यह सिद्धान्त कोरा आदर्शवादी सिद्धान्त है क्योंकि यह जीवन की वास्तविकताओं पर ध्यान नहीं देता है।

इन दोषों के कारण ही लोकतन्त्र के इस सिद्धान्त को अनेक लेखकों ने संशोधित कर विशिष्टवर्गीय तथा बहुलवादी सिद्धान्तों का निरूपण किया है।

14.2.2 लोकतंत्र का बहुलवादी सिद्धान्त

लोकतंत्र का बहुलवादी सिद्धान्त लोकतंत्र के विशिष्ट वर्गवादी सिद्धान्त के साथ निकटता से संलग्न है। जोसेफ शुम्पीटर और रेमोंद आरों जैसे विचारकों ने उदार समाज में विशिष्ट वर्गों की बहुलता की चर्चा की थी। इस दृष्टि से उनके चिंतन में लोकतंत्र के बहुलवादी सिद्धान्त की ओर रूझान का संकेत मिलता है।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही यह स्वीकार किया जाने लगा था कि राजनीति में व्यक्ति अकेला नहीं, बल्कि समान हितों वाली संस्थाओं एवं समूहों के माध्यम से भाग लेता है। इसके साथ ही सरकारी निर्णयों में सम्पूर्ण समाज के विभिन्न दवाब समूहों की भूमिका को भी महत्वपूर्ण माना गया। एफ.ए.बेंटली ने 'द प्रॉसेस ऑफ गवर्नमेंट(शासन प्रक्रिया) 1908 में यह विचार व्यक्त किया कि लोकतंत्र एक प्रकार का राजनीतिक खेल है जिसमें भिन्न-भिन्न तरह के समूह भाग लेते हैं। इसके पश्चात् डेविड टूमैन ने 'द गवर्नमेंटल प्रासेस (शासकीय प्रक्रिया) 1951 में यह व्याख्या प्रस्तुत की कि लोकतंत्रीय सरकार सार्वजनिक दवाब का केन्द्र-बिन्दु होती है, इसका मुख्य कार्य ऐसी नीतियों का निर्माण करना है जिनमें इन समूहों की सबसे प्रमुख सामान्य माँग की झलक मिलती है। टूमैन ने इस

पुस्तक में बहुलवादी समाजों की राजनीति में विभिन्न गैर-राजनीतिक सामाजिक-आर्थिक समूहों की भूमिका को सराहा और इन्हें लोकतंत्र के स्वरूप को बनाए रखने में सहायक माना।

समकालीन राजनीति सिद्धान्त के अन्तर्गत रॉबर्ट डॉल ने अपनी पुस्तक 'ए प्रिंसेस टू डेमोक्रेटिक थ्योरी' में लोकतंत्रीय प्रक्रिया के ऐसे प्रतिरूप को जन्म दिया है जिसे उसने बहुलतंत्र कहा है। इस संकल्पना के अनुसार लोकतंत्रीय समाज में नीति निर्माण की प्रक्रिया वाह्य रूप से देखने में चाहे कितनी ही केन्द्रीकृत क्यों न प्रतीत हो वास्तव में यह अत्यन्त विकेन्द्रीकृत प्रक्रिया है। इसके अन्तर्गत अनेक स्वायत्त समूह आपस में परस्पर समझौता या सौदेबाजी करते हैं। अतः सार्वजनिक नीति उन सब समूहों की परस्पर क्रिया का परिणाम होती है जो उससे सम्बन्ध रखने वाले विषय में अभिरूचि का दावा करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार नीति-निर्माण में सरकार की भूमिका बहुत कम रह जाती है। क्योंकि वह विभिन्न स्वायत्त समूह को केवल सहमति की स्थिति तक पहुँचने में सहायता प्रदान करती है।

लोकतंत्र के बहुलवादी सिद्धान्त की एक मुख्य विशेषता यह है कि इस सिद्धान्त के अनुसार राजनीति में विशिष्ट वर्ग की भूमिका का महत्व घट जाता है।

सिद्धान्त के आधार:- इस सिद्धान्त के प्रमुख आधार निम्नवत हैं-

- (1) इस सिद्धान्त का पहला आधार यही है कि व्यक्ति राजनीति में हिस्सा संस्थाओं एवं सगठनों के माध्यम से लेता है।
- (2) सरकार के विभिन्न अंगों व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका में सत्ता का विभाजन होना चाहिए तथा सरकार के प्रत्येक अंग ऐसी स्थिति में होने चाहिए कि वह दूसरे पर अंकुश ला सकें।
- (3) लोकतंत्र के बहुलवादी सिद्धान्त का एक आधार यह है कि जन साधारण को राज्य की अवज्ञा का अनुपालन करना चाहिए क्योंकि राजनीति निर्धारण में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है।
- (4) सरकार व जनता के मध्य दूरी को कम करने के लिए विभिन्न जन सगठनों को महत्व दिया जाना चाहिए।

सिद्धान्त का मूल्यांकन:- लोकतंत्र का बहुलवादी सिद्धान्त लोकतंत्र के परम्परावादी सिद्धान्त एवं लोकतंत्र के विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त का समिश्रण है। इन सिद्धान्तों की तुलना में यह सिद्धान्त अधिक प्रगतिशील एवं आशाजनक है। इस सिद्धान्त की आलोचना विभिन्न आधारों पर की गई है। इसमें मुख्य एवं पहला आधार यह है कि यह सिद्धान्त दवाब की राजनीति को बढ़ावा देता है जिसके फलस्वरूप सरकार कमजोर हो रही है क्योंकि सरकार दृढ़ नीतियों को बनाने तथा महत्वपूर्ण निर्णय

लेने में सक्षम नहीं रहती। अपनी खामियों को छिपाने के लिए सरकार को विभिन्न दवाब समूहों के प्रति समझौतावादी रवैया अपनाना पड़ता है। दूसरा यह सिद्धान्त व्यक्ति के नैतिक मूल्यों और विवेकशील प्रकृति को मान्यता नहीं देता तथा व्यक्ति को सगठनों एवं समूहों के सदस्य के रूप में मान्यता देता है।

14.2.3 मार्क्सवादी दृष्टिकोण

उदारवादी और मार्क्सवादी दृष्टिकोण दोनों ही 'लोकतंत्र का समर्थन करते हैं। दोनों ही लोकतंत्र को जनता का शासन मानते हैं और इस धारणा को स्वीकार करते हैं कि जनता को शासन चलाने का अधिकार मिलना चाहिए। किन्तु जब व्यवहार के धरातल पर शासन चलाने की बात आती है तो दोनों में मतभेद पाया जाता है। मार्क्सवाद के समर्थक, लोकतंत्र के सिद्धान्त या लक्ष्य को प्रमुख ध्यान देते हैं। इसकी मुख्य वजह यह है कि शासन जनसाधारण के हित में कार्य करे उसमें जनता का शोषण न हो और यह तभी सम्भव हो सकता है जब समाज धनवान और निर्धन वर्गों में बटाँ न रहे।

दूसरे शब्दों में, उदारवादी विचारक लोकतंत्र और पूंजीवाद की संस्थाओं में कोई विरोध नहीं देखते हैं। परन्तु मार्क्सवादी विचारक समाज की आर्थिक संरचना को सरे सामाजिक सम्बन्धों का आधार मानते हुए यह तर्क देते हैं कि जब तक समाज की संरचना लोकतंत्रीय नहीं होगी, तब तक राजनीतिक स्तर पर लोकतंत्र केवल आडंबर बना रहेगा। अतः वे लोकतंत्र की सार्थकता के लिए समाजवाद को अनिवार्य समझते हैं। वे उदार लोकतंत्र का बुर्जुवा लोकतंत्र की संज्ञा देते हैं।

लोकतंत्र की मार्क्सवादी आलोचना:- (1) उदार लोकतंत्र केवल पूंजीपति वर्ग के हितों की रक्षा करता है। क्योंकि उदार लोकतंत्र की राजनीतिक संस्थाएं पूंजीवाद की नींव पर टिकी होती हैं। पूंजीवादी व्यवस्था पूंजीपति वर्ग के हितों को बढ़ावा देती है और उसमें कामगारों की निरन्तर

शोषण होता है अतः उदार लोकतंत्र की राजनीतिक संस्थाएं भी पूंजीपति वर्ग के हितों को बढ़ावा देती हैं। उदार लोकतंत्र 'सबके हित का साधन का आडंबर रचाकर केवल पूंजीपति वर्ग का हित साधन करने वाली संस्थाओं, नियमों, कानूनों इत्यादि का वैधता प्रदान करता है। लोकतंत्र के अन्तर्गत आर्थिक शक्ति के साथ-साथ विचारधारात्मक शक्ति भी पूंजीपति वर्ग के हाथ में होती है। अतः कामगार वर्ग के शोषण को रोकने का कोई उपाय नहीं रह जाता।

(2) उदार लोकतंत्र समाज के वर्ग विभाजन को स्थायित्व प्रदान करता है क्योंकि जब समाज 'धनवान' और 'निर्धन' वर्गों में बटाँ रहता है तो उदार लोकतंत्र इस आर्थिक विभाजन को स्थायित्व प्रदान करने के लिए तत्पर रहता है। वह बुजुर्वा समाज के उन मूल्यों को बढ़ावा देता है जो समाज के आर्थिक विभाजन को वैधता और मान्यता प्रदान करते हैं, लेनिन ने लिखा है 'पूंजीवादी समाज का लोकतंत्र

मुड़ी-भर लोगों का लोकतंत्र है, यह धनवान लोगों का लोकतंत्र है, मार्क्स ने पूँजीवादी लोकतंत्र के सार-तत्व को बहुत अच्छी तरह समझा है क्योंकि उसने लिखा है कि इसमें शोषित वर्गों को कुछ वर्षों के अंतराल से यह निर्णय करने की अनुमति दी जाती है कि शोषक वर्गों के कौन-कौन से प्रतिनिधि संसद में जाकर उनका प्रतिनिधित्व और दमन करेंगे।

अतः मार्क्सवाद के अनुसार उदार लोकतंत्र की संस्थाएं वर्ग-शोषण की परम्परा को तोड़ने में असमर्थ है इसके विपरीत यह ऐसा साधन है जो शोषक वर्ग को निरन्तर सतारूढ़ रखने में सहायता देता है ताकि वह लगातार अपनी स्वार्थपूर्ति करता है।

14.3 लोकतन्त्र का विशिष्टवर्गवादी सिद्धान्त

लोकतन्त्र का विशिष्ट वर्गवादी सिद्धान्त मूल रूप से समाजशास्त्र के क्षेत्र में व्याख्या देने हेतु विकसित किया गया है इसके द्वारा यह बोध होता है कि समाजिक संगठन के अन्दर व्यक्ति किस तरह का व्यवहार करते हैं ? बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दौर में इटली के दो सुविख्यात समाज वैज्ञानिकों- विल्फ्रेड पैरेटो (1376-1923) और गीतनो मोस्का (1358-1941) ने यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि किसी भी समाज या संगठन का अन्तर्गत प्रमुख निर्णय सिर्फ गिने-चुने लोग ही करते हैं, चाहे उस संगठन का बाहरी रूप कैसा भी क्यों न हो। “इसी सन्दर्भ में एक ओर जर्मन समाजवैज्ञानिक राबर्ट मिशेल्स (1376-19369) ने ‘अल्पतन्त्र का लौह नियम’ का प्रतिपादन करते हुए यह विचार व्यक्त किया कि अधिकांश व्यक्ति स्वभाव से जड़, आलसी और दबू प्रवृत्ति वाले होते हैं जो अपना शासन स्वयं चलाने में असमर्थ होते हैं। इसलिए नेतागढ़ अपनी वाकपटुता, अनुनय-विनय आदि के बल पर लोगों की भावनाओं से खिलवाड़ करके सत्ता पर अधिकार स्थापित कर लेते हैं। समाज में चाहे कोई भी शासन प्रणाली क्यों न अपनाई जाए, वह अवश्य ही अल्पतन्त्र या गिने-चुने लोगों के शासन का रूप धारण कर लेती है। इन समाज वैज्ञानिक सिद्धान्तों ने लोकतन्त्र की सम्भावनाओं को चुनौती दी तथा इस समस्या पर नये सिरे से विचार करने की प्रेरणा दी है। अनेक राजनीतिशास्त्रियों ने इस चुनौती को स्वीकार करते हुए उदार लोकतन्त्र की अभिनव व्याख्या पेश की जिसमें विशिष्टवर्गीय सिद्धान्त को उपयुक्त स्थान दिया गया। इन लेखकों के द्वारा जो विचार प्रस्तुत किये गये हैं, उन्हें सामूहिक रूप से ‘लोकतन्त्र का विशिष्टवर्गवादी सिद्धान्त’ कहकर सम्बोधित किया जाता है। इनमें जोसफ ए०शू०पीटर, आरो, सारटोरी, मैन्हाइम के विचार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सभी के मतों का पृथक-पृथक उल्लेख निम्नवत है।

1.मैन्हाइम के विचार

कार्ल मैन्हाइम ने अपनी विख्यात कृति 'आइडियोलोजी एंड यूटेपिया: इन इंटोडक्शन टू द सोशयोलोजी ऑफ नॉल्लिज' विचारधारा और कल्पनालोक, ज्ञान के समाज विज्ञान का परिचय 1929 में यह लिखा: लोकतन्त्रीय व्यवस्था में जब समाज नीति-निर्माणका कार्य विशिष्ट वर्ग को सौंप देता है तो इस प्रकार का लोकतन्त्रशून्य हो जाता है। जनसाधारण एक निश्चित अन्तराल के पश्चात वोट डालकर अपनी आकाक्षाओं को प्रकट कर देते हैं। अपने मताधिकार के बल पर वे नेताओं को बहुमत के हित में निर्णय करने के लिए बाहय कर सकते हैं। विशिष्टवर्ग के शासन और लोकतन्त्रीय शासन के मध्य सामंजस्य स्थापित के करने के लिए मैन्हाइम ने सुझाव दिया है कि नेताओं का चुनाव योग्यता के आधार पर ही होना चाहिए तथा विशिष्टवर्ग और जनसाधारण के मध्य दूरी कम की जानी चाहिए।

2. जोसेफ ए० शुम्पीटर के विचार

जोसेफ ए० शुम्पीटर ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'कैपिटलिज्म सोशलिज्म एण्ड डेमोक्रेसी' (पूंजीवाद, समाजवाद और लोकतन्त्र) 1942 के अन्तर्गत यह तर्क प्रस्तुत किया कि किसी भी शासन पद्धति की पहचान उसकी संस्थाओं से होती है जिसमें यह देखा जाता है तथा उन्हें अपने पद से कैसे हटाया जाता है। इस दृष्टि से लोकतन्त्रीय प्रणाली अन्य शासन प्रणालियों से अपनी अलग पहचान बनाती है। यह बात एक कटु सत्य है कि लोकतन्त्र में राजनीतिक निर्णय 'नेताओं के द्वारा किये जाते हैं, जनसाधारण के द्वारा नहीं किये जाते हैं परन्तु जनसाधारण से वोट प्राप्त करने के लिए वहां नेताओं में खुली प्रतियोगिता होती है। अतः अन्य शासन प्रणालियों की अपेक्षा लोकतन्त्र की विशेषता यह है कि इसमें राजनीतिकनेता असीम सत्ता का प्रयोग नहीं कर सकते। इसके विपरीत, यहां नेता राजनीतिक बाजार में अधिकाधिक ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए अधिक से अधिक आकर्षक नीतियों एवं कार्यक्रमों को पेश करने की चेष्टा करते हैं। इस तरह लोकतन्त्र में जनसाधारण को अपनी पसन्द की नीतिया एवं कार्यक्रम को चुनने का अवसर प्राप्त हो जाता है। अन्य शासन प्रणालियों में यह सम्भव नहीं है।

3.रेमण्ड आरों का विचार

रेमण्ड आरों ने अपनी पुस्तक 'सोशल स्टक्चर एंड द रूलिंग क्लास' समाजिक संरचना और अन्य शासक-वर्ग 1950के अन्तर्गत यह तर्क प्रस्तुत किया कि लोकतन्त्र और शासन –पद्धतिओ के विशिष्ट वर्गों के मूलभूत अन्तर देखने को मिलता है। सोवियत प्रणाली और लोकतन्त्र में अन्तर करते हुए आरों ने लिखा है कि जहां सोवियत तरह के समाज में एक ही विशिष्ट वर्ग को शासन में एकाधिकार प्राप्त होता है' उदार लोकतन्त्रमें इस प्रकार का नहीं होता यहा विशिष्ट वर्ग की बहुलता तथा शासन में नियन्त्रण एवं संन्तुलन की ऐसी व्यवस्था पाई जाती है जिसमें यहाँ असीम सत्ता का प्रयोग सभव नहीं

होता। उदार लोकतन्त्र में सम्पूर्ण शासन लोगों के सुलह-समझौते के आधार पर चलता है और शासक सदैव यह महसूस करते रहते हैं जब तक वे जनमत का आदर करते रहेगे कि जब तक वे जनमत के प्रति संवेदनशील रहेंगे, और जब तक वे जनता के दिल से जगह बना सकेंगे। तभी तक वे सत्ता में रह सकेंगे। अन्यथा कोई दूसरा विशिष्ट वर्ग उनका स्थान सभालने के लिए निरन्तर तत्पर रहता है।

4. सारटोरी के विचार

ज्योवानी सारटोरी ने अपनी चर्चित पुस्तक 'डेमोक्रेटिक थ्योरी लोकतन्त्रीय सिद्धान्त' 1958 के अन्तर्गत यह तर्क दिया कि लोकतन्त्रीय व्यवस्था के अन्तर्गत विशिष्ट वर्ग महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। यह विशिष्ट वर्ग चुनाव के क्षेत्र में उतरकर परस्पर संघर्ष करते हैं। विशिष्ट वर्ग के अस्तित्व को लोकतन्त्र की अपूर्णता कदापि नहीं समझना चाहिए। चूंकि जनसाधारण अपने आप शासन चलाने में असमर्थ होते हैं इसलिए शासन सचमुच सुयोग्य नेताओं का कार्य है। अगर व्यक्तियों को सही नेतृत्व नहीं मिलेगा तो लोकतंत्र विरोधी विशिष्ट वर्ग उन्हें पथभ्रष्ट कर देगा। सारटोरी ने लोकतंत्र के अन्तर्गत नेताओं की भूमिका को विशेष महत्व प्रदान किया। उसके शब्दों में नेताओं को जनसाधारण की शिक्षा की जिम्मेदारी भी संभालनी चाहिए, क्योंकि जनसाधारण स्वयं उतना प्रबुद्ध नहीं होते।

लोकतंत्र के विशिष्ट वर्गीय दृष्टिकोण के लक्षण निम्नलिखित हैं:-

- (1) सरकार 'जनता के द्वारा' नहीं हो सकती, 'जनता के लिए' हो सकती है।
- (2) लोकतंत्र वह है जहां जनता केवल चुनाव के द्वारा अपने विशिष्ट वर्ग को चुनती है।
- (3) बिना विशिष्ट वर्ग के प्रजातंत्र नहीं हो सकता, केवल भीड़तंत्र हो सकता है।
- (4) राजनीतिक निर्णय लेने का कार्य केवल विशिष्ट वर्ग का है, आम जनता का नहीं।

विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त की विशेषताएं-लोकतंत्र की सफलता के लिए विशिष्ट वर्ग में निम्नांकित विशेषताएं होनी चाहिए:-

1. लोकतांत्रिक मूल्यों तथा लोकतंत्र के खेल में विशिष्ट वर्गों का विश्वास एवं आस्था।
2. विशिष्ट वर्ग की नियुक्ति समाज के विभिन्न वर्गों, में से होनी चाहिए।
3. जनता विशिष्ट वर्ग के मामलों में अधिक हस्तक्षेप न करें।
4. विशिष्ट वर्ग को योग्यता एवं अनुभव अच्छा होना चाहिए।

5. विशिष्ट वर्गों की जनता से अधिक पूरी न हो, बल्कि उनमें आपसी तालमेल तथा विचारों का आदन-प्रदान बन रहे।

6. विशिष्ट वर्गों में सत्ता के लिए प्रतियोगिता हो जो चुनाव के द्वारा ही व्यक्त हो।

7. विशिष्ट वर्ग को विस्तृत होना चाहिए ताकि योग्य एवं क्षमतावान, व्यक्ति इसमें प्रवेश पा सके।

14.3.1 विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त का मूल्यांकन

लोकतंत्र का विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त व्यावहारिक रूप में सत्य के नजदीक होने के कारण महत्वपूर्ण है। किन्तु फिर भी इसके प्रमुख आलोचक हुए जिनमें डकन तथा ल्यूक्स, डेविस, बाटमोर, गोल्ड स्मिथ, वाकट, बैकरेक, पैट्समेन, प्लामनाज आदि ने इस सिद्धान्त की आलोचना निम्नलिखित आधार पर की-

- (1) यह सिद्धान्त अपना विश्वास जनता में रखकर नेताओं के विशिष्ट वर्ग में रखता है। जिस कारण यह लोकतंत्र को जनसाधारण से दूर रखना चाहता है।
- (2) यह सिद्धान्त रूढ़िवादी है। यह सिद्धान्त परिवर्तन का विरोधी है तथा मौजूदा व्यवस्था का समर्थक है।
- (3) यह सिद्धान्त, लोकतंत्र का उद्देश्य मानव का विकास तथा कल्याण न मानकर मानव का उद्देश्य लोकतंत्र का स्थायित्व तथा कार्य-कुशलता मान लेता है।
- (4) यह सिद्धान्त लोकतंत्र को राजनीतिक व्यवस्था मात्र स्वीकार करता है तथा इसके महत्वपूर्ण पहलू सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक को नजर अंदाज कर देता है।
- (5) यह सिद्धान्त विचारधारा एवं मूल्यों को महत्वपूर्ण नहीं मानता।
- (6) यह सिद्धान्त नेताओं को विशेष महत्व देता है तथा सफल लोकतंत्र के लिए अच्छी जनता को इतना महत्वपूर्ण नहीं मानता जितना कि अच्छे नेताओं का।
- (7) यह सिद्धान्त राजनीतिक समानता का विरोधी है तथा असमानताओं का मूलभूत मानना है।
- (8) विशिष्ट वर्ग की उच्च योग्यता का आधार क्या होना चाहिए इस विषय ने यह सिद्धान्त पूर्णतः अस्पष्ट है।

(9) यह सिद्धान्त जनमत को नगण्य मानता है तथा इस बात से इनकार करता है कि जनमत सरकार को बनाता है। इसके विपरीत यह साबित करने की कोशिश करता है कि सरकार एवं शासक विशिष्ट वर्ग ही जनमत को तैयार करते हैं।

(10) यह सिद्धान्त जनता के प्रति सरकार के उत्तरदायित्व को स्वीकार करता है, क्योंकि सक्रिय, योग्य, क्षमतावान विशिष्ट वर्ग के लोग अयोग्य तथा निष्क्रिय मतदाताओं के प्रति उत्तरदायी कैसे हो सकते हैं?

अभ्यास प्रश्न-

- 1- इटली तथा जर्मनी मित्र राष्ट्र थे। सत्य/ असत्य
- 2-अमेरिका ब्रिटेन और फ्रांस धुरी राष्ट्र थे। सत्य/ असत्य
- 3-यूनानी शब्द डेमोस का अर्थ क्या है?
- 4-लोकतन्त्र जनता का जनता के द्वारा और जनता के लिए स्थापित शासन है।
- 5-लोकतन्त्र जीवन जीने का ढंग है। किसने कहा है?
- 6-अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख का सिद्धान्त किसने दिया।
- 7-अल्पतन्त्र का लौह नियम किसने प्रतिपादित किया है।

14.4 सारांश

इस इकाई में हमने लोकतंत्र के अर्थ, विशेषता उसके विभिन्न सिद्धांत इसके गुण, और साथ में विकासशील देशों लोकतंत्र के सञ्चालन में आने वाली समस्याओं का भी अध्ययन किया है। जिसमें पाया कि विश्व के सभी राष्ट्र चाहे उनकी शासन पद्धतियां कुछ भी क्यों न हो अपने को लोकतन्त्र की ही संज्ञान देते हैं। प्रायः प्रत्येक राजनीतिक पद्धति लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों को अपना रही है। सत्ता में जनसहभागिता सुनिश्चित करने वाली यह व्यवस्था सार्वजनिक संप्रभुता की द्योतक है।

वर्तमान युग को लोकतंत्र का युग माना जाता है। किन्तु आज लोकतंत्र चारों ओर से चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। स्पष्ट होता है कि जो परिस्थितियां लोकतंत्रात्मक प्रणाली के मजबूती में सहायक है वो नहीं मिल पाने के कारण लोकतंत्र के मूल्यों सुरक्षित रखने और उन्हें व्यवहार में प्रत्येक मनुष्य के लिए अर्थपूर्ण बनाने में अनेक कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है। अतः लोकतांत्रिक समाज में इन जटिलताओं के कारण लोकतंत्र की सफलता की आवश्यक शर्तों को सर्वमान्य ढंग से लागू करना सम्भव नहीं।

14.5. शब्दावली

डेमोस -- जनता

लोकतन्त्र का विशिष्ट वर्गवादी सिद्धान्त -- इसके द्वारा यह बोध होता है कि किसी भी समाज या संगठन का अन्तर्गत प्रमुख निर्णय सिर्फ गिने-चुने लोग ही करते हैं, चाहे उस संगठन का बाहरी रूप कैसा भी क्यों न हो।

लोकतंत्र का बहुलवादी सिद्धान्त-- बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही यह स्वीकार किया जाने लगा था कि राजनीति में व्यक्ति अकेला नहीं, बल्कि समान हितों वाली संस्थाओं एवं समूहों के माध्यम से भाग लेता है। इस सिद्धांत के अनुसार लोकतंत्र एक प्रकार का राजनीतिक खेल है जिसमें भिन्न-भिन्न तरह के समूह भाग लेते हैं।

14.6. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. असत्य 2. असत्य 3. जनता 4. अब्राहम लिंकन 5. बेनी प्रसाद 6. बेन्थम 7. राबर्ट मिशेल्स

14.7. संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. लास्की -----द प्रॉब्लम्स आफ सावरिन्टी
2. हेसिये ----पॉलिटिकल प्लूरैलिज्म
3. ज्ञान सिंह सन्धु -- राजनीति के सिद्धान्त, ग्रन्थ विकास, जयपुर
4. डॉ0वी0एल साह व डॉ नीता बोरा, राजनीतिक विज्ञान का परिचय, अंकित प्रकाशन हल्द्वानी।
5. ओम प्रकाश गाबा, राजनीतिक सिद्धान्त की रूपरेखा, मजूर पे परबैम्स नोएडा।
6. डॉ पुष्पेश पाण्डे व डॉ विजय प्रकाश पन्त, राजनीतिक सिद्धान्त, जगदम्बा पब्लिसिंग कम्पनी नई दिल्ली।

14.8. सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. राजनीति के सिद्धान्त, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय
- 2- जे0सी0जौहरी एवं सीमा चौधरी ----आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, स्टर्लिंग पब्लिकेशन प्रा0 लि0 नयी दिल्ली

14.9. निबन्धात्मक प्रश्न

1. लोकतंत्र से आप क्या समझते हैं ? विकासशील देशों में लोकतंत्र की समस्याओं की विवेचना कीजिये ?
2. लोकतंत्र के विभिन्न सिद्धांतों की विवेचना कीजिये ?